Drenched Book

TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178098

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 891.431 S 50 K   Accession No. H 3542

Author सिंह, विजयपाल

Title केशव और उनका साहित्य 1961

This book should be returned on or before the date last marked below.

केशव और उनका साहित्य

डा० विजयपालसिंह
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य	:	बारह रुपये
प्रथम संस्करण	:	मई, १९६१
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

आभार

प्रस्तुत ग्रंथ मेरे पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का यत्किञ्चित् परिवर्तित मुद्रित स्वरूप है। इस प्रयास के पूर्ण होने में जिन विद्वानों, सज्जनों, आत्मीय जनों, आलोचकों एवं कवियों की कृतियों से सहायता मिली है, उन सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। विशेषतः गुरुवर प्रो० जगन्नाथजी तिवारी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आगरा कालिज, आगरा के वात्सल्य एवं आशीर्वाद का मैं चिर आभारी हूं, जिनकी स्फूर्तिमयी सतत प्रेरणा से मैं केशव के अध्ययन मे प्रवृत्त हो सका। साथ ही श्रद्धेय डा० हरवंशलालजी शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्व-विद्यालय, अलीगढ़ का मैं अत्यन्त आभारी हूं, जिनके पथप्रदर्शन, प्रोत्साहन एवं स्नेह से यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो सका। इनके अतिरिक्त डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी, डा० नगेन्द्र-जी तथा डा० सत्येन्द्रजी से भी समय-समय पर सत्परामर्श लेता रहा हूं। अतः इनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूं। डा० विजयेन्द्रजी स्नातक, डा० ओमप्रकाशजी तथा डा० प्रेमस्वरूपजी गुप्त ने मेरी बहमुखी सहायता की है, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण मैं इनके प्रति आभार प्रकट करने का साहस भी नहीं कर सकता। साथ ही इस ग्रंथ को प्रकाश में लानेवाले राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली के व्यव-स्थापकों के प्रति आभार प्रकट न करूं तो क्या उचित होगा ?

अपनी समस्त भूलों, त्रुटियों एवं न्यूनताओं के साथ भी यदि प्रस्तुत ग्रंथ से सहृ-दय एवं सुधी पाठकों को कुछ परितोष हो सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगा।

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

—विजयपालसिंह

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

तिरुपति (आंध्र)
रामनवमी सं० २०१८
२५ मार्च, १९६१

पूज्य पितृदेव

श्री निहालसिंहजी

को

सादर सभक्ति समर्पित

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन १–५

प्रथम परिच्छेद

केशव का जीवन-वृत्त ६–६२

१. **केशव की कृतियों में उपलब्ध जीवन-सम्बन्धी सामग्री** ... ७
रतनबावनी ... ७
रसिकप्रिय ... ७
कविप्रिया ... ८
रामचन्द्रिका ... १०
वीरसिंहदेवचरित ... ११
विज्ञानगीता ... १२
विवेचन ... १२
निष्कर्ष ... १५
२. **केशव का उल्लेख करनेवाली अन्य रचनाएं** ... १६
मूल गोसाईंचरित ... १६
कामरूप की कथा ... १७
वैराग्यशतक अथवा देवशतक ... १८
जनश्रुतियां ... १९
ऐतिहासिक ग्रंथ ... २३
खोज-रिपोर्ट—हिन्दी-साहित्य के इतिहास ... २४
(क) खोज-रिपोर्ट ... २४
(ख) शिवसिंह सरोज ... २४
(ग) मिश्रबन्धु विनोद ... २५
(घ) हिन्दी नवरत्न ... २५
(ङ) हिन्दी साहित्य (डा० श्यामसुन्दरदास) ... २५
(च) हिन्दी साहित्य का इतिहास (आ० रामचंद्र शुक्ल) २५
(छ) हिन्दी के कवि और काव्य ... २५

(ज) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास ... २६
(झ) हिन्दी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी) ... २६
(ञ) आलोचनात्मक ग्रंथ ... २७
३. **जन्मतिथि** ... ३१
४. **निवास-स्थान एवं काव्यक्षेत्र** ... ३३
५. **नाम** ... ३५
६. **जाति** ... ३६
७. **वंश-परिचय** ... ३७
८. **केशव का गुरुत्व** ... ३९
९. **केशव के आश्रयदाता** ... ४१
इन्द्रजीतसिंह ... ४६
वीरसिंहदेव ... ४६
१०. **केशव एवं बिहारी** ... ४९
११. **कुछ विशिष्ट व्यक्तियों से केशव का सम्बन्ध** ... ५५
बीरबल ... ५५
राय-प्रवीण ... ५५
रहीम ... ५५
टोडरमल ... ५६
पतिराम ... ५६
कामसेना ... ५६
चन्द्र ... ५७
विट्ठलनाथ गोस्वामी ... ५७
१२. **शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान** ... ५७
१३. **स्वभाव एवं चरित्र** ... ५९
१४. **निधन** ... ६१

द्वितीय परिच्छेद

केशव की रचनाएं ६३–९१

१. **केशव की रचनाएं** ... ६३
रतनबावनी ... ६४
रसिकप्रिया ... ६४
(क) खोज-रिपोर्ट ... ६४
(ख) रसिकप्रिया की टीकाएं ... ६७
नखशिख ... ६८
रामचन्द्रिका ... ६९

(क) खोज-रिपोर्ट ... ६९
(ख) रामचन्द्रिका की टीकाएं ... ७१
कविप्रिया ... ७१
(क) खोज-रिपोर्ट ... ७१
(ख) कविप्रिया की टीकाएं ... ७५
छन्दमाला ... ७७
वीरसिंहदेवचरित ... ७८
विज्ञानगीता ... ८१
जहांगीर-जस-चन्द्रिका ... ८४
२. संदिग्ध रचनाएं ... ८५
रामालंकृतमंजरी ... ८५
अमीघूंट ... ८६
जैमिनि की कथा ... ८७
हनुमान जन्मलीला ... ८८
बालि-चरित्र ... ८८
आनन्दलहरी ... ८८
रसललित ... ८९
कृष्णलीला ... ८९
संगीत-रत्नाकर पर भाष्य ... ९०

तृतीय परिच्छेद

केशवकालीन परिस्थितियां ९२–११६

१. पूर्वपीठिका ... ९२
राजनीतिक ... ९२
सामाजिक ... ९५
धार्मिक ... ९५
रामानुजाचार्य का श्रीसम्प्रदाय ... ९७
आचार्य रामानन्द ... ९७
दत्तात्रेयसम्प्रदाय ... ९८
मध्वाचार्य और मध्वसम्प्रदाय ... ९८
विष्णुस्वामीसम्प्रदाय ... १००
निम्बार्कसम्प्रदाय ... १००
वल्लभसम्प्रदाय ... १०१
राधावल्लभ सम्प्रदाय ... १०२

चैतन्यसम्प्रदाय ... १०३

हरिदासी या सखीसम्प्रदाय ... १०४

२. **तत्कालीन समाज और संस्कृति का केशव के काव्य में प्रतिबिम्ब** ... १०५

(क) राजनीतिक ... १०५

(ख) सामाजिक ... १०६

(ग) धार्मिक ... १०७

(घ) सांस्कृतिक ... १०८

३. **हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां एवं केशव** ... १०९

(क) आदिकालीन परिस्थितियां ... १०९

(ख) भक्तिकालीन प्रवृत्तियां ... १११

४. **संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा एवं केशव** ... १११

(क) रससम्प्रदाय ... ११२

(ख) अलंकारसम्प्रदाय ... ११३

(ग) रीतिसम्प्रदाय ... ११४

(घ) वक्रोक्तिसम्प्रदाय ... ११५

(ङ) ध्वनिसम्प्रदाय ... ११५

चतुर्थ परिच्छेद

केशव का जीवन-दर्शन ११७–१३८

१. **जीवन-दर्शन का स्वरूप** ... ११७

२. **दर्शन, भक्ति एवं धर्म का क्षेत्र** ... ११८

३. **केशव का जीवन-दर्शन** ... ११८

४. **अद्वैतवाद** ... ११९

५. **दर्शन** ... १२०

ब्रह्म (निर्गुण) ... १२१

ब्रह्म (सगुण) ... १२२

जीव ... १२४

जीव-भेद ... १२८

अज्ञान की भूमिकाएं ... १२९

ज्ञान की भूमिकाएं ... १२९

मन ... १२९

जगत् ... १३०

माया ... १३१

मुक्ति ... १३२

क्रम-मुक्ति ... १३३

६. भक्ति ... १३४
महत्त्वानुभूति ... १३४
निश्छल आराधना ... १३५
अनन्यता ... १३५
नाम-आधार ... १३५
वर्णाश्रम-निरपेक्षता ... १३५
७. धर्म ... १३६
बाह्याधार ... १३६
ब्राह्मण-पूजा ... १३६
अवतारवाद ... १३७
कृष्णभक्ति ... १३७
८. निष्कर्ष ... १३८

पंचम परिच्छेद

केशव का आचार्यत्व १३९–२४६
१. आचार्यत्व का क्षेत्र ... १३९
रसिकप्रिया—विषयानुक्रमणिका ... १३९
कविप्रिया—विषयानुक्रमणिका ... १४०
छन्दमाला—वर्गीकरण एवं परिचय ... १४२
रसिकप्रिया ... १४३
(क) नायक-भेद ... १४६
(ख) नायिका-भेद ... १४७
कविप्रिया ... १५३
(क) काव्य में दोष ... १५३
(ख) कवि-भेद ... १५६
(ग) कवि-रीतियां ... १५६
(घ) अलंकार-वर्णन ... १५६
२. आचार्यत्व की पृष्ठभूमि ... १५८
३. रस-निरूपण ... १५९
भाव ... १६०
भरतमुनि ... १६१
धनंजय ... १६२
मम्मट ... १६३
विश्वनाथ ... १६३
जगन्नाथ ... १६४

भावों के प्रकार ... १६६
विभाव-लक्षण एवं भेद ... १६८
भरत का लक्षण ... १६९
उद्दीपन विभाव ... १७२
अनुभाव तथा सात्त्विक भाव ... १७३
अनुभाव ... १७३
सात्त्विक भाव ... १७६
स्थायीभाव ... १७७
व्यभिचारीभाव ... १७९
हास्यरस ... १८३
करुणरस ... १८६
रौद्ररस ... १८८
वीररस ... १९०
भयानकरस ... १९०
वीभत्सरस ... १९१
अद्‌भुतरस ... १९२
शमरस ... १९२
४. अलंकार-निरूपण ... १९४
स्वभावोक्ति ... १९५
विभावना ... १९५
सामान्य विभावना ... १९६
अन्य विभावना ... १९६
हेतु ... १९७
विरोधाभास या विरोध ... २०३
विशेष ... २०६
आक्षेप ... २०८
क्रम ... २११
गणना ... २१३
आशी ... २१३
प्रेमालंकार ... २१४
श्लेष ... २१६
सूक्ष्म ... २१८
लेश ... २१८
निदर्शना ... २१८

ऊर्जालंकार ... २१९
रसवदलंकार ... २१९
अर्थान्तरन्यास ... २२१
व्यतिरेक ... २२३
अपह्नुति ... २२४
उक्ति ... २२४
वक्रोक्ति ... २२४
अन्योक्ति ... २२६
व्यधिकरणोक्ति ... २२६
विशेषोक्ति ... २२६
सहोक्ति ... २२६
व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा ... २२७
अमित ... २२८
पर्यायोक्ति ... २२८
युक्त ... २२९
समाहित ... २३०
सुसिद्ध, प्रसिद्ध एवं विपरीत ... २३१
रूपक ... २३२
    अद्भुत रूपक ... २३३
    विरुद्ध रूपक ... २३४
    रूपक-रूपक ... २३५
दीपक ... २३६
    दीपक के भेद ... २३७
प्रहेलिका ... २४१
परिवृत्त ... २४२
उपमा ... २४४

५. **निष्कर्ष** ... २४६

षष्ठ परिच्छेद

केशव की काव्य-कला २४७—३३६

१. **केशव की रस-व्यंजना** ... २४८
रसराजत्व ... २४८
शृंगार का रसराजत्व ... २४८
    (अ) संयोग-शृंगार ... २४९
    (आ) विप्रलम्भ-शृंगार ... २५२

पूर्वराग	...	२५३
मान	...	२५३
करुण	...	२५४
प्रवास	...	२५४
विरह दशाएं	...	२५५
वीररस	...	२५६
रौद्ररस	...	२६०
भयानकरस	...	२६०
बीभत्सरस	...	२६१
करुणरस	...	२६१
हास्यरस	...	२६३
अद्भुतरस	...	२६४
शान्तरस	...	२६४
निष्कर्ष	...	२६५
२. केशव की अलंकार-योजना	...	**२६५**
उत्प्रेक्षा	...	२७२
उपमा	...	२७३
रूपक	...	२७४
संदेह	...	२७५
परिसंख्या	...	२७६
विरोधाभास	...	२७६
अतिशयोक्ति	...	२७७
३. केशव का प्रकृति-चित्रण	...	**२७८**
आलम्बन-रूप में	...	२७९
उद्दीपन-रूप में	...	२८४
उपमान-रूप में	...	२८७
मानव-भावनाओं के रूप में	...	२९०
उपदेशात्मक रूप में	...	२९१
निष्कर्ष	...	२९१
४. केशव की प्रबन्ध-पटुता	...	**२९२**
साहित्य में प्रबन्ध का स्थान	...	२९२
रामचन्द्रिका	...	२९३
वीरसिंहदेवचरित	...	२९६
विज्ञानगीता	...	२९७

जहांगीर-जस-चन्द्रिका ... २६६
रतनबावनी ... ३००
रसिकप्रिया, कविप्रिया एवं छन्दमाला ... ३००
५. केशव का चरित्र-चित्रण ... **३०१**
राम ... ३०२
सीता ... ३०४
लक्ष्मण ... ३०५
भरत ... ३०७
रावण ... ३०७
वीरसिंहदेव ... ३०६
रतनसेन ... ३०६
निष्कर्ष ... ३१०
६. केशव के संवाद ... **३१०**
७. केशव की छन्द-योजना ... **३१६**
छन्दों के प्रकार ... ३१६
केशव की छन्दावली ... ३१७
छन्दों में केशव की मौलिकता ... ३१६
रस एवं भाव के अनुरूप छन्द ... ३२१
८. केशव का भाषाधिकार ... **३२४**
संस्कृत का प्रभाव ... ३२४
बुन्देलखण्डी का प्रभाव ... ३२४
अवधी का प्रभाव ... ३२५
विदेशी शब्दों का प्रयोग ... ३२६
शब्दों की तोड़-मरोड़ ... ३२८
असाधारण शब्दों का प्रयोग ... ३२६
मुहावरे एवं लोकोक्तियां ... ३३०
मुहावरे ... ३३०
लोकोक्तियां ... ३३१
६. ओज, माधुर्य एवं प्रसादगुण ... **३३१**
माधुर्य ... ३३१
ओज ... ३३[illegible]
प्रसाद ... ३३[illegible]
१०. शब्द-शक्तियां ... **३३[illegible]**
११. दोष ... **३३[illegible]**

सप्तम परिच्छेद

केशव का आदान-प्रदान ३३७–३७०

१. आदान ... ३३७

क. रामचन्द्रिका एवं संस्कृत ग्रंथों में भाव-साम्य ... ३३८

(१) प्रसन्नराघव ... ३४०

(२) हनुमन्नाटक ... ३४३

(३) कादम्बरी ... ३४६

(४) नैषधीयचरितम् ... ३४७

(५) मृच्छकटिकम् ... ३४७

(६) अध्यात्मरामायणम् ... ३४८

ख. विज्ञानगीता एवं संस्कृत ग्रंथों में भाव-साम्य ... ३४९

(१) प्रबोधचन्द्रोदय ... ३४९

(२) योगवासिष्ठ ... ३५१

ग. रसिकप्रिया एवं संस्कृत ग्रंथों में भाव-साम्य ... ३५३

(१) साहित्यदर्पण ... ३५३

(२) रसार्णवसुधाकर ... ३५४

(३) अनंगरंग ... ३५४

(४) कामसूत्र ... ३५५

घ. कविप्रिया एवं संस्कृत ग्रंथों में भाव-साम्य ... ३५७

(१) वृत्तरत्नाकर ... ३५७

(२) अलंकारशेखर ... ३५७

(३) काव्यकल्पलतावृत्ति ... ३५८

(४) नीतिशतक ... ३६०

ङ. केशव और उनके पूर्ववर्ती एवं समकालीन हिन्दी-कवि ३६०

(१) जायसी एवं केशव ... ३६०

(२) तुलसी एवं केशव ... ३६१

(३) सूर एवं केशव ... ३६२

२. प्रदान ... ३६३

केशव तथा भूषण ... ३६३

केशव तथा जसवंतसिंह ... ३६४

केशवदास तथा भिखारीदास ... ३६४

केशव तथा मतिराम ... ३६५

केशव तथा देव ... ३६५

केशव तथा पद्माकर ... ३६७

केशव तथा रीतिकाल के अन्य कवि ... ३६८
केशव तथा आधुनिक कवि ... ३६९
निष्कर्ष ... ३७०

अष्टम परिच्छेद

केशव का हिन्दी-साहित्य में स्थान ३७१–३७६

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची ... ३७७
(१) हिन्दी ... ३७७
(२) संस्कृत ... ३७९
(३) अंग्रेज़ी ... ३८०
(४) हस्तलिखित ... ३८१
(५) पत्रिका ... ३८१
(६) रिपोर्ट ... ३८१
नामानुक्रमणिका ... ३८२
ग्रन्थानुक्रमणिका ... ३८८
स्थानानुक्रमणिका ... ३९४
शुद्धिपत्र ... ३९५

महाकवि केशवदास

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग साहित्यिक वैभव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इस युग में कतिपय ऐसे भी कलाकार हुए जिन्होंने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्य की भी पदवी प्राप्त की। उनमें सर्वोच्च स्थान आचार्य केशवदास का है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उन्हीं केशव के साहित्य का वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। समस्त रीतिकाल का साहित्य आचार्यत्व की छाया में पल्लवित हुआ है, विशेषकर केशव का साहित्य तो आचार्यत्व की एक काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही है। अतः केशव के आचार्यत्व एवं कवित्व दोनों ही पक्षों का अलग-अलग विश्लेषण अपेक्षित है।

एक वैज्ञानिक शोध में पूर्वाग्रहों को स्थान नहीं है किन्तु थोड़े-बहुत पूर्वाग्रहों से कोई बच भी कैसे सकता है। मुझमें भी पूर्वाग्रह रहा है किन्तु कुछ भिन्न प्रकार का। अपने विद्यार्थी-जीवन में मैंने केशव की विभिन्न प्रकार की आलोचनाएं पढ़ी थीं। वे सब पढ़कर बुद्धि का भ्रान्ति में पड़ना बड़ा ही स्वाभाविक था। इसी भ्रान्ति ने वास्तविकता की जिज्ञासा की और उसमें हृदय रमा। एक शंका मेरे हृदय में सदा उठती रही है कि केशव के परवर्ती दो सौ वर्षों में केशव का जैसा सम्मान रहा, आधुनिक युग में आकर वह समाप्त क्यों हो गया? यह आश्चर्यजनक बात हुई कैसे? केशव का साहित्य मध्ययुगीन साहित्य है। उसके मानदण्ड आज से सर्वथा भिन्न थे, जो केशव के लगभग दो सौ वर्षों बाद ज्यों के त्यों बने रहे। उन मानदण्डों का हमारी अपेक्षा मध्ययुग को अच्छा अभ्यास था, अधिक परिचय था। वे मानदण्ड मध्ययुग के प्राण थे। उन मानदण्डों का अभ्यासी युग तो केशव के महत्त्व को नतमस्तक होकर स्वीकार करता रहा और आज का युग जो उन मानदण्डों से अधिक सहानुभूति नहीं रखता, केशव के महत्त्व का तिरस्कार करता है। निश्चय ही इस महत्त्व-तिरस्कार में आधुनिक आलोचकों में सहानुभूति-तत्त्व का अभाव है। अतः वे भटक गए हैं। केशव के युग को, उसकी परम्परा को तथा उस युग एवं परम्परा के मानदण्डों को अपनाकर सहानुभूति के साथ यदि फिर से उनके साहित्य की परख की जाए तो निश्चय ही निर्णय केशव के पक्ष में निकलेगा। बस यही मेरा पूर्वाग्रह था और शोध करते-करते भी मैं इसे नहीं छोड़ पाया। इसलिए प्राचीन साहित्य-परम्परा एवं प्राचीन मानदण्डों के सहारे मैंने केशव के साहित्य को परखने की चेष्टा की है। इस परम्परागत सम्मान के साथ में केशव के लिए अधिकतम सहानुभूति देने के लिए प्रस्तुत रहा हूं किन्तु इस सहानुभूति का उच्छृंखल प्रयोग मैंने नहीं किया।

केशव सम्बन्धी जितनी आलोचनाएं अब तक प्रकाशित हुई हैं, उनमें से कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं में मुद्रित छोटे-छोटे लेखों के रूप में मिलती हैं, कुछ भूमिकाओं के रूप में तथा कुछ स्वतन्त्र पुस्तकाकार के रूप में उपलब्ध हैं। इनमें से छोटे-छोटे लेख तो आकार में सीमित होने के कारण केशव के साथ पूर्णतया न्याय नहीं कर सके हैं। अतः उन लेखों में लिखित आलोचनाएं न तो वैज्ञानिक हैं और न उनमें केशव के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझाने का ही प्रयत्न किया गया है। भूमिकाओं में प्रायः 'राग' एवं 'अपराग' का स्वर सुनाई पड़ता है। 'राग' तथा 'अपराग' के आग्रह को अपनाकर चलनेवाली रचनाएं दिशाएं उद्घाटित कर सकती हैं, शोध-कर्ता उनका उपयोग भी कर सकता है, परन्तु वे शोध की आवश्यकता समाप्त नहीं करतीं। इनके अतिरिक्त पुस्तकाकार आलोचनाओं में से 'केशव की काव्यकला', 'केशव : एक अध्ययन', 'केशवदास' तथा 'आचार्य केशवदास' आदि प्रमुख हैं। ये सभी ग्रन्थ अपना-अपना महत्त्व रखते हैं तथा इन्होंने केशव के अध्ययन को पर्याप्त गति प्रदान की है। अतः इनके रचयिताओं का प्रयत्न सराहनीय है। यद्यपि इन ग्रन्थों में केशव के प्रतिपाद्य विषयों में से बहुत कुछ अंशों को ले लिया गया है, फिर भी उनके सांगोपांग वर्णन में बहुत कुछ अपेक्षित रह गया है। अधिकांश लेखकों का ध्यान काव्य-पक्ष को स्पष्ट करने की ओर ही रहा है, उन्होंने केशव के जीवन-वृत्त, रचनाओं, जीवन-दर्शन, आचार्यत्व, आदान-प्रदान तथा हिन्दी-साहित्य में उनके स्थान आदि का सम्यक् निरूपण नहीं किया। अतः इन सभी अभावों को ध्यान में रखकर उनकी पूर्ति के लिए ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (Thesis) में केशव के सर्वांगीण स्वरूप का अध्ययन उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। मेरा यह दावा नहीं कि यह शोध-प्रबन्ध केशव के विषय में अन्तिम 'फतवा' है, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि यह शोध-प्रबन्ध केशव के अध्ययन को अग्रसर करने में अवश्य सहायक सिद्ध होगा। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आठ परिच्छेदों में विभक्त किया गया है :

प्रथम परिच्छेद में केशव के जीवन-वृत्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। केशव की जन्मतिथि, जाति, वंश, गुरु एवं आश्रयदाताओं का विवेचनात्मक परिचय देते हुए केशव और बिहारी के सम्बन्ध का प्रमाणपूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है। इसके अनन्तर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ केशव के सम्बन्ध एवं उनके शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान की चर्चा आती है। इस प्रामाणिक जीवन-वृत्त को प्रस्तुत करने में लेखक ने अन्तःसाक्ष्य के रूप में केशव की समस्त रचनाओं तथा बहिःसाक्ष्य के रूप में खोज-रिपोर्टों, गजेटियरों, हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहासों तथा आलोचनात्मक ग्रंथों का सहारा लिया है।

द्वितीय परिच्छेद में केशव की रचनाओं का परिचय दिया गया है और उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। उपलब्ध विभिन्न प्रमाणों के आधार पर अनेक हस्तलिखित प्रतिलिपियों का उपयोग करते हुए केशव के नाम पर उपलब्ध रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया गया है—

१. केशव की असंदिग्ध रचनाएं

२. केशव की संदिग्ध रचनाएं

३. केशव नामधारी अन्य कवियों की रचनाएं

रतनबावनी, रसिकप्रिया, नखशिख, बारहमासा, रामचन्द्रिका, कविप्रिया, छन्दमाला, वीरसिंहदेवचरित तथा विज्ञानगीता असंदिग्ध रूप से केशव की रचनाएं हैं। रामालंकृतमंजरी सन्देहास्पद रचना है। इसे सन्देहास्पद वर्ग में रखने का प्रधान आधार यही है कि शिवसिंहसरोज में उद्धृत रामालंकृतमंजरी के दो छन्द इस रचना में उपलब्ध नहीं होते। इसके अतिरिक्त सात अन्य रचनाएं हैं, जिनके विषय में मेरा निश्चय है कि ये रचनाएं केशव की नहीं, किन्हीं दूसरे केशव नामधारी कवियों की हैं।

तृतीय परिच्छेद में केशव की पूर्ववर्ती एवं समकालीन परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनका केशव से सम्बन्ध बतलाया गया है। प्रारम्भ में राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए केशव के काव्य पर युग का प्रतिबिम्ब चित्रित किया गया है। तदुपरान्त हिन्दी-साहित्य की आदिकालीन तथा भक्तिकालीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए केशव के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अन्त में संस्कृत-काव्यशास्त्र के सभी प्रमुख सम्प्रदायों का विवेचन करते हुए उनका केशव पर प्रभाव दिखलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद में केशव के जीवन-दर्शन का अध्ययन आता है। परिस्थितियों के समान ही कलाकार का स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी साहित्य-निर्माण में एक प्रमुख तत्त्व है। किसीके व्यक्तित्व के वास्तविक परिचय का अर्थ है जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण का परिचय। इस व्यापक क्षेत्र में से लेखक ने दर्शन, भक्ति एवं धर्म तीन पक्षों को चुन लिया है। केशव के जीवन-दर्शन का इस ढंग का अध्ययन प्रायः प्राप्त नहीं था।

पंचम परिच्छेद में केशव के आचार्यत्व का वैज्ञानिक एवं गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। केशव के आचार्य रूप में उनका मूल्यांकन तीन दृष्टियों से किया गया है।

१. **ऐतिहासिक दृष्टि से**—हिन्दी साहित्य के काव्यशास्त्र का सर्वांगीण विचार करने वाले वे ही प्रथम आचार्य हैं।

२. **अध्ययन-प्रौढ़ता की दृष्टि से**—गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि केशव का अध्ययन अत्यन्त व्यापक है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की प्राचीनतम एवं नवीनतम मान्यताओं का उन्हें पूर्ण परिचय है। उनके प्रत्येक लक्षण में अद्भुत गम्भीरता एवं उदाहरणों में अनूठी सरलता के दर्शन होते हैं।

३. **मौलिकता की दृष्टि से**—केशव के प्रत्येक लक्षण पर उनकी मौलिकता की छाप है। वे आंख मींचकर प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते। उनके अपने दृष्टिकोण हैं जिनके कारण उनके आचार्यत्व का स्वरूप बंधी लीक से कुछ हट गया है। रस सम्बन्धी मान्यताओं में उन्होंने रस-ध्वनिवाद का अनुसरण

किया है तथा अलंकार-क्षेत्र में प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों का। अनेक स्थानों पर बड़े से बड़े आचार्यों की मान्यताओं को छोड़कर अपनी नवीन मान्यता उपस्थित करने का उनमें साहस है। अनेक स्थानों पर जहां उन्हें अन्य आचार्यों की मान्यताओं में बल दिखाई देता है वे उन सभी मान्यताओं का परिचय कराते हैं। उन्होंने रसिकप्रिया में अधिक मौलिक दृष्टि अपनाई है। कविप्रिया में शिक्षक की परिचयात्मकता अधिक है। जिस गम्भीर विश्लेषणात्मक पद्धति को केशव के आचार्यत्व की परख के लिए स्वीकार किया गया है, उसपर उनकी समस्त शास्त्रीय मान्यताओं की समीक्षा इस प्रबन्ध में असंभव थी। अतः आचार्यत्व के दो प्रमुख पक्षों रस एवं अलंकार-विवेचन को ही चुनकर अभीष्ट पद्धति पर विवेचन किया गया है। यद्यपि मैं केशव के समस्त आचार्यत्व को इस शैली पर नहीं परख सका किन्तु सर्वथा एक नूतन दृष्टि से केशव-साहित्य के अध्ययन का एक द्वार मेरे इस प्रयास से खुला है, ऐसा मेरा विश्वास है।

केशव को प्रायः अलंकारवादी कहा जाता है। लेखक उन्हें दण्डी, भामह, रुद्रट के समान अलंकारवादी नहीं मानता। इस मान्यता का उसने तर्कपूर्ण समर्थन प्रस्तुत किया है।

केशव के लक्षणों में अनेक आलोचकों ने गड़बड़ी पाई है। किन्तु अपनी विश्लेषणात्मक पद्धति से मैंने इन गड़बड़ कहे जाने वाले स्थलों में ही केशव की गम्भीरता एवं मौलिकता का सर्वाधिक पता पाया है। मैंने अपने इस विश्वास का तर्कपूर्ण प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है कि केशव के समान समस्त मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में कोई प्रौढ़ एवं मौलिक आचार्य नहीं हुआ।

प्रसंगवश मैंने केशव के अनेक लक्षणों के मौलिक अर्थ प्रस्तुत किए हैं परन्तु उन सबमें सरलता और गम्भीरता का ध्यान अवश्य रखा है।

षष्ठ परिच्छेद में केशव के काव्यपक्ष का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कुछ विषय कवि के सामान्य पक्ष को ध्यान में रखकर विवेचित किए गए हैं, जैसे रस-व्यंजना, अलंकार-योजना एवं प्रकृति-चित्रण। कुछ उनके कविरूप के विशेष पक्ष प्रबन्ध-कवित्व को ध्यान में रखकर लिए गए हैं, जैसे प्रबन्ध-पटुता, चरित्र-चित्रण एवं संवाद। इनके साथ ही साथ छन्द-योजना एवं भाषाधिकार पर भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। केशव के कविरूप में भावुकता, वैदग्ध-चमत्कार एवं पांडित्य के पूर्ण दर्शन होते हैं। केशव, सूर, तुलसी की परम्परा की अपेक्षा संस्कृत के परवर्ती काव्य-परम्परा की कड़ी में हिन्दी के कवि हैं।

सप्तम परिच्छेद में केशव के आदान-प्रदान का विवेचन किया गया है। इस परिच्छेद में आदान-प्रदान के अनेक पक्षों को नहीं लिया गया, केवल भाव-साम्य को ही लक्ष्य बनाया गया है। भाव-साम्य के द्वारा ही यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि केशव

अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से किस प्रकार प्रभावित हुए और अपने परवर्ती साहित्य को उन्होंने कहां तक प्रभावित किया है ? 'आदान' में विशेषकर रामचन्द्रिका, विज्ञानगीता, रसिकप्रिया एवं कविप्रिया से संस्कृत कवियों एवं आचार्यों के ग्रन्थों से भाव-साम्य के अनेक स्थल दिखलाए गए हैं। इसके अतिरिक्त जायसी, सूर, तुलसी से भी भाव-साम्य दिखलाया गया है। 'प्रदान' में भी रीतिकाल के कवियों और आचार्यों पर केशव के ऋण का निरूपण एवं आधुनिकयुग पर उनके छायाभासों का वर्णन है।

अन्तिम एवं अष्टम परिच्छेद में केशव का हिन्दी-साहित्य में स्थान निर्धारित किया गया है। केशव हिन्दी-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके महत्त्व का कई पक्षों को ध्यान में रखकर विवेचन किया गया है। कवि के दो धरातल हैं, प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति। दोनों धरातलों पर विभिन्न दृष्टियों से केशव का स्थान निर्धारित करते हुए मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि केशव का स्थान समस्त मध्यकालीन हिन्दी काव्याचार्यों में सर्वश्रेष्ठ है। कवित्व की दृष्टि से उनका स्थान सूर, तुलसी के अनन्तर है। यदि केवल कलापक्ष की दृष्टि से विचार करें तो वे उनसे भी आगे बढ़ जाते हैं।

प्रथम परिच्छेद

केशव का जीवन-वृत्त

महाकवि केशवदास निर्विवाद रूप से दरबारी कवि थे। और किसी भी दरबारी कवि के सम्बन्ध में यह आशा की जा सकती है कि उसका जीवन-वृत्त अवश्य उपलब्ध होगा। उन भक्त कवियों की बात दूसरी है जो 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'[1] के सिद्धान्त को मानकर 'स्वान्तः सुखाय'[2] ही रचना करते हैं अथवा जो अपने इष्ट के सान्निध्य को प्राप्त कर भौतिकता से परे इहलोक में ही परलोक की भावना रखते हैं। परन्तु महाकवि केशवदास जैसे दरबारी कवि का जीवन-वृत्त अन्धकार में हो यह बात अवश्य आश्चर्य की है। हिन्दी के अधिकांश कवियों के जीवन-वृत्त का प्रामाणिक विवरण प्राप्त न होने का कारण जहां एक ओर हमारे भारतीय राजा महाराजा और उनकी परम्पराओं में ऐतिहासिक मनोवृत्ति का अभाव है, वहां दूसरी ओर इन महाकवियों की कोरी अध्यात्म-परता भी एक कारण है। कहना न होगा कि आज भारतीय वाङ्मय के लिए यह बात भूषण न होकर दूषण ही है। सारे ही भारत के साहित्य के मूल में हमें इस दार्शनिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, जो प्रवृत्ति से निवृत्ति, लौकिकता से अलौकिकता, भौतिकता से आध्यात्मिकता, असत् से सत्, विकृति से प्रकृति और अद्वैत से द्वैत की ओर ले जाने वाली है। संभव है केशव के जीवन के सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक सामग्री न मिलने के कारण में आधारभूत यही प्रवृत्ति रही हो।

किसी कवि अथवा लेखक पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखते समय, उसके जीवन-वृत्त, रचनाओं आदि पर विचार करना एक परिपाटी-सी हो गई है। केशवदास की आलोचना भी इसमें अपवाद नहीं है और सभी आलोचकों एवं प्रबन्ध-लेखकों ने इन विषयों पर लेखनी चलाई है तथा यथाशक्ति उनका विवेचन किया है और निष्कर्ष भी निकाले हैं परन्तु यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई भी दो लेखक रूप से एकमत नहीं दीखते। परिपाटी का निर्वाह सबने किया है और अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य की कसौटी पर अपने निष्कर्षों को कसा भी है। अपने-अपने मतों की पुष्टि में ऐतिहासिक प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। इतना सब कुछ होते हुए जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में और क्या नवीन सामग्री प्रस्तुत की जाए यह किसी भी अनुसंधाता के लिए पहेली हो सकती है। मेरा अपना विचार है कि ऐसे विषयों में केवल दृष्टिकोण का अन्तर रहता है। कौनसा दृष्टि-

---

१. रामायण बालकाण्ड, पृ० १० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, गो० तुलसीदास
२. रामायण बालकाण्ड, छन्द ७, गोस्वामी तुलसीदास

कोण सत्य के अधिक निकट है, यह कहना बड़ा कठिन है। केशव के जीवन सम्बन्धी इस सभी उपलब्ध वृत्त को पढ़कर मुझे सन्तोष नहीं हुआ इसलिए मैं भी अपना दृष्टिकोण उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में प्रस्तुत करता हूं। अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य वाली लीक इतनी पिटी-सी हो गई है कि उसमें मुझे कुछ नीरसता-सी लगती है। इसलिए मैंने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए दूसरी परिपाटी का अनुसरण किया है। उनका जीवन-वृत्त निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित सामग्री का आश्रय लिया गया है :

केशव की कृतियों में उपलब्ध जीवन-सम्बन्धी सामग्री

केशव की रचनाओं, उनके विषय, कालक्रम और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आगे विचार किया जाएगा। यद्यपि केशव के जीवन की घटनाओं के ठीक-ठीक निर्धारण और विश्लेषण के लिए यह सभी सामग्री आवश्यक है फिर भी विस्तार-भय और पुनरुक्ति-दोष-निवारण के कारण यहां मैं केवल उन्हीं रचनाओं और तत्-तत् स्थलों का उल्लेख करूंगा जिनका साक्षात् सम्बन्ध केशवदास जी के जीवन से है। कुछ आलोचकों ने उनकी रचनाओं में प्रक्षिप्तांश मानकर अपनी-अपनी मान्यताओं की संगति निभाने की चेष्टा की है। ऐसे पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से किसी भी महाकवि का जीवन-पक्ष धूमिल हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसलिए रचनाओं के प्रक्षिप्त अथवा वास्तविक अंशों पर भी हमने यहां विचार नहीं किया है। हां, जहां घटनाओं में उलट-फेर लगा है वहां उसे अवश्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

काल-क्रम के अनुसार केशवदास जी की निम्नलिखित रचनाएं हैं जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है—

१. रतनबावनी, २. रसिकप्रिया, ३. कविप्रिया, ४. वीरसिंहदेवचरित एवं ५. विज्ञानगीता।

रतनबावनी

रतनबावनी में केशवदास जी ने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा। यहां तक कि इसका अन्य रचनाओं की भांति रचना-काल भी नहीं दिया। इतना होने पर भी ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से उनकी जन्म-तिथि निर्धारित करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। काव्य के कलापक्ष, भाषा, अलंकार एवं छन्द आदि पर विचार करने से भी केशव की जन्म-तिथि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'यह केशवदास जी की आरंभिक रचना है।'[1]

रसिकप्रिया

दूसरी रचना रसिकप्रिया है। यह ग्रन्थ रस-निर्णय पर लिखा गया है परन्तु केशवदास जी ने कुछ छन्द ऐसे भी लिखे हैं जिनके द्वारा उनके जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है—

---

१. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २४५

"नदी बेतवे तीर जहं तीरथ तुंगारन्य,
नगर ओड़छो बहु बसै, धरनी-तल में धन्य।
दिन प्रति जहं दूनो लहैं, जहां दया अरु दान,
एक तहां केशव सुकवि जानत सकल जहान ॥"[1]

इन्द्रजीतसिंह का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि उनकी आज्ञा से इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ—

"तिन कवि केशवदास सों, कीन्हौं धर्म-सनहु,
सब सुख दै करि यों कह्यो, रसिकप्रिया करि देहु ॥"[2]

कविप्रिया

कविप्रिया में कवि ने विशेष रूप से अपने जीवन पर प्रकाश डाला है। सम्पूर्ण द्वितीय प्रभाव जीवन-वृत्त सम्बन्धी सामग्री से ओतप्रोत है इसमें कवि ने अपने वंश, पूर्वजों तथा अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य बातों का उल्लेख किया है—

"ब्रह्मा जू के विनय तें प्रगट भए सनकादि।
उपजे तिनके चित्त तें सकल सनावड़ आदि ॥१॥
परसुराम भृगु-नन्द तब तिनके पांय पखारि।
दए बहत्तर ग्राम तिन उत्तम विप्र विचारि ॥२॥
जगपावन बैकुण्ठपति रामचन्द्र इहि नाम।
मथुरा-मंडल में दए तिन्हें सात सै ग्राम ॥३॥
सोमवंश जदुकुल कलस त्रिभुवनपाल नरेस।
फेरि दए कलिकाल पुर तेई तिनहिं सुदेस ॥४॥
कुंभकार उद्देसकुल प्रगटे तिनके बंस।
तिनकें देवानन्द सुत उपजे कुल अवतंस ॥५॥
तिनकें सुत जयदेव जग थापे पृथवीराज।
तिनकें दिनकर सुकुलसुत प्रगटे पंडितराज ॥६॥
दिल्लीपति अल्लाबदीं कीन्हीं कृपा अपार।
तीरथ गया समेत जिन अकर करे बहुबार ॥७॥
गया गजाधर सुत भए तिनकें आनन्दकंद।
जयानन्द तिनकें भए, विद्याजुत जगबंद ॥८॥
भए त्रिविक्रममिश्र तब तिनकें पंडितराय।
गोपाचलगढ़ दुर्गपति तिनके पूजे पाय ॥९॥

---

१. रसिकप्रिया, नवल प्रेस पृष्ठ ९, १०
२. रसिकप्रिया, छन्द १०, प्रथम प्रकाश

भावसर्म तिनकें भए जिनके बुद्धि अपार।
भए सुरोत्तम मिश्र तब षट-दरसन अवतार॥१०॥
मानसिंह सों रोष करि जिन जीती दिसि चारि।
ग्राम बीस तिनकों दये राना पांय पखारि॥११॥
तिनकें पुत्र प्रसिद्ध जग कीन्हें हरि हरिनाथ।
तोंवरपति तजि और सौं भूलि न ओड्यो हाथ॥१२॥
पुत्र भए हरिनाथ कें कृस्नदत्त सुभवेष।
सभा साहि संग्राम की जीते गढ़ा असेष॥१३॥
तिनकों वृत्ति पुरान की दीन्हीं राजा इन्द्र।
तिनकें काशीनाथ सुत सोभे बुद्धिसमंद्र॥१४॥
जिनको मधुकरसाह नृप बहुत कर्यौ सनमान।
तिनकें सुत बलभद्र शुभ प्रगटे बुद्धिनिधान॥१५॥
बालहिं तें मधुसाहि नृप जिनपै सुन्यौ पुरान।
तिनकें सोदर द्वय भए केशवदास कल्यान॥१६॥
भाषा बोलि न जानई जिनके कुल को दास।
भाषा कवि भो मंदमति, तिहि कुल केशवदास॥१७॥[1]

अर्थात् ब्रह्माजी के चित्त से सनकादि प्रकट हुए और उनके चित्त से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। भृगुनन्द परशुराम ने उन्हें उत्तम ब्राह्मण समझकर चरणों का प्रक्षालन करके बहत्तर ग्राम दिए। जगपावन बैकुण्ठपति श्री रामचन्द्रजी ने मथुरा-मंडल में उन्हें सात सौ ग्राम दिए। फिर सोमवंश के यदुकुलश्रेष्ठ तथा त्रिभुवनपालक श्रीकृष्ण महाराज ने भी कलियुग में उन्हें वही मथुरा-मंडल देश प्रदान किया। उनके वंश के उद्देश्य कुल में कुंभकार उत्पन्न हुए। उनके पुत्र अपने वंश की शोभा देवानन्द थे। उनके पुत्र जयदेव और जयदेव के पुत्र पंडितराज दिनकर हुए। उनपर दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन बड़ी कृपा रखता था। उन्होंने गया सहित अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। उनके पुत्र आनन्दकर गया गदाधर हुए और उनके पुत्र जयानन्द हुए जो विद्वान् और जगत-प्रतिष्ठित थे। उनके पुत्र पंडितराज त्रिविक्रम मिश्र हुए। उनके पैरों की पूजा गोपाचल किले के राजा ने की थी। उनके पुत्र भावशर्मा हुए जो बड़े बुद्धिमान थे। भावशर्मा के पुत्र शिरोमणि मिश्र हुए जो षट् दर्शनों के मानों अवतार ही थे। मानसिंह पर क्रोध प्रकट करके उन्होंने चारों दिशाओं को जीता और राणा ने पैर धोकर बीस ग्राम प्रदान किए। उनको भगवान ने जगत्प्रसिद्ध हरिनाथ पुत्र दिया जिन्होंने तोमरपति को छोड़ और किसी के आगे भूलकर भी हाथ नहीं फैलाया। हरिनाथ के शुभ वेष वाले कृष्णदत्त हुए जिनको राजा रुद्र ने पुराण की वृत्ति प्रदान की। उनके पुत्र बुद्धि के समुद्र काशीनाथ हुए जिनका राजा मधुकरशाह ने बड़ा

---

१. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द २–१७ तक

सम्मान किया। उनके बुद्धिमान पुत्र बलभद्र मिश्र से बाल्यावस्था से ही मधुकरशाह ने पुराणों को सुना। बलभद्र मिश्र के दो भाई और थे—एक तो स्वयं केशवदास तथा दूसरे कल्याणदास। जिनके कुल के दास भी भाषा का प्रयोग नहीं करते थे, उसी कुल में भाषा कवि मंदमति केशवदास उत्पन्न हुए।[१]

आगे के परिचय से प्रतीत होता है कि केशव का बड़ा सम्मान था और वे बड़े निस्पृह थे—

'इन्द्रजीत तासों कह्यौ मांगन मांझ प्रयाग।
मांग्यौ सब दिन एकरस कीजै कृपा सभाग।।"[२]
"यों ही कह्यो जु बीरबर माँगि जु मनमें होइ।
मांग्यौ तब दरबार में मोहि न रोकै कोइ।।
गुरु करि मान्यो इन्द्रजित तन मन कृपा विचारि।
ग्राम दए इकबीस तब ताके पांय पखारि।।
इन्द्रजीत के हेत तब राजा राम सुजान।
मान्यो मन्त्री मित्र कै 'केसवदास' प्रमान।।"[३]

अर्थात् केशवदास जी से जब इन्द्रजीत ने प्रयाग में कुछ मांगने के लिए कहा तब उन्होंने उत्तर दिया कि आप इसी प्रकार कृपा करते रहिए। इसी प्रकार बीरबल ने भी कहा कि तुम्हारे मन में जो कुछ हो, मांग लो। तब यही मांगा था कि आपके दरबार में मुझे कोई न रोके। इनको इन्द्रजीतसिंह ने अपना गुरु समझकर सदा तन-मन से कृपा की और इनके पैर धोकर इक्कीस गांव दान में दिए। इन्हीं इन्द्रजीतसिंह के हित राजाराम शाह ने केशवदास को अपना मंत्री तथा मित्र समझकर आदर किया।

रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका के द्वारा हमें विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। कविप्रिया में जो विस्तृत परिचय दिया हुआ है, उसी प्रकार अपना और अपने वंश का संक्षिप्त परिचय इस ग्रंथ में दिया गया है। किसी नवीन घटना का उल्लेख नहीं किया—

"सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध सुद्ध सुभाउ।
कृस्नदत्त प्रसिद्ध हैं जहँ मिश्र पंडितराउ।।
गनेस सो सुत पाइयो बुध कासिनाथ अगाधु।
असेस सास्त्र विचार्यो जिन जान्यो मत साधु।।
उपज्यो तिनके मन्दमति सुत कवि केसवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास।।"[४]

---

१. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द २-१७
२. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १८-२१
३. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १८-२१
४. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ४-५, लाला भगवानदीन

वीरसिंहदेवचरित

वीरसिंहदेवचरित एक ऐतिहासिक काव्य है। इस काव्य में केशवदास के राजनीतिक जीवन की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। रामशाह एवं वीरसिंहदेव में राज्य के कारण से ठन जाती है। युद्ध के बादल ओरछा पर घुमड़ने लगते हैं। ऐसी कठिन परिस्थिति में केशवदासजी गृह-युद्ध को रोकने का प्रयत्न करते हैं और इस कार्य में उन्हें आंशिक सफलता भी मिलती है। वे राजा रामशाह की आज्ञा से वीरसिंहदेव के समीप सीधा प्रस्ताव लेकर जाते हैं। वीरसिंहदेव केशवदास जी का सम्मान करते थे। अतः उन्होंने सन्धि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रस्ताव के अनुसार रामशाह जीवन-पर्यन्त राज्य करें परन्तु मृत्यु के उपरान्त वीरसिंहदेव राजा बनें। परन्तु माता कल्याणदे की अस्वीकृति ने कार्य बिगाड़ दिया। इस प्रसंग में रामशाह कहते हैं—

"कहा होय गुन गन के नाथ, फाट्यो दूध न आवे हाथ।
मंगव पायक पेम बनाय, पठये केशव मिश्र बुलाय॥
जो कछु करि आवहु सु प्रमान, यों कहि पठये राम सुजान।
गये बरेठी कहं बहु घने, वीरसिंह पं तीनों जने॥[1]
केशव मिश्र कही यह बात, सुनिए महाराज के तात।
राजनि सो बैठे दीवान, बिनती करत परम अज्ञान।
जब हम समय पाइहैं राज, विनती करिहैं नृप सिरताज।
इतनी सुनि हिय मति सुख पाय, बैठे न्यारे ह्वै नृप जाय।
बोलि लिए कवि केसवदास, कियो नृपति यह बचन प्रकास॥[2]

आश्वासन देते हुए वीरसिंह बोले—

"जिहि मग होय दुहुन को भलो, तेहि मग मोहि चला लै चलो।"[3]

केशव ने वास्तविकता को प्रकट किया—

"द्वै द्वै बाट भली अनभली, चलिबो कुसल कौन सी गली।
बइा एक दाहिनी ओर, सुखद दाहिनी बाईं घोर॥"[4]

अन्त में जाकर राजा को कहना पड़ा—

"राजहि मोहि करो इकठौर, विविध विचारन की तजि दौर।
मैं मानी जो मानै राज, सफल होंहि सबही के काज॥"[5]
इहि बिच प्रेम कह्यो हरखाय, कल्यानदे रानी सों जाइ।
हम न मते को जाने भेव, जाने मिश्र कि विरसिंह देव।

---

१. वीरसिंह देवचरित, दशम प्रकाश ६३-६६ छन्द, काशी ना० प्र० सभा
२. वीरसिंह देवचरित, दशम प्रकाश ७५-७६ छन्द, काशी ना० प्र० सभा
३. वीरसिंह देवचरित, दशम प्रकाश ८२ छन्द, काशी ना० प्र० सभा
४. वीरसिंह देवचरित, दशम प्रकाश ८७-८८ छन्द, काशी ना० प्र० सभा
५. वीरसिंह देवचरित, दशम प्रकाश ११६-११७ छन्द, काशी ना० प्र० सभा

ज्यौं क्यौं हू घटि बढ़ि परि जाय, हमको दोष न दीजै माय।
इतनो कहत महामत दियौ, कल्यानदे रानी कौ हियौ।
रानी कह्यौ सु पूछे काहि, तौ आवहु सुत मारत साहि।।"[1]

केशव ने पुनः समझाने का प्रयत्न किया परन्तु सब व्यर्थ रहा। युद्ध हुआ और वीरसिंहदेव विजयी हुए। यद्यपि केशवदास जी का हाथ युद्ध में न था तथापि थे तो विपक्षी ही। फलतः वृत्ति और पदवी दोनों छिन गई। इस प्रसंग से हमें इतना ही ज्ञात होता है कि इन्द्रजीतसिंह तथा वीरसिंहदेव दोनों ही केशवदास जी का आदर करते थे।

विज्ञानगीता

विज्ञानगीता के प्रारम्भ में भी संक्षिप्त वंश परिचय दिया गया है—

'तहाँ प्रकाश सौ निवास मिश्र कृष्ण दत्त को।
अशेष पंडिता गुणी सुदास बिप्र भक्त को।।
सु काशीनाथ तस्य पुत्र विज्ञ काशीनाथ को।
सनाढ्य कुम्भकार अंश वंश वेद व्यास को।।"[2]

सम्पूर्ण ग्रन्थ में वैराग्य की स्पष्ट छाया है। संभवतः केशवदासजी के जीवन में भी इसका थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा हो। ग्रंथ के अन्तिम छन्दों से पता चलता है कि विज्ञान गीता की रचना से वीरसिंहदेव प्रसन्न हो गए थे। परिणाम-स्वरूप वृत्ति एवं पदवी जो पहले छीनी जा चुकी थी केशवदास के पुत्रों को पुनः प्राप्त हुई। वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण 'नृपनाथ' से अपने लिए कुछ न मांगते हुए 'गंगा तट पर बास' की याचना की।

"सुनि सुनि केशवराय सों रीझि कह्यौ नृपनाथ।
मांगि मनोरथ चित्त के, कीजै सबै सनाथ।।
वृत्ति दई पुरखानि की, देऊ बालनि आसु।
मोहि आपनो जानि कै गंगा तट देउ बासु।
वृत्ति दई पदवी दई, दूरि करौ दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गंगातट बस वास।।[3]

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि केशवदासजी निस्पृह थे। 'बालनि' शब्द से यह भी व्यंजना है कि केशव के एक से अधिक सन्तान थी। 'सकलत्र' शब्द से ज्ञात होता है कि विज्ञानगीता लिखते समय अर्थात् सं० १६६७ वि० में केशवदास जी की पत्नी जीवित थीं।

विवेचन

रतनबावनी में कुछ अंश प्रक्षिप्त हैं। इस पुस्तक की अन्य घटनाओं की केशव का

---

१. वीरसिंह देवचरित, दशम प्रकाश १२१-१२५ छन्द, काशी ना० प्र० सभा
२. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाद छन्द ५, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
३. विज्ञान गीता, इक्कीसवां प्रभाव छन्द ५५-५७, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई

अन्य पुस्तकों में वर्णित घटनाओं में समानता नहीं पाई जाती। दूसरे प्रारम्भिक नौ छन्दों में केशव की छाप नहीं है। तीसरे नाम के अनुसार इस ग्रन्थ में बावन छन्द होने चाहिएं, 'परन्तु इस समय जो पुस्तक प्राप्त हुई है उसमें अरसठ छन्द हैं।"[1] अतः स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में प्रक्षिप्तांश हैं। शेष रचनाओं में स्पष्ट प्रक्षिप्तांश नहीं। यत्र-तत्र दो एक छन्द कहीं मिल जाएं यह बात दूसरी है।

इन प्रक्षिप्तांशों से घटनाओं के सम्बन्ध में पारस्परिक विरोध है। इतिहास एवं रतनबावनी की घटनाओं में वैषम्य है। यही नहीं वीरसिंहदेवचरित तथा कविप्रिया की घटनाओं से रतनबावनी की घटनाएं मेल नहीं खातीं। मधुकरशाह ने संवत् १६३२ वि० से १६४६ विक्रमी तक राज्य किया।[2] अकबर और मधुकरशाह के परस्पर युद्ध के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने अलग-अलग कल्पनाएं की है—

१. संवत् १६३४ विक्रमी में मधुकरशाह की किसी अनधिकार चेष्टा के कारण अकबर क्रुद्ध हुआ। परिणामस्वरूप खटीक खां तथा राजा असकरण कछवाहा को विशाल वाहिनी देकर मधुकरशाह के विरुद्ध भेजा।[3]

२. अकबर ने एक बार आज्ञा दी कि कोई सरदार दरबार में तिलक लगाकर तथा माला पहनकर न आए। परन्तु मधुकरशाह बड़े ही कट्टर धार्मिक राजा थे। वे ऐसी बातों को कब माननेवाले थे। उस दिन और भी तिलक-मुद्रा आदि लगाकर शाही दरबार में गए। यह देखकर अकबर प्रकट रूप में तो बहुत प्रसन्न हुआ परन्तु हृदय में क्रुद्ध हुआ। उसे मधुकरशाह की यह चाल बहुत बुरी प्रतीत हुई[4]।

३. अकबर ने एक बार मधुकरशाह से आखेट में चलने के लिए कहा। मधुकर शाह नृसिंह के उपासक थे अतः महाराज मधुकरशाह ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि मैं अपने इष्ट को मारने नहीं जा सकता। यह सुनकर बादशाह चुप रह गया। इस प्रकार धीरे-धीरे इन दोनों में वैमनस्य बढ़ता गया। अन्त में युद्ध अवश्यंभावी हो गया।[5]

केशव ने रतनबावनी में युद्ध का कारण कुछ और ही दिया है। परन्तु यह राजपूती शान के अनुसार अवश्य है। वे 'रतनबावनी' के प्रारम्भ में ही कहते हैं—

'राजाधिराज मधुशाह नृप यह विचार उद्दित भयव।
हिन्दुवान धर्म रक्षक समुझि पास अकबर के गयव।।[6]
दिल्लीपति दरबार जाय मधुसाह सुहायब।
जिमि तारन के माहि इन्दु शोभित छवि छायब।।

---

१. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २४५
२. बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, गोरेलाल तिवारी, पृष्ठ १२८
३. ओरछा गजेटियर भाग ६ अ तथा आइने-अकबरी प्रथम भाग, पृष्ठ ३८२, अनुवादक ब्लॉक मैन
४. बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, गोरेलाल तिवारी, पृष्ठ १२६
५. बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, गोरेलाल तिवारी, पृष्ठ १२७
६. रतनबावनी, पृष्ठ १ छन्द ४

देख अकब्बर साह उच्च आभा तिन केरी।
बोले बचन विचारि कहौ कारन यहि केरी॥
तब कहत भयब बुंदेलमणि मम सुदेश कंटकि भवन।
करि कोप ओप बोले बचन मैं देखों तेरो भवन॥[1]

मधुकरशाह ने 'मैं देखों तेरो भवन' की ललकार को स्वीकार करते हुए रतनसेन को पत्र लिखा—

'तुव भुजन भार है कुंवर यह रतनसेन सोभा लहइ।
कछु दिवस गए गढ़ ओड़छो, दिल्लीपति देखन चहइ॥'[2]

अस्तु युद्ध का कारण कुछ भी रहा हो परन्तु युद्ध हुआ अवश्य था। मधुकरशाह को नीचा दिखाने के लिए अकबर ने दो बार विशाल वाहिनी भेजी। पहली बार न्यामत कुलीखां ने आक्रमण किया तथा दूसरी बार जाम कुलीखां और सैयद कुलीखां ने आक्रमण किया परन्तु सफलता न मिली। अन्त में अकबर ने संवत् १६३४ वि० में मुहम्मद सादिक के सेनापतित्व में मुगलवाहिनी भेजी। ग्वालियर के राजा आसकरण तोमर भी साथ आए उन्होंने सन्धि कराने की बहुत कोशिश की परन्तु राजा ने सन्धि करना स्वीकार नहीं किया। इससे युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में होरलदेव खेत रहे और रामशाह घायल होकर चले आए।[3] अतः दोनों में सन्धि हो गई। आगे चलकर संवत् १६४५ वि० में अकबर ने आसकरण एवं अब्दुल्लाखां को ओरछा पर आक्रमण करने भेजा। उपर्युक्त वर्णन से यही ज्ञात होता है कि संवत् १६३४ वि० में अकबर के साथ युद्ध हुआ। उसमें होरलदेव की मृत्यु हुई तथा रामशाह घायल हुए फिर संवत् १६३४ वि० में सन्धि हो गई और वह सं० १६४५ वि० तक चलती रही।[4] इस बीच में मधुकरशाह एवं अकबर में मित्रता रही। ओरछा गजेटियर एवं अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों में संवत् १६३४ वि० से लेकर संवत् १६४५ वि० तक अकबर के साथ किसी भी युद्ध का उल्लेख नहीं है। 'रतनबावनी' के अनुसार युद्ध अकबर के विरुद्ध होता है और इसका परिणाम रतनसेन की मृत्यु होती है—

'ओरछेन्दु मधुशाह सुत, रतनसिंह यह नाम।
बादशाह सों समर करि, गए स्वर्ग को धाम॥'[5]

परन्तु वीरसिंहदेवचरित के अनुसार केशवदास जी कुछ और ही कहते हैं—

'रतनसेन तिनते लघु जानि, गहि आन्यो तिनहीं खगपानि।
बानो बांध्यो ताके माथ, साहि अकब्बर अपने हाथ॥

---

१. रतनबावनी, पृष्ठ २ छन्द ५
२. रतनबावनी, पृष्ठ २ छन्द ६
३. आइ-ने-अकबरी, प्रथम भाग पृष्ठ ३८२, अनुवादक ब्लॉकमैन
४. ओरछा गजेटियर भाग ६, कैप्टेन सी० ई० लुअर्ड, एम० ए० औक्सन
५. रतनबावनी, पृष्ठ १ छन्द २

बानो बांधि बिदा करि दियो, जीति गौर को भूतल लियो ।
गौर जीति अकबर को दयो, जूझि ब्याज बैकुण्ठहि गयो ॥"[1]

कविप्रिया में भी केशव एक स्थान पर कहते हैं--

'रनरूरो नरसिंह पुनि रतनसेन सुनि ईस ।
बांध्यौ आपु जलालदीं बानो जाके सीस ॥'[2]

एक ही कवि के दो प्रकार के कथनों को पढ़कर भ्रांति होना स्वाभाविक ही है। वस्तुस्थिति का पता नहीं चलता । ऐतिहासिक दृष्टि से 'वीरसिंहदेवचरित तथा 'कविप्रिया' का कथन ही प्रामाणिक है । रतनसेन का निधन गौड़ (बंगाल) में ही हुआ । अकबर बादशाह की ओर से राजा टोडरमल ने भी इस युद्ध में भाग लिया था ।[3] परन्तु केशव को अपने आश्रयदाता की प्रशंसा अपेक्षित थी । अतः कुछ कल्पना के योग पर जो काव्य का प्रधान अंग है, केशव ने रतनबावनी की रचना की । ऐतिहासिक तथ्यों के आधार से, रतनसेन की मृत्यु सं० १६३७ वि० में हुई । अतः रतनबावनी की रचना १६३७ वि० के उपरांत ही हो सकती है ।

निष्कर्ष

केशवदास जी की स्वयं की रचनाओं से उनके जीवन पर जो प्रकाश पड़ता है उसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि कवि की कई पीढ़ियां ओरछा नरेश के वंश से सम्बन्धित हैं । ओरछा एवं उसके पास की वनस्थली पर केशवदासजी का विशेष मोह था और उसका उन्होंने सुन्दर चित्रण किया है । केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र ओरछा में रुद्रप्रताप के यहां पुराण-वृत्ति पर नियुक्त थे । इनके पुत्र मधुकरशाह अकबर के समकालीन थे। इनके समय में राज्य का विस्तार एवं वैभव बढ़ा । केशवदास के पिता काशीनाथ मिश्र इन्हीं को पुराण सुनाया करते थे, तदुपरान्त उनके देहान्त पर केशदासजी के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र को यह पद मिला । मधुकरशाह के उपरान्त ओरछा की गद्दी पर रामशाह बैठे । ये जहांगीर के समकालीन थे । राज्य का सारा कार्य रामशाह के कनिष्ठ भ्राता इन्द्रजीतसिंह देखा करते थे । केशवदास जी इन्हीं इन्द्रजीतसिंह के दरबार में रहते थे ।

संभवतः इन्द्रजीतसिंह ने किसी युद्ध में भाग नहीं लिया क्योंकि केशवदास जी ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया । यदि उन्होंने भाग लिया होता तो केशवदास जी उनके सम्बन्ध में अवश्य प्रशस्ति-ग्रन्थ की रचना करते । क्योंकि उन्होंने इन्द्रजीतसिंह के भाई के नाते ही रतनबावनी और वीरसिंहदेवचरित की रचना की। अकबर के द्वारा इन्द्रजीतसिंह का जुर्माना माफ कराने के सम्बन्ध में अकबरी दरबार के प्रसिद्ध रत्न बीरबल से भी घनिष्ठता हो गई थी ।

१, वीरसिंहदेवचरित, द्वितीय प्रकाशदान, लोभ विन्ध्यवासिनी संवाद
२. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव छन्द २८
३. बुन्देलखण्ड का इतिहास, चौदहवां अध्याय, पृष्ठ १३२

इस विवरण से पता चलता है कि केशवदास की युवावस्था अत्यन्त सुख से व्यतीत हुई। अन्त में वृद्धावस्था आई और केशव ज्ञान-विज्ञान की ओर आकृष्ट हुए। विज्ञान-गीता रचकर उन्होंने वीरसिंहदेव को सुनाई और स्वयं संसार से विरक्त होकर राजकवि पद से अवकाश लेकर गंगा-सेवन के लिए चले गए। विज्ञानगीता के उपरान्त फिर लोक की सूझी। फलतः 'एलचि साहि' की प्रेरणा से सं० १६६९ विक्रमीय में 'जहांगीर जस चन्द्रिका' की रचना की।[1] इस प्रकार केशवदास जी के ग्रन्थों से उनका केवल सामान्य परिचय ही प्राप्त होता है। उससे केशवदास जी का विस्तृत जीवन विवरण नहीं मिलता और न उनके कौटुम्बिक जीवन पर ही प्रकाश पड़ता है। संवत् १६६९ विक्रमीय के उपरान्त केशवदास जी कहां रहे और कब उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। जीवन वृत सम्बन्धी इन ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए गए हैं जिनका उल्लेख हम यथास्थान इसी अध्याय में करेंगे।

केशव का उल्लेख करने वाली अन्य रचनाएं

जहां-जहां सभंव हो सका है मैंने उन सभी पुस्तकालयों को देखा है जहां केशव सम्बन्धी सामग्री प्राप्य है परन्तु उनके जीवन के सम्वन्ध में कोई उच्च कोटि की प्रामाणिक रचना देखने को नहीं मिली। केशवदास जी का उल्लेख करने वाली तीन रचनाओं को आधुनिक आलोचकों ने लिया है—'मूल गोसाई चरित', 'कामरूप की कथा' और 'देव शतक' जिसे वैराग्य शतक नाम से भी अभिहित किया जाता है। इनमें कविवर देवकृत वैराग्य शतक में तो केशवदास का गंग और बीरबल के साथ उल्लेख मात्र है। कामरूप की कथा के रचना काल का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है तथा मूल गोसाई चरित की प्रामाणिकता ही सन्देहास्पद है। हम नीचे इन्हीं तीन ग्रन्थों में वर्णित केशव सम्बन्धी विषय का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं :—

मूल गोसाईं चरित

गोस्वामी तुलसीदास जी के एक शिष्य वेणी माधवदास कृत 'मूल गोसाई चरित' का उल्लेख है। 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि :—

"इस पुस्तक में गोस्वामी जी महाराज के सब चरित्र प्रकट होते हैं पर इस पुस्तक में (शिवसिंह सरोज में) इस विस्तृत कथा का कहां तक विस्तार करूं।"[2]

इसी प्रकार केशवदास जी की रामचन्द्रिका का रचना-काल सं० १६४२ वि० के लगभग दिया गया है जबकि स्वयं केशवदास जी सं० १६५८ वि० रामचन्द्रिका का रचना-काल लिखते हैं—

---

१. सोरह से उनहत्तरा, माधव मास विचारु।
जहांगीर जस चन्द्रिका, करी चन्द्रिका चारु॥
—जहांगीर जस चन्द्रिका छन्द २, हस्तलिखित प्रति, काशी ना० प्र० सभा

२. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४२७, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ (१९२६)

"सोरह सै अट्ठावना, कातिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीनौ अवतार॥[1]

केशवदास जी एवं गोस्वामी तुलसीदास के मिलन में भी कल्पना से काम लिया गया है। प्रसंग इस प्रकार है—

"कवि केशवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कवि जानि कै दरसन हेतु गये। रहि बाहिर सूचन भेजि दये॥
सुनि कै जू गुसाईं कह्यौ इतनौं। कवि प्राकृत केसव आवत यौं॥
फिरिगे झट केशव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइते गुनि कै॥
जब सेवक टेरेउगे कहि कै। हौं मेटि हौं काल्हि विनय गहिकै॥
घनस्याम रहें घासीराम रहें। बलभद्र रहे बिस्राम लहें॥
रचि राम-सु चन्द्रिका रातिहि में। जुरे केसव जू असि घाटिहि में॥
सतसंग जमी रसरंग मची। दोउ प्राकृत दिव्य विभूति बची॥
मिटि केसव कौ संकोच गयौ। उर भीतर प्रीति की रीति रयौ॥[2]

इस प्रकार 'कवि प्राकृत केसव आवत यौं, की चोट खाकर केशवदास जी ने राम-चरितमानस की प्रतिद्वन्द्विता में एक ही रात्रि में रामचन्द्रिका की रचना की और दूसरे दिन प्रातःकाल काशी के असी घाट पर आकर तुलसीदास जी से मिले। एक रात्रि में 'रामचन्द्रिका' की रचना करना असम्भव प्रतीत होता है। साथ ही साथ अन्तःसाक्ष्य से भी इस कथन की पुष्टि नहीं होती।

५—इसी ग्रन्थ के अनुसार संवत् १६४६ वि० के लगभग चित्रकूट से दिल्ली जाते समय ओरछा में तुलसीदास जी को केशव के प्रेत ने घेर लिया। तब गोस्वामी जी की कृपा से बिना प्रयास के केशवदास जी प्रेत-योनि से मुक्त होकर विमान पर चढ़कर स्वर्ग चले गए—

"उड़छै केसवदास, प्रेत हतौ घेरेउ मुनिहि।
उधरेउ बिनहि प्रयास, चढ़ि विमान स्वरगहि गयौ॥"[3]

इस कथन से ज्ञात होता है कि केशवदास जी की मृत्यु संवत् १६४६ के लगभग हो चुकी थी परन्तु केशवदास जी की रचनाओं से स्पष्ट है कि 'रतनबावनी' एवं रसिक-प्रिया के अतिरिक्त सारी रचनाएं सं० १६४६ वि० के बाद की हैं। अतः यह ग्रन्थ अप्रामाणिक है।

कामरूप की कथा

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में कामरूप की कथा नामक प्रबन्ध-काव्य का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थ के रचयिता हरिसेवक मिश्र हैं, जिन्होंने अपने

१. रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५
२. मूल गोसाईं चरित, पृष्ठ सं० २५-२६, दोहा ५८ की चौपाइयां
३. मूल गोसाईं चरित पष्ठ सं० ३० दोहा १८

आपको आचार्य केशवदास का वंशज बतलाया है। उनकी वंश-परम्परा के उल्लेख का सारांश इस प्रकार है—

ओरछा नगर में सनाढ्य-वंशीय कृष्णदत्त मिश्र रहते थे। कृष्णदत्त जी के पुत्र काशीनाथ जी हुए। काशीनाथ जी के केशवदास एवं कल्याणदास नामक पुत्र हुए। कल्याणदास के पुत्र परमेश्वर हुए तथा परमेश्वर के पुत्र प्रागदास हुए। इन्हीं प्रागदास के पुत्र हरिसेवक मिश्र थे, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन किया।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि हरिसेवक मिश्र के इस प्रकाशित ग्रंथ से केशवदास जी का जीवन-वृत्त समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। अपने समय तक तो केशवदास जी ने अपने ग्रंथों में स्वयं ही वंशावली का उल्लेख किया है। अतः अन्तः साक्ष्य से अधिक इस बहिःसाक्ष्य में जीवन-परिचय नहीं मिलता। हरिसेवक मिश्र यदि केशवदास जी के भाई कल्याणदास की वंश-परम्परा के साथ ही साथ केशवदास जी के पुत्र-पौत्रादि का वर्णन कर देते तो हमें केशवदास जी का जीवन-वृत्त समझने में पूरी-पूरी सहायता मिलती। केशव तथा बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध का विवादास्पद विषय स्पष्ट हो जाता। हो सकता है, आचार्य केशवदास जी की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर ही हरिसेवक मिश्र ने अपना सम्बन्ध उनसे जोड़ने का प्रयत्न किया हो। केशव के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में 'मूल गोसाईंचरित' की भांति इस ग्रंथ से भी निराश होना पड़ता है।

वैराग्यशतक अथवा देवशतक

महाकवि देव की 'देवशतक' नामक रचना में भी केशव-जीवन-सामग्री प्राप्त करने के लिए हमें निराश होना पड़ता है। एक छन्द में कविवर देव ने गंग, बीरबल तथा केशव के काव्य का महत्त्व स्वीकार किया है, साथ ही साथ इस बात का भी प्रतिपादन किया गया है कि राज्याश्रय से कभी किसी व्यक्ति को सुख नहीं मिलता है। वह छन्द निम्न प्रकार है—

"केशव से गंग से प्रसिद्ध कविवर से जे,
कालहि गये न वृथा, कालही बितावहीं।
साहिब की सेवा सुख नाहिन विचारि देखो,
लोभ की उमाहिन पै पीछे पछतावहीं।
कविवर परम प्रवीन वीरवर केसौ,
गंग की सुकविताई गाई सतपाथी ने।

---

१. स्तुम्भ ग्यात हहिगोत होउ मिश्र सनाउड़ वंश, नगर ओडिछे बसतवर क्रस्नदत्त भुवअंस।
क्रस्नदत्त सुन गुन जलद कासिनाथ परवान, तिनके सुत प्रसिद्ध हैं केसवदास कल्यान।
कवि कल्यान के तनय हुव परमेश्वर इहि नाम, तिनके पुत्र प्रसिद्ध हुव प्रागदास इहिनामं।
तिन सुत हरसेवक कियो, यह प्रबन्ध सुखदाई॥

ना० प्र० सभा, खोज रिपोर्ट १६०५ ई०

एक दल सहित बिलौने एक पल ही में,
एक भये भूत, एक मींजि मारे हाथी ने।।"[1]

अर्थात् केशव गंग एवं बीरबल अत्यन्त प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राजाओं की सेवा में समर्पित करके व्यर्थ ही समय नष्ट किया। अन्त में काल द्वारा कवलित कर लिए गए। यह बात अक्षरशः सत्य है। अन्तिम चार पंक्तियों में यथासंख्य अलंकार का आश्रय लेकर कहते हैं कि बीरबल सेना के सहित एक क्षण में मृत्यु के मुख में चले गए, केशवदास जी को प्रेत-योनि मिली और गंग को अकबर ने हाथी के नीचे कुचलवा दिया। तीनों का अन्त में बुरा हाल रहा। प्रस्तुत कवित्त से यही पता चलता है कि केशव अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे, राज्याश्रय में रहते हुए उन्होंने जीवन-यापन किया तथा अन्त में प्रेत-योनि को प्राप्त हुए। प्रेत-योनि वाली बात 'देव' ने जनश्रुति के आधार पर लिखी है।

उपर्युक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि 'मूल गोसाईचरित' 'कामरूप की कथा' और 'वैराग्यशतक' में हमें उस सामग्री के दर्शन नहीं होते जिससे कि केशवदास जी के जीवन-वृत्त को समझने में विशेष सहायता मिले। इनमें केशवदास जी का नामोल्लेख मात्र है।

इस प्रकार के उल्लेख अन्य कवियों की कृतियों में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए रीवां नरेश महाराज रघुराजसिंह का निम्न छन्द लिया जा सकता है, यद्यपि इस छन्द में भक्तवर सूरदास जी की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है—

"मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग,
बेनी, शंभु, तोष, चिन्तामनि, कालिदास की।
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, शुकदेव, देव,
यजनेश, घनानन्द, घनश्याम दास की।
सुन्दर, मुरारी, बोधा, श्रीपति हू दयानिधि,
युगल कवित्त यों गोविन्द केसौदास की।
भनै रघुराज और कवि न अनूठी उक्ति,
मोहि लागी झंठी, जानि जूंठी सूरदास की।।"

जनश्रुतियां

कुछ सरल एवं भावुक जनसमुदाय अपने महान् कलाकारों की स्मृति चिरस्थायी बनाने के लिए उनके जीवन में ऐसे अनेक रोचक आख्यानों का सम्मिश्रण कर लेता है जिनमें मनुष्य की किसी आध्यात्मिक प्रगति का आलंकारिक शैली में उद्घाटन करने के उद्देश्य से पार्थिव इतिवृत्त को केवल आनुषंगिक रूप में ग्रहण किया जाता है। ऐसे आख्यानों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है। महाभारत एवं पुराणों में ऐसी अनेक दन्त-कथाएं मिलती हैं। संस्कृत के कालिदास, भास एवं भवभूति आदि हिन्दी के सूर, तुलसी एवं केशवदास आदि के सम्बन्ध में भी ऐसी दन्त-कथाओं का अभाव

१. वैराग्य शतक, महाकवि देव

नहीं। मध्य काल में यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ी। गोस्वामी तुलसीदास जी एवं भक्त-वर सूरदास जी तो उच्च कोटि के भक्त थे। उन्होंने लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा नामक तीनों ऐषणाओं को तिलांजलि देकर 'स्वान्तः सुखाय' अपनी कविताओं का सृजन किया। अतः उनके सम्बन्ध में तो अनेक जनश्रुतियां प्रसिद्ध हैं। केशवदास जी इन महा-कवियों की भांति न तो उच्च कोटि के भक्त ही थे और न ही उन्होंने तीनों ऐषणाओं को तिलांजलि ही दी थी। परन्तु फिर भी उनके सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां प्रचलित हैं। उनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है—

१. केशवदास जी की रसिकता के सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है:—

"केसव केसनि अस करी, जसि अरिहू न करांहि।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जांहि।।"[1]

यद्यपि केशवदास जी के सम्पूर्ण साहित्य में यह दोहा कहीं भी नहीं मिलता। हो सकता है किसी अज्ञात कवि ने केशव के उपरान्त उनकी मनोवृत्ति का परिचायक यह दोहा बना दिया हो। इस जनश्रुति में तथ्य इतना ही प्रतीत होता है कि केशवदास जी की मनो-वृत्ति शृंगारिक थी तथा वे वृद्धावस्था तक रसिक बने रहे।

२. दूसरी जनश्रुति केशवदास जी की प्रेत-योनि के सम्बन्ध में है। उनके प्रेत होने की चर्चा तो बहुत है और संभवतः इसी कारण उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। यदि केशवदास जी की कविता-सम्बन्धी क्लिष्टता को ही ध्यान में रखना अभीष्ट होता तो 'कठिन काव्य का कवि' सरलता से कहा जा सकता था। केशव का प्रेत के साथ कुछ विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है।

इन्द्रजीतसिंह के हृदय में एक बार यह भावना हुई कि मेरी यही मंडली अनन्त काल तक बनी रहे। केशवदास ने प्रेत-यज्ञ करने की सलाह दी। फलतः सम्पूर्ण मंडली ने अपने जीवन की आहुति प्रेत-यज्ञ में दी। और सब लोगों के साथ केशवदास जी भी प्रेत हो गए। भला केशवदास जी जैसा जीव प्रेत-योनि में कहां सुख पा सकता था! अतः मन न लगने से दुखित रहने लगे। कहते हैं सौभाग्य से गोस्वामी तुलसीदास जी वहां होकर निकले और उन्होंने जल पीने के लिए अपना लोटा कुएं में डाला। केशवदास जी उसी कुएं में थे, अतः गोस्वामी जी के लोटे को उन्होंने पकड़ लिया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लोटा छोड़ने के लिए अनुनय-विनय की परन्तु केशवदास जी ने लोटा नहीं छोड़ा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जब तक तुम मेरा प्रेत-योनि से उद्धार न करोगे तब तक लोटा नहीं छोड़ूंगा। गोस्वामी जी ने प्रेत-योनि से उद्धार पाने के लिए स्वरचित 'रामचंद्रिका' का इक्कीस बार पाठ बतलाया। केशवदास जी स्वरचित 'रामचन्द्रिका' का पाठ करने के लिए तो उद्यत हो गए परन्तु उन्हें रामचन्द्रिका का प्रथम छन्द स्मरण न आता था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जब प्रथम छन्द का स्मरण दिलाया तब केशवदास जी ने 'रामचंद्रिका' का इक्कीस बार पाठ किया। फलतः केशवदास जी को प्रेत-योनि से मुक्ति मिल गई।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ सं० २१६

इस जनश्रुति की न तो अन्तःसाक्ष्य से ही पुष्टि होती है और न किसी इतिहास-ग्रन्थ में ही प्रेत-यज्ञ का उल्लेख मिलता है। अधिक से अधिक इससे इतना ही अर्थ निकाला जा सकता है कि केशवदास जी की मृत्यु गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु से पूर्व हुई थी।

३. तीसरी जनश्रुति बीरबल के मृत्यु-समाचार के सम्बन्ध में है। अकबर बीरबल को हृदय से चाहता था। जिस समय बीरबल को सेना के साथ युद्ध के लिए पश्चिमोत्तर सीमा पर भेजा उस समय अकबर ने घोषणा की कि जो व्यक्ति बीरबल के सम्बन्ध में अनिष्ट-समाचार मुख से निकालेगा उसे भारी दण्ड दिया जाएगा। बीरबल युद्ध में गए और दुर्भाग्यवश मारे गए। अब इस समाचार को सम्राट् अकबर से कहने का किसका साहस था! ऐसी कठिन परिस्थिति में लोगों ने केशवदास जी को उपयुक्त व्यक्ति समझा। केशवदास जी उन दिनों वहीं पर ठहरे हुए थे। उन्हें अपने पाण्डित्य एवं बुद्धिमत्ता पर पूर्ण विश्वास था, अतः प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। केशवदास जी ने अपने विश्वास को कार्यरूप में परिणत करके भी दिखला दिया। कहा जाता है कि सम्राट् अकबर के समक्ष जाकर उन्होंने निम्न प्रकार से बीरबल की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनाया—

"याचक सब भूपति भये, रह्यौ न कोऊ लेन।
इन्द्रहु की इच्छा भई, गयौ बीरबर देन॥"[1]

जनश्रुतियों के सम्बन्ध में इतिहास सदैव मौन रहता है। यह जनश्रुति भी इस नियम का अपवाद नहीं। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार बीरबल की मृत्यु का समाचार राज-प्रथा के अनुसार अकबर के मंत्री ने दिया। इस जनश्रुति में सत्यांश कितना है यह कहना कठिन है परन्तु इतना अवश्य परिलक्षित होता है कि बीरबल बहुत बड़े दानी थे तथा अकबर एवं केशवदास के अभिन्न मित्र थे।

४. इन्द्रजीतसिंह के एक परम सुन्दरी वेश्या थी जिसका नाम प्रवीण राय था। महाकवि केशवदास जी की भी वह प्रिय शिष्या थी। इन्द्रजीतसिंह की इस प्रेयसी के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर सम्राट् अकबर भी उस पर अनुरक्त हुआ। फलतः इन्द्रजीतसिंह के लिए आज्ञा हुई कि वे प्रवीण राय को राज दरबार में भेजें। अकबर की महान् शक्ति का अनुमान करते हुए इन्द्रजीतसिंह ने प्रवीण राय को भेजने का निश्चय कर लिया। क्योंकि न भेजने का परिणाम आपत्ति मोल लेना था। इस निश्चय का पता जब प्रवीण राय को चला तब वह स्वयं इन्द्रजीतसिंह के पास पहुंची और निम्न छन्द सुनाकर इन्द्रजीतसिंह को अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग किया—

"आई हौं बूझन मंत्र तुम्हें, निज श्वासन सों सिगरी मति खोई।
देह तजौं कि तजौं कुल कानि, हिये न लजौं लजिहैं सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ कौ पथ चित्त विचारि कहौ तुम सोई।
जामैं रहै प्रभु की प्रभुता, अरु मोर पतिव्रत भंग न होई॥"[2]

---

१. बुन्देलखण्ड-वैभव, प्रथम भाग, पृष्ठ संख्या १६१
२. मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ संख्या ३४६

छन्द सुनकर इन्द्रजीतसिंह अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग ही नहीं हुए अपितु उन्होंने प्रवीण राय को न भेजने का पूर्ण निश्चय कर लिया। सम्राट् अकबर को जब यह बात ज्ञात हुई तो उसने इन्द्रजीतसिंह पर एक करोड़ रुपया जुरमाना कर दिया। अपने आश्रयदाता पर आई हुई आपत्ति को उठाने का केशवदास जी ने बीड़ा उठाया। कहा जाता है कि इस जुरमाने को माफ कराने के सम्बन्ध में उनकी प्रथम बार बीरबल से भेंट हुई और उन्होंने बीरबल की प्रशंसा में निम्न छन्द पढ़ा—

"पावक, पंछी, पशू, नर, नाग, नदी-नद लोक रचे दश चारी।
केशव देव अदेव रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी॥
कै बर बीरबली बलबीर भयो कृतकृत्य महाव्रत धारी।
दै करतापन आपन ताहि दई करतार दुवौ करतारी॥"[१]

छन्द को सुनकर बीरबल अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा छह लाख रुपये की हुंडियां जो उस समय उनकी जेब में पड़ी हुई थीं केशवदास जी को समर्पित कर दीं। केशवदास जी ने उन्हें नतमस्तक होकर स्वीकार करते हुए निम्न छन्द बीरबल को सुनाया—

"केशवदास के भाल लिख्यौ विधि रंक कौ अंक बनाय सँवार्यौ।
धोये धुवै नहिं छूटौ छुटै बहु तीरथ के जल जाय पखार्यौ॥
ह्वै गयौ रंक ते राव तहीं तब बीरबली बरबीर निहार्यौ।
भूलि गयौ जग की रचना चतुरानन थाम रह्यौ मुख चार्यौ॥"[२]

बीरबल ने प्रसन्न होकर केशवदास से कुछ मांगने को कहा। उन्होंने कुछ न मांगकर यही कहा कि मैं आपके दरबार में बिना रोक-टोक के जा सकूं।[3] बीरबल ने अपनी बुद्धिमत्ता से समय पाकर एक करोड़ रुपये का जुर्माना सम्राट् अकबर से माफ करा दिया। इन्द्रजीतसिंह की प्रेयसी प्रवीण राय को दरबार में उपस्थित अवश्य होना पड़ा। दरबार में पहुंचकर प्रवीण राय ने अपनी कवित्व-शक्ति एवं बुद्धिमत्ता के बल पर अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा की। कहा जाता है कि संवाद निम्न प्रकार हुआ :—

सम्राट् :—**"युवन चलत तिय देह की, चटक चलत केहि हेत।"**
प्रवीण :—**"मन्मथ वारि मसाल को सँति सिहारे लेत।"**
सम्राट् :—**"ऊंचे ह्वै सुर बस किये, सम ह्वै नर बस कीन्ह।"**
प्रवीण :—**"अब पताल वश करनि को ढरकि पयानौ कीन्ह।"**

अन्त में प्रवीण राय ने प्रार्थना करते हुए निम्न दोहा सुनाया :—

"विनती राय प्रवीन की, सुनिये शाह सुजान।
जूठी पतरी भखत हैं, बारी वायस स्वान।"[४]

१. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ संख्या ४५४
२. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ संख्या ४५४, ५५
३. यों ही कह्यौ जु बीरबल, मांगि जु मन में होय।
मांग्यौ तव दरबार में मोहि न रोकै कोय॥"—हिन्दी नवरत्न पृ० ४६१
४. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २१२

फिर क्या था 'जूठी पतरी भखत हैं, वारी वायस स्वान' की चोट खाकर सम्राट् अकबर होश में आ गया। फलतः प्रवीण राय इन्द्रजीतसिंह के यहां वापस चली आई।

इस जनश्रुति में सत्यांश कितना है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता परन्तु इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बीरबल का केशवदास जी से परिचय था और वे बड़े गुणग्राही एवं दानी थे। सम्भव है कि अकबर ने प्रवीण राय को अपने दरबार में बुलवाया हो। अकबर का बीरबल पर अत्यन्त विश्वास तथा स्नेह था। अतः बीरबल के कहने पर अकबर ने इन्द्रजीतसिंह का जुरमाना माफ कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

ऐतिहासिक ग्रन्थ

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में 'आ-इ-ने अकबरी' 'मुन्तखिब्-उल्-तवारीख' 'मुन्शियात अबुलफजल' तथा 'जहांगीर नामा' नामक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन सब ग्रन्थों में तत्कालीन, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। परन्तु खेद का विषय है कि केशवदास जैसे दरबारी कवि का इन इतिहासों में नामोल्लेख भी नहीं है। 'आ-इ-ने अकबरी' में ५९ कवियों के नाम राजकवि के रूप में दिए गए हैं। इन राजकवियों के अतिरिक्त पंद्रह कवियों के नाम और दिए हैं जो दरबार में उपस्थित नहीं होते थे, परन्तु अपनी रचनाओं को सम्राट् अकबर की सेवा में भेजते थे। इन सब कवियों में केशव का नाम नहीं है।[1]

आधुनिक ऐतिहासिक ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१—मध्ययुग का इतिहास (डा० ईश्वरीप्रसाद)

२—मुगलकालीन भारत (डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव)

३—इलियट एण्ड डाउसन भाग ६

४—ओरछा गजेटियर भाग ६ अ (कैप्टेन सी० ई० लुअर्ड एम० ए० औक्सन)

५—अकबर टू औरंगजेब (मोरलैंड)

६—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ४

७—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास (गोरेलाल तिवारी)

८—बुन्देल-वैभव प्रथम भाग (गौरीशंकर द्विवेदी)

ये ग्रन्थ प्रायः प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर ही लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों में भी राजनीतिक घटनाओं पर विशेष बल दिया गया है। जैसे रतनसिंह का मारा जाना, अबुलफजल का वध इत्यादि। केशव का तो उल्लेख-मात्र है। जो विवरण दिया गया है वह भी अन्तःसाक्ष्य के आधार पर है। 'बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास' तथा 'बुन्देल-वैभव' नामक ग्रन्थों में केशवदास जी के जीवन पर प्रकाश डाला गया है परन्तु

१. आ-इ-ने अकबरी, पृष्ठ ३८०, अनुवादक एच० ब्लौक मैन, द्वितीय संस्करण १९३९ ई०

केशव के जीवन-वृत्त सम्बन्धी विवादास्पद ग्रन्थियों को सुलझाने में ये ग्रन्थ विशेष सहायक नहीं होते।

खोज रिपोर्ट—हिन्दी साहित्य के इतिहास

१—खोज रिपोर्ट (काशी नागरीप्रचारिणी सभा)
२—शिवसिंह सरोज (शिवसिंह सेंगर)
३—माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान (सर जॉर्ज ग्रियर्सन)
४—मिश्रबन्धु-विनोद (मिश्रबन्धु)
५—हिन्दी नवरत्न (मिश्रबन्धु)
६—हिन्दी साहित्य (डा० श्यामसुन्दरदास)
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)
८—हिन्दी के कवि और काव्य (गणेशशंकर द्विवेदी)
९—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा)
१०—हिंन्दी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

उपर्युक्त हिन्दी साहित्य के इतिहासों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे इतिहास-ग्रन्थ हैं जिनमें केशव का जीवन-वृत्त परम्परा के अनुकूल दिया गया है। खोज-रिपोर्ट तथा हिन्दी साहित्य के इतिहासों में जो जीवन-वृत्त दिया गया है वह निम्न प्रकार है—

खोज-रिपोर्ट

केशवदास जी का जन्म संवत् १६१२ विक्रमीय के लगभग टेहरी में हुआ था। इनकी कुल-परम्परा में कविता का वरदान था। ये ओरछा-नरेश के दरबारी कवि, मंत्र-गुरु एवं मंत्री थे। वीरसिंहदेव के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के दरबार में इन्होंने बहुत सम्मान पाया। कहा जाता है कि इन्होंने अपनी नीति-कुशलता एवं सभाचातुरी से इन्द्रजीतसिंह पर अकबर के द्वारा किया गया एक करोड़ रुपये का जुरमाना माफ करा दिया था।[1]

शिवसिंह सरोज

इनका प्राचीन निवास टेहरी था। राजा मधुकरशाह ओरछा वाले के यहां आए और वहां इनका बड़ा सम्मान हुआ। राजा इन्द्रजीतसिह ने इक्कीस गांव संकल्प कर दिए तब कुटुम्ब सहित ओड़छे में रहने लगे।[2]

प्रवीण राय एवं अकबर सम्बन्धी जनश्रुति के सम्बन्ध में सरोजकार कहते हैं—"जब अकबर बादशाह ने प्रवीण राय पातुर के हाज़िर न होने, उदूल हुक्मी और लड़ाई के कारण राजा इन्द्रजीतसिंह पर करोड़ रुपये का जुरमाना किया। तब केशवदास जी ने छिपकर राजा बीरबल मंत्री से मुलाकात की और बीरबल की प्रशंसा में 'दियो करतार

१. सर्च फौर हिन्दी मैन्युस्क्रिप्टस १९०६—८, पृष्ठ ७
२. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ संख्या ३८५-३८६

दुहू करतारी' यह कवित्त पढ़ा। तब राजा बीरबल ने महाप्रसन्न होकर जुरमाना माफ कराया। परन्तु प्रवीण राय को दरबार में आना पड़ा।[1]

मिश्रबन्धु-विनोद

ये महाशय सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म ओरछे में सं० १६१२ वि० के लगभग हुआ था। प्रसिद्ध कवि बलभद्र इनके भाई थे। ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह के यहां इनका विशेष आदर था। आपने महाराज बीरबल द्वारा अकबर के यहां से इन्द्रजीतसिंह पर एक करोड़ रुपयों का जुरमाना माफ करा दिया था। इनके शरीरान्त का समय सं० १६७४ वि० ठहरता है।[2]

हिन्दी-नवरत्न

मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में केशव का जन्मकाल सं० १६१२ वि० माना था परन्तु इस ग्रन्थ में इनका जन्मकाल सं० १६०८ वि० माना है।[3] इस ग्रन्थ में प्रवीण-राय एवं अकबर वाली जनश्रुति सविस्तार दी हुई है।[4]

हिन्दी साहित्य

केशवदास ने अपना और अपने वंश का परिचय अपने अनेक ग्रंथों में दिया है। उसके आधार पर यह विदित होता है कि रुद्रप्रताप नामक एक सूर्यवंशी राजा के यहां केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र नियुक्त थे। इन्हीं रुद्रप्रताप के पुत्र मधुकरशाह हुए और इन्होंने केशवदास के पिता श्री काशीनाथ मिश्र का बड़ा सम्मान किया। इन्हीं मधुकर शाह के पुत्र रामशाह ओरछे के राजा हुए और इन्होंने राज्य का सब भार अपने भाई इन्द्रजीतसिंह के ऊपर छोड़ दिया था। इन्हीं महाराज इन्द्रजीतसिंह के आश्रय में केशवदास रहा करते थे।[5]

हिन्दी साहित्य का इतिहास

ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म-संवत् १६१२ वि० में और मृत्यु सं० १६७४ वि० के आसपास हुई। ओरछा नरेश महा-राज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की सभा में ये रहते थे। वहां इनका बहुत मान था। इनके घराने में बराबर संस्कृत के पंडित होते आए थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे।[6]

हिन्दी के कवि और काव्य

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी केशवदास जी का जन्म सं० १६०८ वि० मानते हैं।[7]

---

१. शिवसिंह सरोज, पृ० सं० ३८६
२. मिश्रबन्धु विनोद प्रथम भाग, पृष्ठ सं० २७४
३. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ सं० ४५३, मिश्रबन्धु
४. हिन्दी नवरत्न, पृ० ४५४, मिश्रबन्धु
५. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ संख्या २४६, पंचम संस्करण, डा० श्यामसुन्दरदास
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २०७, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
७. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ १८१

आगे चलकर लिखते हैं :—

'भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान इनके जन्म-काल के संबंध में किए हैं परन्तु प्रायः इन सभी अनुमानों की आधार-भित्ति एक ही है। इस बात को केशव से परिचित होने वाले सभी विद्वान् जानते हैं कि उन्होंने अपनी आयु का एक बड़ा भाग बिताने के बाद काव्य-रचना में हाथ लगाया। संस्कृत कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जिसमें कोई कम से कम तीस-पैंतीस वर्ष की अवस्था से पहले इतना ज्ञान-गाम्भीर्य प्राप्त कर सके जितना कि केशव ने किया था।[1]

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

खोज रिपोर्ट के अनुसार डा० रामकुमार वर्मा ने भी केशव का जन्म-स्थान टेहरी तथा जन्मकाल सं० १६१२ वि० के लगभग बतलाया है। शेष विवरण अन्तःसाक्ष्य के अनुसार ही दिया गया है।[2]

हिन्दी साहित्य

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जन्म मरण के संवतों पर विशेष महत्व नहीं दिया। उन्होंने 'रतनबावनी' को केशवदास जी की आरम्भिक रचना अवश्य माना है—

'इस पुस्तक की कुछ घटनाओं के साथ केशव की अन्य पुस्तकों में वर्णित घटनाओं का मेल न देखकर समझा जाता है कि इसका कुछ अंश अवश्य प्रक्षिप्त है। इसमें नाम को देखते हुए छन्दों की संख्या बावन होनी चाहिए पर अभी जो पुस्तक प्राप्त हुई है उसमें यह संख्या अड़सठ है। इससे भी अनुमान होता है कि कुछ अंश इसका प्रक्षिप्त है। यह केशवदास की आरम्भिक रचना है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१—जन्मभूमि सम्बन्धी विचार

२—जन्म संवत् संबंधी नाना मत

३—अन्तःसाक्ष्य के आधार पर दिया हुआ विवरण

४—निधन

१. खोज रिपोर्ट, शिवसिंह सरोज तथा हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में केशवदास जी का जन्म-स्थान टेहरी बतलाया है और यह भी बतलाया है कि राजा मधुकरशाह के समय में ये ओरछा आए थे। अन्तःसाक्ष्य से इस कथन की पुष्टि नहीं होती। केशवदास जी के पितामह रुद्र प्रतापसिंह के समय में भी पुराण-वृत्ति पर नियुक्त थे तथा उनके पिता काशीनाथ मिश्र मधुकरशाह के समय में रहे।[4] ऐसी स्थिति में यह कहना कि मधुकर शाह के समय में केशवदास आए थे, समीचीन प्रतीत नहीं होता। डा०श्यामसुन्दर

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठसंख्या १८२

२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ संख्या ६६३

३. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २४५, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

४. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव छन्द, १७-१८

दास एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने केशवदास की जन्मभूमि ओरछा ही मानी है।

२–'शिवसिंह सरोज' में जन्म संवत् १६२४ वि० दिया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा तथा मिश्रबन्धुओं ने केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' में जन्म काल सं० १६१२ वि० माना है। आगे चलकर 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने जन्म-काल सं० १६०८ माना है। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने भी जन्म संवत् १६०८ वि० ही माना है। परन्तु खेद का विषय है कि विद्वान् लेखकों ने अपने मत के समर्थन में पुष्ट प्रमाण नहीं दिए।

३. प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने उन्हीं जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का विशेष विवरण दिया है जिनका कि उल्लेख केशव के ग्रन्थों में मिलता है।

४. निधन के संबंध में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं परन्तु प्रायः सभी विद्वान् संवत् १६७० वि० से सं० १६८० वि० के बीच में ही केशवदास का निधन मानते हैं।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

सूर और तुलसी के साथ जिस व्यक्ति का नाम आदर के साथ लिया जाता है वह हैं आचार्य केशवदास। सूत्र रूप में जनमत सदैव से महाकवियों की कृतियों का मूल्यांकन करता आया है। संस्कृत की 'उपमा कालिदासस्य' तथा 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' वाली प्रवृत्ति हिन्दी में भी आई। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप निम्न उक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं—

१—"सूर सूर तुलसी ससी उड्गन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहं तहं करत प्रकास॥"
२—"कविता कर्त्ता तीन हैं, तुलसी केसव सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला विनत मजूर॥"
३—"सुन्दर पद कवि गंग को, उपमा को बलवीर।
केशव अर्थ गंभीर को, सूर तीन गुन तीर॥"
४—"कवि को न चाहत देन विदाई।
पूछे केसव की कविताई॥"

उपर्युक्त उक्तियों को सुव्यवस्थित आलोचना नहीं कहा जा सकता। आलोचनात्मक ढंग से केशव पर राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास तथा जगन्नाथदास रत्नाकर ने विचार किया। केशव एवं बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध को लेकर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गए। ये सब आलोचनात्मक सामग्री प्रस्तुत करने के प्रथम प्रयास कहे जा सकते हैं। स्वर्गीय लाला भगवानदीन का कार्य केशवदास के सम्बन्ध में सराहनीय है। उन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध एवं भूमिकाएं आदि लिखकर केशव की आलोचना का प्रशस्त मार्ग बनाया। आलोचना के क्षेत्र में केशव के प्रति सहानुभूति पूर्ण नवीन दृष्टि-

कोण लेकर लालाजी अवतरित हुए। पाश्चात्य वैज्ञानिक आलोचात्मक ढंग से लिखी हुई सबसे पहली पुस्तक प्रो० कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्यकला' है। इसके पश्चात् केशव के विषय में अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रणीत हुए। इस प्रकार अब तक उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

१. केशव-पंच-रत्न की आकाशिका (स्व० लाला भगवानदीन)
२. रामचन्द्रिका की भूमिका (श्री पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)
३. संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका (प्रो० जगन्नाथ तिवारी)
४. केशव की काव्यकला (प्रो० कृष्णशंकर शुक्ल)
५. केशव : एक अध्ययन (डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण')
६. केशवदास : एक अध्ययन (प्रो० रामरतन भटनागर)
७. आचार्य केशवदास (डा० हीरालाल दीक्षित)
८. केशवदास (श्री चन्द्रबली पांडे)
९. आचार्य कवि केशव (प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा)

स्वर्गीय लाला भगवानदीन केशव पंचरत्न की आकाशिका में लिखते हैं—

'केशवदास जी सनाढ्य ब्राह्मण भारद्वाज गोत्री मिश्रअल्ल के थे। ओरछा (बुन्देलखण्ड) निवासी काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे। इनका जन्म चैत्र संवत् १६१८ वि० में हुआ। इनके बड़े भाई का नाम बलभद्र और छोटे भाई का नाम कल्याण था।'[1]

लालाजी के अनुसार जन्म संवत् १६१८ वि० है। केशवदास जी की द्वितीय रचना 'रसिकप्रिया' का रचनाकाल सं० १६४८ वि० है। इस प्रकार केशवदास जी ने तीस वर्ष की अवस्था में इस ग्रन्थ की रचना की। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल 'रामचन्द्रिका की भूमिका' में स्वर्गीय लाला जी की भांति जन्म संवत् १६१८ वि० ही मानते हैं[2] परन्तु मृत्युकाल के सम्बन्ध में वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते। वे लिखते हैं—

'केशवदास की मृत्यु संवत् १६६९ और १६८० वि० के बीच में किसी समय हुई होगी।'[3]

'संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका' में प्रो० जगन्नाथ तिवारी लिखते हैं—'केशवदास के पिता काशीनाथ मिश्र तथा पितामह कृष्णदत्त मिश्र संस्कृत शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे और उनकी अत्यन्त अधिक विख्याति थी। इन्हीं कृष्णदत्त मिश्र को तत्कालीन ओरछा नरेश रुद्रप्रताप जी ने अपने यहां बुलाकर पुराण-वृत्ति पर नियुक्त किया था।'[4]

जन्म एवं मरण के विवाद को न लेते हुए उन्होंने लिखा है—

'पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका जन्म सं० १६१२ में और मृत्यु सं०

---

१. केशव-पंचरत्न की आकाशिका, पृष्ठ २
२. रामचन्द्रिका की भूमिका, पृष्ठ २
३. रामचन्द्रिका की भूमिका, पृष्ठ ८
४. संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका, पृष्ठ १

१६७४ के आसपास हुई थी।'[१]

आलोचना के क्षेत्र में लाला भगवानदीन जी के उपरान्त दूसरे व्यक्ति प्रो० जगन्नाथ तिवारी हैं जिन्होंने केशवदास जी की आलोचना में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखा है। आलोचना के क्षेत्र में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना नितान्त आवश्यक है। सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से हमारा अभिप्राय यह नहीं कि अवगुण छोड़ दिए जाएं। प्रो० तिवारीजी ने जीवन-वृत्त को सविस्तार नहीं लिया, काव्यगत आलोचना पर ही आपकी दृष्टि विशेष रूप से रही है।

प्रो० कृष्णशंकर शुक्ल 'केशव की काव्यकला' में लिखते हैं—

'सूर्यवंश की गहरवार शाखा में वीरसिंह नामक एक राजा हुए थे। उनकी बत्तीसवीं पीढ़ी में रुद्रप्रताप नामक एक राजा हुए जिन्होंने केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र को अपने यहां पुराणवृत्ति पर नियुक्त किया।'[२]

डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' 'केशव : एक अध्ययन' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'महाकवि केशवदास का जन्म सं० १६१२ के लगभग ओरछा में हुआ था। इनके पिता काशीनाथ जी सनाढ्य कुलभूषण कृष्णदत्त जी के पुत्र थे। प्रसिद्ध कवि बलभद्र को इनका बड़ा भाई बतलाया जाता है। संस्कृत की विद्वत्ता केशव की परम्परागत सम्पत्ति थी। बलभद्र से राजा मधुकरशाह बालकपन से ही पुराणों की कथा सुना करते थे। कह नहीं सकते कि केशव के कथन में कहां तक सत्य है कि उनके कुल के सेवक तक भाषा नहीं बोल सकते थे।'[3]

डा०रामरतन भटनागर 'केशवदास : एक अध्ययन' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

केशवदास की जीवनी में गुत्थियां बहुत कम हैं। समसामयिक भक्त की तरह सूरदास और तुलसीदास की भांति उन्होंने अपने जीवनवृत्त को अन्धकार में नहीं रखना चाहा। इसीलिए 'कविप्रिया' में केशव ने पहले दो प्रभावों में अपने आश्रयदाताओं के वंशों का विस्तारपूर्ण वर्णन किया है।[४] प्रो० कृष्णचन्द्र ने 'आचार्य कवि केशव' नामक ग्रंथ में वही कहा है जो अन्य ग्रंथों में कहा गया है।

प्रो० कृष्णशंकर शुक्ल, डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' तथा डा० रामरतन भटनागर व प्रो० कृष्णचन्द्र ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जन्म-मरण सम्बन्धी संवतों का ही अनुमोदन किया है। जीवन-वृत्त भी अन्तःसाक्ष्य के आधार पर संक्षेप में दिया गया है। इन पुस्तकों का आलोचनात्मक महत्त्व भले ही हो परन्तु जीवन-वृत्त सम्बन्धी सामग्री के लिए हमें निराश ही होना पड़ता है।

---

१. संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका, पृष्ठ ४
१. केशव : की काव्य कला, पृष्ठ १
३. केशव : एक अध्ययन, पृ० १
४. केशवदास : एक अध्ययन, पृ० १

डा० हीरालाल दीक्षित अपने प्रबन्ध 'आचार्य केशवदास' में लिखते हैं— 'प्रकारांतर से भी केशवदासजी का जन्म सं १६१२ वि० मानना अधिक समीचीन है। महाराज इन्द्रजीतसिंह का जन्म सं० १६२० वि० माना गया है। अतएव 'रसिकप्रिया' की रचना के समय उनकी आयु लगभग २८ वर्ष की होती है। केशव के ही कथनानुसार इन्द्रजीतसिंह उन्हें गुरुवत् मानते थे।[1]

अतएव केशव की आयु उनसे निश्चय ही अधिक रही होगी। किन्तु इन्द्रजीतसिंह के लिए 'रसिकप्रिया' जैसे शृंगारिक ग्रंथ की रचना यह बतलाती है कि दोनों की आयु में बहुत अधिक अंतर न था। 'रसिकप्रिया' की रचना के समय केशवदास और इन्द्रजीतसिंह की आयु में अधिक से अधिक सात-आठ वर्ष का अंतर रहा होगा। इस प्रकार भी केशवदास का जन्म संवत् लगभग १६१२ विक्रमीय ही मानना समीचीन है।[2]

सबसे पहले तो यह बात है कि गुरु बनने के लिए आयु का अधिक होना इतना आवश्यक नहीं जितना कि गुणों में अधिक होना—योग्यता में अधिक होना। क्योंकि—

"गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः।"[3]

दूसरे, केशवदासजी ब्राह्मण थे और इन्द्रजीतसिंह क्षत्रिय। ब्राह्मण सदैव पूज्य होता है चाहे वह अवस्था में बालक ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त वंश-परम्परा से गुरु कहलाने वाले बालक भी गुरु माने जाते हैं।

तीसरे, डा० साहब स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'रसिकप्रिया' जैसे शृंगारिक ग्रंथ की रचना यह बतलाती है कि दोनों की आयु में बहुत अधिक अन्तर न था। 'बहुत अधिक अंतर न था' में डा० साहब सात-आठ वर्ष ही क्यों लेते हैं दो वर्ष लेना ही अधिक समीचीन रहेगा। अतः जन्म संवत् १६१८ मानने पर भी केशवदास के गुरुत्व तथा इन्द्रजीतसिंह के शिष्यत्व पर कोई आघात नहीं पहुंचता। स्पष्ट है डा०साहब के इस तर्क में कोई बल नहीं है।

मृत्युकाल के सम्बन्ध में डा० साहब लिखते हैं—

'संभवतः केशवदासजी संवत् १६६९ वि० के बाद भी कुछ वर्ष जीवित रहे। इस प्रकार केशव की मृत्यु सं० १६७४ वि० में मानना ही अधिक उपयुक्त है।[4]

मृत्यु के सम्बन्ध में भी डा० साहब ने न तो कोई पुष्ट प्रमाण ही दिया है और न कोई निजी निष्कर्ष ही निकाला है। क्योंकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मरण सं० १६७४ वि० माना था, उसीका अनुमोदन डा० साहब ने किया है यद्यपि आचार्य शुक्ल ने भी जन्म-मरण के संवतों के लिए प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए।

श्री चन्द्रबली पांडे अपने 'केशवदास' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

'यद्यपि केशवदास के वंश परिचय, जन्म मरण का ठीक-ठीक पता नहीं तथापि

---

१. 'गुरु करि मानो इन्द्रजीत तन मन कृपा विचारि' —आचार्य केशवदास, पृ० ३२ और कविप्रिया, पृ० सं० २१

२. आचार्य केशवदास, पृष्ठ सं० ३२

३. उत्तररामचरितम्, भवभूति

४. आचार्य केशवदास, पृ० ३३

उन्होंने अपने काव्यों में इतना कुछ कह दिया है कि हम उनके सहारे उनके जीवन को भली भांति समझ सकते हैं। केशवदास ने जहां-तहां अपने ग्रंथों में बहुत कुछ स्पष्ट रूप में लिख दिया है। अतएव उसके आधार पर उनकी जीवनी को खड़ा करना सरल होगया है।'[1]

अंतःसाक्ष्य के आधार पर जीवन-वृत्त देते हुए पांडे जी मृत्युकाल के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

'रचना की दृष्टि से कहा जा सकता है कि संवत् १६६९ के उपरान्त उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं। निदान इसी के पश्चात् कभी उनका निधन भी हुआ होगा। कब हुआ! कह नहीं सकते। पर हुआ कभी १६७० वि० के आसपास है ऐसा जान पड़ता है। कुछ भी हो केशव का जन्म सं० १६१८ कहा गया है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी 'दीन' ने जाने किस आधार पर इनका जन्म चैत्र सं० १६१८ माना है। यदि यह ठीक है तो इनका निधन कम से कम ५२ वर्ष की अवस्था के उपरान्त ही हुआ।[2]

श्री पांडे जी ने जीवन-मरण के प्रश्न को सविस्तार नहीं लिया। हां, केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जन्म-मरण के संवतों में स्वयं अपना मत नहीं दिया। जन्म के सम्बन्ध में स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी का अनुमोदन करते हैं तो मरण के सम्बन्घ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का। शेष जीवन-वृत्त अंतःसाक्ष्य के आधार पर दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि आलोचनात्मक ग्रंथों में प्रायः काव्यगत आलोचना की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ आलोचकों ने तो परिपाटी की पूर्ति करने के लिए ही अपनी लेखनी चलाई है। कुछ विद्वानों ने प्रायः रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्धारित जन्म-मरण संवतों को यथार्थ मानकर जन्म-मरण संवत् लिख दिए हैं। जीवन घटनाओं के सम्बन्ध में भी आलोचनात्मक ग्रंथों में अधिक सामग्री नहीं मिलती है। प्रायः विद्वानों ने परम्परा का निर्वाहमात्र सा किया है।

अब हम आचार्य केशवदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

जन्मतिथि

हम पहले कह चुके हैं कि केशवदास जी की जन्मतिथि विवादग्रस्त है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जन्मकाल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अनुमान लगाए हैं। 'रसिकप्रिया' के रचनाकाल को केशवदास जी की जन्मतिथि-निर्धारण में आधार माना है। 'हिन्दी नवरत्न' में इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है—

'केशवदास ने संवत् १६४८ विक्रमीय में 'रसिकप्रिया' बनाई। इससे विचार यह उठता है कि संभवतः चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया होगा। अतः अनुमान से जान पड़ता है कि इनका जन्म संवत् १६०८ वि० के लगभग हुआ होगा।[3]

१. केशवदास, पृष्ठ १ चन्द्रबली पांडे
२. केशवदास पृष्ठ ४१, चन्द्रबली पांडे
३. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ४५७

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी अपने 'हिन्दी के कवि और काव्य' नामक ग्रन्थ में 'रसिकप्रिया' के रचना काल के सम्बन्ध में कहते हैं:—

'इनकी अवस्था इस समय चालीस के कम कदापि ही रही हो। इसी विचारधारा के अनुसार इनका जन्म संवत् १६०८ वि० के लगभग माना जाता है।'[1]

डा० हीरालाल दीक्षित केशवदास जी का जन्म 'रसिकप्रिया' की रचना के लगभग पेंतीस-छत्तीस वर्ष पूर्व अर्थात् सं० १६१२ वि० में मानते हैं।[2]

उपर्युक्त तीनों विद्वानों ने 'रसिकप्रिया' को केशव की प्रथम रचना मानकर उनकी जन्म तिथि का अनुमान लगाया है। मिश्रबन्धु तथा गणेशप्रसाद द्विवेदी दोनों ही सं १६०८ वि० में केशव की जन्मतिथि मानते हैं। दोनों ही के अनुसार 'संस्कृत-ज्ञान के लिए चालीस वर्ष आवश्यक हैं।' डा० हीरालाल दीक्षित ने जन्म संवत् १६१२ वि० माना है अतः उनके अनुसार भी छत्तीस वर्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है। हम मानते हैं कि केशवदासजी संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान थे परन्तु साथ ही साथ हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि वे प्रतिभाशाली व्यक्ति भी थे। प्रतिभालब्ध व्यक्ति के लिए इतने वर्ष संस्कृत के ज्ञान में नही लगाए जा सकते। शंकराचार्य तेईस वर्ष की अवस्था में ही जगद्गुरु की उपाधि पा गए थे। वल्लभाचार्य जी ने दस वर्ष की अवस्था में ही शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पैंतीस वर्ष की अवस्था में ही अनेक ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने को हिन्दी साहित्य में अमर कर गए। सिकन्दर बत्तीस वर्ष की आयु में ही इतिहास में अमर हो गया। कीट्स तथा शेली ने अल्पायु में ही अंग्रेजी साहित्य को प्रभावित किया। गेलीलियो ने अठारह वर्ष की अवस्था में ही पेंडुलम के सिद्धान्त का आविष्कार किया और दूरबीन तथा खुर्दबीन को बनाकर संसार को चमत्कृत किया। प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जिन्होंने अल्पायु होते हुए भी अपने को संसार में अमर कर दिया।

प्रतिभा के अतिरिक्त केशवदासजी के वंश में पाण्डित्य की परम्परा पीढ़ियों से चली आ रही थी। 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ इनके ही पूर्वज भाऊराम की रचना है। इनके पिता जी काशीनाथ मिश्र ने ज्योतिष की प्रसिद्ध पुस्तक 'शीघ्रबोध' का प्रणयन किया। कुछ लोगों की सम्मति में 'प्रसन्नराघव' के प्रसिद्ध लेखक जयदेव इनके पूर्वज थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने 'नखशिख', 'भागवत भाष्य' तथा 'हनुमन्नाटक' टीका आदि की रचना की। भाषा में कविता लिखने के कारण वे मन ही मन एक प्रकार की हीन-भावना का अनुभव करते थे। अपने कुल के पांडित्य के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है—

"भाषा बोलि न जानई, जिनके कुल को दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तिहि कुल केसवदास॥"[3]

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ १८३
२. आचार्य केशवदास, पष्ठ ३१
३. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १७

कहने का अभिप्राय यह है कि मिश्रबन्धुओं तथा गणेशप्रसाद द्विवेदी ने चालीस एवं डा० हीरालाल दीक्षित ने जो छत्तीस वर्ष माने हैं वे अत्यन्त अधिक हैं।

हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि 'रतनबावनी' केशवदास जी की प्रथम रचना है और उसका रचना काल सं० १६३८ वि० के लगभग है। इस प्रकार बीस वर्ष की अवस्था में केशव ने 'रतनबावनी' की रचना की तथा तीस वर्ष की अवस्था में 'रसिकप्रिया' की रचना की। अतः केशवदास जी की जन्मतिथि सं० १६१८ वि० में मानना समीचीन प्रतीत होता है। भाषा, भाव, अलंकार तथा छन्द आदि को दृष्टि में रखते हुए 'रतनबावनी' उच्च कोटि की रचना नहीं है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह उस महाकवि का प्रथम प्रयास है। पं० रामनरेश त्रिपाठी, डा० रामकुमार वर्मा तथा 'के०' महोदय जन्म संवत् १६१२ वि० में मानते हैं। छत्रपुर-निवासी बाबू गोविन्ददास जी के अनुसार केशव का जन्म संवत् १५६४ वि० में हुआ था। सरोजकार ने उनका जन्म सं० १६२४ वि० माना है। हम केशवदास जी का जन्म सं० १६१८ वि० मानते हैं। स्व० लाला भगवानदीन, श्री गौरीशंकर द्विवेदी तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि विद्वानों ने भी केशव का जन्म संवत् १६१८ ही माना है।

निवास-स्थान एवं काव्य क्षेत्र

जैसा कि स्वयं केशवदास जी ने लिखा है कि उनका जन्म प्राचीन विन्ध्यप्रदेश, वर्तमान मध्यप्रदेश की राजधानी ओरछा नगर में हुआ था। उनके घर का भग्नावशेष आज भी व्यासपुर मुहल्ले में देखा जा सकता है, उसके समक्ष एक इमली का पेड़ खड़ा हुआ है। प्रदेश की सीमाएं यमुना से नर्मदा तक और सोन से चम्बल तक मानी जाती हैं और यह समस्त भू-भाग अधिक समय तक ओरछा-राज्य के अधीन था। 'ओरछा' नाम पड़ने के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि जब राजधानी के लिए स्थान निश्चित हो गया तो उसे देखकर एक राजपूत ने कहा 'उंडछे'[1] अर्थात् यह स्थान नीचा है। फिर क्या था उसी समय इसका नाम ओरछा पड़ गया। टीकमगढ़ का नाम भी पहले टेहरी था। परन्तु सं० १८४० वि० में विक्रमाजीत ने कृष्ण भगवान् के एक नाम 'रणछोर टीकम' के आधार पर टीकमगढ़ इसका नामकरण किया। बुन्देलखण्ड को भी पहले 'जेजा मुक्ति' और 'जंझेती' कहते थे परन्तु वहां बहुत दिनों से बुन्देल ठाकुरों का राज्य रहा। अतः 'बुन्देलखण्ड' कहलाने लगा। बुन्देला राजा महाराज रुद्रप्रतापसिंह ने सं० १५८८ वि० में ओरछा को अपनी राजधानी बनाया था और उसी समय केशवदास के पितामह जो पहले ब्रजमण्डलान्तर्गत 'डींग' (कुम्हेर) नामक ग्राम वर्तमान राजस्थान में रहते थे, पुराण-वृत्ति पर नियुक्त हुए[2]।

"नृप प्रतापरुद्र सु भए, तिनकें जनु रन रुद्र।
दयादान को कल्पतरु, गुननिधि सील समुद्र।

१. ओरछा स्टेट गजेटियर, पृष्ठ २

२. बुन्देलखण्ड का इतिहास, गोरेलाल तिवारी, पृष्ठ ११४

नगर ओरछौ जिन रच्यौ, जग में जागति कृत्ति ।।"[१]

ओरछा की स्थिति एवं महत्त्व के सम्बन्ध में केशवदास कहते हैं—

"नदी बेतवे-तीर जहँ, तीरथ तुंगारन्य ।
नगर ओडछो बहु बसै, धरनीतल में धन्य ।।
दिन प्रति जहं दूनौ लहैं, जहां दया अरु दान ।
एक तहां केसव सुकवि, जानत सकल जहान ।।[२]

नगर में अनेकों पंडित थे—

"केशव तुंगारन्य में, नदी बेतवे तीर ।
जहांगीरपुर बहु बसै, पंडित मंडित भीर ।।"[3]

इस ऐतिहासिक ओरछा-राज्य की भूमि को प्रकृति ने उदारतापूर्वक सजा रखा है। यदि कहीं बेतवा (वेत्रवती) कलकल ध्वनि करती बह रही है तो कहीं दसारण (दशार्ण) की रम्य पहाड़ियां एवं निर्झर मन को मोह लेते हैं। लहरें मारती हुई वीरसागर एवं मदनसागर आदि झीलें मानो सागर की समानता करना चाहती हैं। केशवदास की ओरछा-छटा देखिए जिस पर सारा संसार न्यौछावर हो रहा है—

"चहूं भाग बाग वन मानहु सघन घन ।
सोभा की सी साला, हंसमाला सी सरितवर ।।
ऊंचे ऊंचे अटनि पताका अति ऊंची जनु ।
कौसिक की कीनी गंगा खेलत तरल तर ।।
आपने सुखनि आगे निन्दत नरिन्द और ।
घर घर देखियत देवता से नारि-नर ।।
केसोदास त्रास जहां केवल अदिष्ट ही को ।
वारिये नगर और ओडछे नगर पर ।।"[४]

गंगा एवं यमुना के समान बेतवा (वेत्रवती) का भी चित्रण देखिए—

"ओड़छे तीर तरंगिणि बेतवे, ताहि तरे नर केशव को है ।
अर्जुन बाहु प्रवाहु प्रबोधित, रेवा ज्यों राजन की रज मोहै ।।
ज्योति जगे जमुना सी लगे जग, लाल विलोचन पाप विछोहै ।
सूर-सुता शुभ संगम तुंग, तरंग तरंगिनि गंगा सी सोहै ।।"[५]

ऐसे रम्य दृश्यों एवं ऐश्वर्यपूर्ण निवास को छोड़कर केशव जाते भी कहां ! अत: केशवदास जी का काव्य-क्षेत्र अधिक विशाल न था। मुगल दरबार में इन्द्रजीतसिंह का

---

१. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १७-१८
२. रसिकप्रिया, प्रथम प्रकाश, छन्द ३-८
३. विज्ञान-गीता, प्रथम प्रभाव, छन्द ३
४. कविप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द ५
५. विज्ञान-गीता, प्रथम प्रभाव, छन्द ४

जुरमाना माफ कराने गए थे। जुरमाने के सम्बन्ध में बीरबल से मित्रता हो जाने के कारण दरबार में आना-जाना रहा होगा। काशी, मथुरा तथा उदयपुर आदि का आंखों देखा वर्णन इनके ग्रन्थों में मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि इन स्थानों पर केशवदास गए होंगे। 'गंगातट देउ वास'[1] से प्रतीत होता है कि केशव ने गंगातट पर भी निवास किया था।

नाम

हमारे चरितनायक का वास्तविक नाम केशवदास था जिसका प्रमाण स्वयं केशवदास जी की 'कविप्रिया' में पाया जाता है—

"भाषा बोलि न जानई, जिनके कुल कौ दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तिहि कुल केसवदास।।"[2]

इनकी प्रामाणिक काव्य रचनाओं में केसव, केशव, केसो, केशो, केसवराय, केशवदास तथा केसो केसोराय की छाप मिलती है। हिन्दी-साहित्य में केशवदास नामक कई कवि हुए। अतः साधारण पाठक महाकवि केशवदास के साथ ही अन्य केशवदास नामधारी कवियों की रचनाओं का सम्बन्ध जोड़ देते हैं। परिणामस्वरूप जैमुनि की कथा, हनुमानजन्म लीला, बालिचरित्र, आनन्दलहरी, रसललित, कृष्णलीला तथा 'केशवदास जी का अमी घूंट' आदि रचनाओं की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता में आज भी सन्देह बना हुआ है। इन केशव नामधारी कवियों में प्रधान केसोराइ, केसोराय-बबुआ, केशव गिरि तथा केशव प्रसिद्ध हैं जो कि केशवदास के समकालीन नहीं हैं। इनके विषय में हम यथास्थान कहेंगे। केशवदास की अपेक्षा केसोराय या 'केशोराय' का प्रयोग अधिक है। यह संभवतः इसीलिए है कि ब्रजभाषा में केशव का 'केसो' भाषा-विज्ञान के आधार पर भी हो जाता है और इसका एक अर्थ कृष्ण के प्रति भी लग जाता है। देखिए—

"एते पर केसोदास तुम्हें ना प्रवाह वाहि।
वहै जक लागी, भागी भूख सुख भूल्यौ देहु।।
माडौ मुख, छाडै छिन छलन छबीले लाल।
ऐसी तौ गंवारिनि सो तुमहि निबाहो नेहु।।"[3]

अथवा—

"यह परिरम्भन कहावै कौन केसोराइ।
मेरी सों जो मो सों तुम राखहु दुराय कै।।
राधिका की राधिकाई कहा कहौं तोसों आजु।
आपुनो पियारो पिउ आपु ही मनाइ कै।।"[4]

केशव, केसव तथा केसो की छाप तो अधिकतर मिलती ही है, साथ ही साथ 'केसो

---

१. विज्ञान-गीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ५६
२. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १७
३. रसिकप्रिया, द्वादश प्रकाश, छन्द २६
४. बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ४६ प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

केसोराइ' का भी प्रयोग मिलता है—

"केसो केसोराइ, पैंड़ पैंड़ पर भेंट होति।
बचिबो कहां ते, ब्रज बीथिन बसतु है॥
मनि मोर चन्द्रिका, बजायो निसि बांसुरी सो।
कारो ढोटा काहू को है कारे लौं डसतु है॥"[१]

जाति

केशवदास जी भारद्वाज गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनकी अल्ल 'मिश्र' थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में सनाढ्यों का बड़े उत्साह से वर्णन किया है। 'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं कि जाति के सनाढ्य ब्राह्मण जगत् में सिद्ध रूप शुद्ध स्वभाव वाले मिश्र उपनामधारी पंडितराज कृष्णदत्त पृथ्वी भर में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने गणेश के समान बुद्धिमान् अगाध पंडित काशीनाथ नामक पुत्र पाया। जिन्होंने सब शास्त्रों को विचार कर उत्तम मत को जान लिया था। उन्हीं पंडित काशीनाथ के कुल में अल्प बुद्धि और शठ केशवदास कवि उत्पन्न हुआ, जिसने 'श्री रामचन्द्रिका' को भाषा में प्रकाशित किया।[२] केशवदास में जाति का अभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था। राम के राज्याभिषेक के समय सभी उत्तम ब्राह्मणों तथा ऋषियों को छोड़कर केशवदास जी ने राम के द्वारा सनाढ्यों की ही पूजा कराई है।

'प्रगट सकल सनोढियन के प्रथम पूजे पाइ'[३]

'रामचन्द्रिका' के इक्कीसवें प्रकाश में सनाढ्योत्पत्ति के सम्बन्ध में छह छन्द कहे गए हैं। रामचन्द्र जी भारद्वाज से पूछते हैं:—

"कहो भारद्वाज सनाढ्य को हैं। भए कहाँ ते सब मध्य सोहैं,
हुते सबै विप्र प्रभाव-भीने। तजे ते क्यों ये अति पूज्य कीने!"[४]

भारद्वाज ने राम से कहा कि यह कथा शिव ने नारायण से सुनकर मुझे सुनाई थी। वही मैं तुम्हें सुनाता हूं जिससे तुम सनाढ्यों की श्रद्धा से पूजा कर सको। समुद्र में नारायण की नाभि से कमल निकला और उस कमल से ब्रह्मा पैदा हुए। ब्रह्मा के मन से सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए। पुनः उन चारों के मन से जो ब्राह्मण पैदा हुए वही सनाढ्य कहलाए। उससे आगे भारद्वाज कहते हैं:—

---

१. बिहारी की वाग्विभूति, हिन्दी-साहित्य कुटीर, उपक्रम १

२—सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध सुद्ध सुभाउ, कृश्नदत्त प्रसिद्ध हैं जहँ मिश्र पंडितराउ,
गनेस सो सुत पाइयो बुध कासिनाथ अगाध, असेष सास्त्र विचार्‌यो जिन जान्यो मत साध।
उपज्यो तेहि कुल मंदमति, सुत कवि केसवदास, रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास॥
रामचन्द्रिका प्रथम प्रकाश, छन्द संख्या ४–५

३—रामचन्द्रिका, सत्ताईसवां प्रकाश, छन्द २३

४—रामचन्द्रिका, इक्कीसवां प्रकाश, छन्द १५

"तातें रिषिराज सबै तुम छाँडौ, भूदेव सनाढ्यन के पद माँडौ।
दीन्हि तुम्हीं तिनको वर रूरे, चहुं जुग होहु तपोबल पूरे।।"[१]

चरम सीमा भी दर्शनीय है—

"सनाढ्य पूजा अघ ओघहारी, अखण्ड आखण्डल लोक धारी।
अशेष लोकावधि-भूमिचारी, समूल नासै नृप दोष-कारी।।"[२]

ब्रह्माजी राम से विनय करते समय भी सनाढ्यों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।[3]

'रामचंद्रिका' के चौंतीसवें प्रकाश में 'सनाढ्य द्विज आगमन' वर्णन केवल उनकी जाति का महत्त्व प्रतिपादित करता है। केशव के अनुसार सनाढ्य ब्राह्मणों की भक्ति जिनके मन में जागृत होगी, उनके शिवजी का त्रिशूल भी नहीं लग सकता।[४] सनाढ्यों की वृत्ति जो हरण करता है वह सदैव के लिए नष्ट हो जाता है, वह अकाल मृत्यु पाता है तथा उसे अनेक नर्कों का दुःख भोगना पड़ता है।[५]

श्री हर्ष, पण्डितराज जगन्नाथ की गर्वोक्तियों के समान केशव में व्यक्तिगत गर्वोक्ति कहीं नहीं है। केशव की निरभिमानता अनेक स्थलों पर द्रष्टव्य है।[६]

वंश-परिचय

महाकवि केशवदास ने 'रसिकप्रिया', रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित तथा विज्ञानगीता आदि सभी ग्रन्थों में अपना संक्षिप्त रूप से वंश परिचय दिया है, परन्तु 'कविप्रिया' में जो परिचय प्राप्त होता है वह अन्यत्र नहीं। 'कविप्रिया' के द्वितीय प्रभाव में अपने वंश एवं कुल-शील आदि का वर्णन केशवदास जी ने विस्तारपूर्वक किया है। 'कवि प्रिया' के आधार पर केशवदास जी का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार है—

ब्रह्म
|
सनकादि (मन से उत्पत्ति हुई)
|
ब्राह्मण (मन से उत्पत्ति हुई)
|
कुंभवार (बहुत सी पीढ़ियों के उपरान्त)
|

१. रामचन्द्रिका, इक्कीसवां प्रकाश, छन्द १९
२. रामचन्द्रिका, इक्कीसवां प्रकाश, छन्द २०
३. रामचन्द्रिका, तेतीसवां प्रकाश, छन्द १०
४. रामचन्द्रिका, चौंतीसवां प्रकाश, छन्द ४५
५. रामचन्द्रिका, उत्तरार्द्ध, छन्द ४५६ पृष्ठ २३५
६. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द६७

देवानन्द
|
जयदेव (प्रसन्नराघव नाटक के कर्त्ता)
|
पंडितराज दिनकर
|
गया गदाधर
|
जयानन्द
|
पंडितराज त्रिविक्रम
|
भावशर्मा (भावप्रकाश नामक वैद्यक ग्रन्थ के रचयिता)
|
शिरोमणि मिश्र
|
हरिनाथ
|
कृष्णदत्त
|
काशीनाथ ('शीघ्रबोध' नामक ज्योतिष का ग्रन्थ रचा)
|
बलभद्र मिश्र ('नखशिख' के रचयिता) — केशव मिश्र ('कविप्रिया' के रचयिता) — कल्याणदास[1]

कविप्रिया से यह भी स्पष्ट होता है कि केशव के पिता, पितामह आदि सभी राजाओं के श्रद्धाभाजन रहे। सबने सदैव बड़ा सम्मान किया।[2]

केशवदास जी ने अपनी शेष कृतियों में जो वंश परिचय दिया है उसका समावेश कविप्रिया के वंश-परिचय मे हो जाता है। पुत्र आदि के सम्बन्ध में केशव ने स्पष्ट नहीं लिखा परन्तु 'विज्ञानगीता' के निम्न छन्दों से उनके सन्तान होने का संकेत मिलता है—

"सुनि सुनि केशव राइ सों, रीझि कह्यो नृपनाथ।
मांगि मनोरथ चित्त के, कीजै सबै सनाथ।।
वृत्ति दई पुरुखानि की, देऊ बालनि आसु।
मोहि आपनो जानि के, गंगा तट देउ वासु।।

१. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द संख्या १-१६ तक
२. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १८-१६

वृत्ति दई पदवी दई, दूरि करौ दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गंगा तट बस वास ॥"[१]

'देऊ बालनि ग्रासु' से केशवदास जी के एक से अधिक सन्तान होने का स्पष्ट संकेत है। 'सकलत्र' शब्द से स्पष्ट है कि पत्नी वृद्धावस्था तक उनके साथ रहीं।

श्री श्रवणप्रसाद मिश्र 'श्रवणेश' ने ग्रानन्द प्रेस, झांसी से केशवदास जी का वंश वृक्ष प्रकाशित किया था, जिसका चित्र सामने के पृष्ठ पर दिया हुग्रा है।

केशव का गुरुत्व

ग्राचार्य केशवदास किसी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक तो नहीं थे परन्तु उनके वंश में गुरु-परम्परा ग्रवश्य रही होगी। ग्राचार्य जी ने कुछ शिष्यों को दीक्षा दी होगी तो कुछ को शिक्षा। उनकी स्वयं की रचनाग्रों से यह बात सिद्ध होती है। दीक्षा की दृष्टि से इन्द्रजीतसिंह ने केशवदास जी का गुरुत्व ग्रहण किया ग्रौर उनके पैरों का प्रक्षालन कर इक्कीस ग्राम दक्षिणा में दिए—

"गुरु करि मान्यो इन्द्रजित, तन मन कृपा विचारि।
ग्राम दए इक बीस तब, ताके पांय पखारि ॥"[२]

शिक्षा की दृष्टि से विभाजन किया जा सकता है—एक तो बालाएं ग्रौर दूसरे बालक—

"समुझें बाला-बालकनि बरनन पंथ ग्रगाध।
कविप्रिया केसव करी, छमि जौ बुध ग्रपराध ॥"[3]

बालाग्रों एवं बालकों में बालाग्रों का स्थान महत्वपूर्ण है—

"बाल वहि क्रम बाल सब, रूप सील गुन वृद्ध।
जदपि मर्यो ग्रवरोध षट्, पातुर परम प्रसिद्ध ॥
रायप्रवीन प्रवीन ग्रति, नवरँगराय सुवेस।
ग्रति विचित्रनयना निपुन, लोचन ललित सुदेस ॥
सोहति सागर राग की, तानतरंग तरंग।
रंगराय रँगचलित गति रँगमूरति ग्रँग ग्रंग ॥[४]

इन सब में भी केशवदास जी की प्रिय शिष्या राय प्रवीण है क्योंकि उसी को काव्य-शिक्षा देने के लिए केशवदास जी को 'कविप्रिया' नामक ग्रन्थ बनाना पड़ा—

"सविता जू कविता दई, ता कहं परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केसवदास ॥"[५]

---

१. विज्ञान गीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ५५-५७
२. कविप्रिया 'द्वितीय प्रभाव' छन्द २०
३. कविप्रिया 'तृतीय प्रभाव' छन्द १
४. कविप्रिया 'प्रथम प्रभाव' छन्द ४२-४३ तथा ४४
५. कविप्रिया 'प्रथम प्रभाव' छन्द ६१

राय प्रवीण के सम्बन्ध में केशवदास जी का मत है—

"राय प्रवीन कि सारदा, सुचि रुचि रंजित अंग।
वीना-पुस्तक-धारिनी, राजहंस सुत-संग।
वृषभ वाहिनी अंगयुत, वासुकि लसत प्रवीन।
सिव सँग सोहै सर्वदा, सिवा कि राय-प्रवीन॥"[1]

केशवदास ने शिक्षा तो सभी को दी होगी परन्तु राय प्रवीण कवयित्री बन गई। यह स्वाभाविक भी है। किसी अध्यापक के सभी विद्यार्थी प्रतिभा-सम्पन्न नहीं होते। कहते हैं एक बार सम्राट् अकबर ने राय प्रवीण की प्रसिद्धि के कारण उसे अपने दरबार में बुलाया। वहां उसने अपनी कवित्व शक्ति के द्वारा अकबर को मुग्ध ही नहीं किया साथ ही साथ अपने सतीत्व की भी रक्षा की।[2]

'झूठी पतरी भखत हैं वारी वायस स्वान',[3] की चोट से अकबर होश में आ गया।

'बालकन' वाले शिष्यों में प्रसिद्ध पश्यतोहर 'पतिराम' स्वर्णकार की गणना की जा सकती है। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा नहीं था तथापि कविता समझने लगा था। केशव ने पतिराम के विषय में लिखा है :—

"मूल तौल कसिवान वनि, कायथ लिखत अपार।
राखि मरत पतिराम ये, सोनौ हरत सुनार।"[4]

'पतिराम" जैसे न मालूम कितने शिष्य केशवदास जी के रहे होंगे।

जहां तक सम्प्रदाय-प्रवर्तन की बात है, यह विषय विचारणीय है। उन्होंने 'रसिक-प्रिया,' 'कविप्रिया' तथा छन्दमाला में रस, अलंकार तथा छन्दशास्त्र की क्रमशः विवेचना की। प्रायः हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने आचार्य केशवदास को रीतिकाल का प्रथम आचार्य माना है। आचार्य केशव से पूर्व हिन्दी में काव्यशास्त्र के लेखकों में से कुछ की तो प्रामाणिकता ही सन्देहास्पद है, उदाहरण रूप में पुष्य तथा कृपाराम लिए जा सकते हैं। नन्ददास की 'रसमंजरी' तथा करनेस के ग्रन्थ काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्व-पूर्ण नहीं। करनेस के ग्रंथों का तो विवरण ही अलभ्य है! करनेस बन्दीजन 'मिश्रबन्धु-विनोद' के अनुसार नरहरि के साथ दरबार में जाया करते थे।[5] आचार्य केशवदास हिन्दी साहित्य के प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने संस्कृत के आधार पर हिन्दी-काव्यशास्त्र के विषयों पर सोदाहरण लक्षण ग्रन्थ लिखने की परम्परा डाली और उन्हें पूर्ण सफलता मिली। आगे के दो सौ वर्ष तक के परवर्ती लेखकों एवं कवियों ने ही नहीं अपितु दिग्गज आचार्यों ने भी बिना 'कविप्रिया' या 'रसिकप्रिया' को पढ़े कुछ लिखने का साहस नहीं किया।

---

१. कविप्रिया 'प्रथम प्रभाव' छन्द ५९–६०
२. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ संख्या, ४५४
३. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ संख्या, ४५४
४, कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १९
५, मिश्रबन्धु विनोद, भाग पृष्ठ ३२४, सं १९९४

रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने केशव से प्रेरणा ग्रहण की।

केशव के आश्रयदाता

ओरछा-राज्य सम्बन्धी नृपवंश-वर्णन केशवदास जी ने 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ के प्रारम्भ में दिया है।

ओरछानरेश मधुकरशाह के क्रमशः रामशाह, होरिलराव, नृसिंह, रतनसेन, इन्द्रजीतसिंह, शत्रुसिंह, वीरसिंहदेव तथा हरिसिंह देव नामक आठ पुत्र थे। इनमें रामशाह राजा हुए। यद्यपि राजा रामशाह के बेटे, भाई तथा अन्य बहुत व्यक्ति परिवार के थे तथापि राज-काज का सारा भार इन्द्रजीतसिंह पर था।[1] केशवदास जी ने इन्हीं के लिए लिखा है—

"केसोदास जाके राज, राजु सौ करत है।"

ओरछा गजेटियर में दिए हुए वर्णन के आधार पर ओरछा-राज्य का वंश-वृक्ष अगले पृष्ठों में दिया जा रहा है :—

१ कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ३८

हेमकरन

वीरभद्र १०७१—१०८७ ई०

करणपाल १०८७—१११२ ई०

कन्नरशाह १११२—११३० ई० सौनकदेव ११३०—११५२ ई० नौनकदेव ११५२—११६६ ई० वीरसिंह

मोहनपति ११६६—११९७ ई० अभयभूपति ११९७—१२१५ ई०

अर्जुनपाल १२१५—१२३१ ई०

सोहनपाल ११३१—१२५६ ई०

सहजेन्द्र १२५६—१२८३ ई० रामसिंह

नौनकदेव १२८३—१३०७ ई०

पृथ्वीराज १३०७—१३३९ ई०

रामसिंह १३३६—१३७५ ई०

रायचन्द १३७५—१३९४ ई० मेदिनीमल १३९४—१४३७ ई०

अर्जुनदेव १४३७—१४६८ ई०

मलखानसिंह १४६८—१५०१ ई०

रुद्रप्रताप १५०१—१५३१ ई०

भारतीचन्द्र १५३१—१५५४ ई० मधुकरशाह १५५४—१५९२ ई० सात अन्य

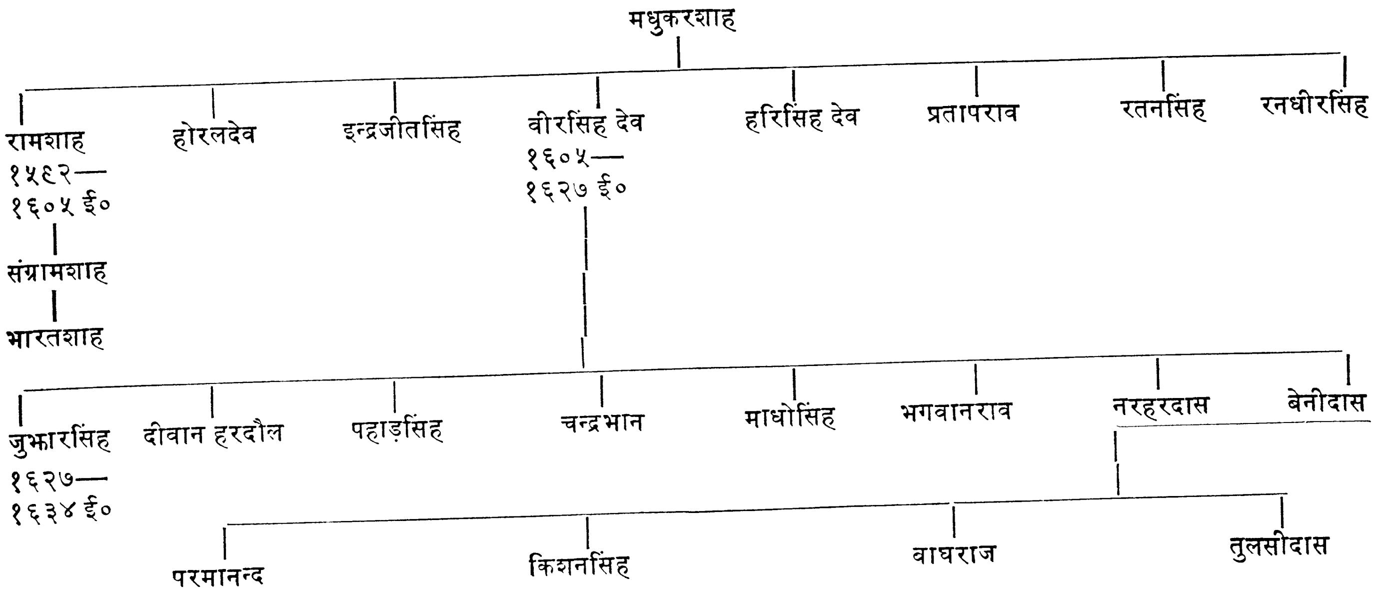
मधुकरशाह
रामशाह
१५९२—
१६०५ ई०
संग्रामशाह
भारतशाह
होरलदेव
इन्द्रजीतसिंह
वीरसिंह देव
१६०५—
१६२७ ई०
हरिसिंह देव
प्रतापराव
रतनसिंह
रनधीरसिंह
जुझारसिंह
१६२७—
१६३४ ई०
दीवान हरदौल
पहाड़सिंह
चन्द्रभान
माधोसिंह
भगवानराव
नरहरदास
बेनीदास
परमानन्द
किशनसिंह
वाघराज
तुलसीदास

'कविप्रिया' के उपर्युक्त वर्णन के अनुसार ओरछा राज्य का वंशवृक्ष निम्नलिखित है—

वीर (अवध)
|
करण (काशी)
|
अर्जुनपाल (महोनी)
|
सोहनपाल (गढ़कुंडार)
|
सहजेन्द्र
|
नौनकदेव
|
पृथ्वीराज
|
रामसिंह
|
राजचन्द्र
|
मेदिनीमल
|
अर्जुनदेव
|
मलखान
|
प्रतापरुद्र (ओरछा)
|
भारतिचन्द | मधुकरशाह

मधुकरशाह
|
दूलहराम | होरिलराव | रतनसेन | इन्द्रजीत | वीरसिंह देव | हरिसिंह | रणधीर

| रामशाह |
|
संग्रामशाह
|
भारतीशाह

इसी प्रकार 'वीरसिंहदेवचरित' के अनुसार ओरछा राज्य का वंशवृक्ष निम्नलिखित है—

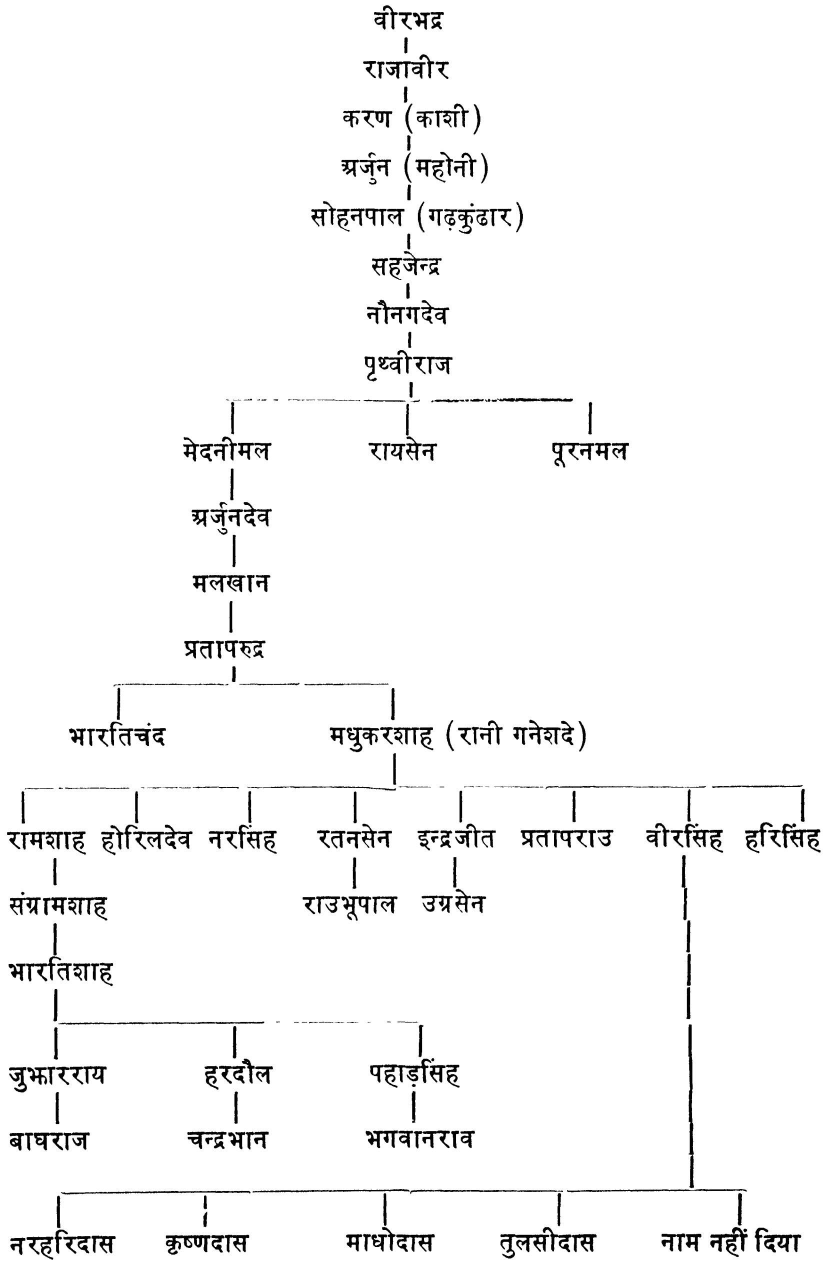

उपर्युक्त तीनों नृपवंश-वृक्षों में यत्र-तत्र वैषम्य भी है परन्तु वह नाम-मात्र का है। यह निर्विवाद है कि इन्द्रजीतसिंह एवं वीरसिंहदेव केशव के आश्रयदाता थे। यह पहले कहा जा चुका है कि कृष्णदत्त मिश्र ओरछा नरेश रुद्रप्रताप के यहां पुराणवृत्ति पर नियुक्त थे। उनके पुत्र मधुकरशाह के यहां केशवदास के पिता काशीनाथ मिश्र का अत्यंत आदर था। केशव के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र उन्हें पुराण सुनाया करते थे। इन्द्रजीतसिंह केशवदास के प्रमुख आश्रयदाता थे। 'आ-इ-ने अकबरी' में जो ओरछा-राज्य का राजवंश दिया गया उसमें इन्द्रजीतसिंह का नामोल्लेख नहीं है[1] क्योंकि वास्तविक राजा रामशाह थे—

इन्द्रजीतसिंह

राजा रामशाह ने राज्य-भार के साथ ही साथ इन्द्रजीतसिंह को 'कक्षवा कमल' नामक गढ़ भी दे दिया था। इन्द्रजीतसिंह साहित्य एवं संगीत दोनों के ही बड़े मर्मज्ञ थे। उन्होंने केशवदास जी से गुरु-दीक्षा ली थी और इक्कीस ग्राम भी दिए थे। 'रसिकप्रिया' नामक ग्रन्थ का प्रणयन उन्हीं की प्रेरणा से हुआ—

"सब सुख दे करि यों कह्यो, रसिकप्रिया करि देहु ॥"[2]

इन्द्रजीतसिंह के राज्य में केशवदास जी ने 'राजु सौ करतु हों' को चरितार्थ किया। वे स्वयं कवि भी थे तथा गुणग्राहक भी। संगीत का अखाड़ा तो मानो देवता इन्द्र का ही अखाड़ा था—

"कर्‌यौ अखारो राज कै, सासन सब संगीत।
ताको देखत इन्द्र ज्यों, इन्द्रजीत रनजीत ॥"[3]

देश के विख्यात संगीतज्ञ तथा वेश्याओं का सदैव जमघट लगा रहता था जिनमें से राय प्रवीण, नवरंगराय, विचित्रनयना, तानतरंग, रंगराय तथा रंगमूर्ति वेश्याएं तो स्थायी रूप से रहती थीं। केशवदास ने संस्कृत छोड़कर जो हिन्दी में कविता की उसका श्रेय इन्द्रजीतसिंह को ही है।

वीरसिंहदेव

केशवदास के दूसरे प्रधान आश्रयदाता वीरसिंहदेव थे। वे बड़े वीर, विद्वान् तथा न्यायप्रिय थे। प्रसिद्ध धर्मशास्त्र ग्रन्थ 'वीर मित्रोदय' उन्होंने ही 'मित्रमिश्र' नामक एक ब्राह्मण विद्वान् के सहयोग से बनाया था। यह ग्रन्थ उतना ही प्रामाणिक है जितना कि मिताक्षर या दायभाग। कहा जाता है कि किसी जघन्य अपराध में उन्होंने अपने पुत्र को भी प्राणदण्ड दे दिया था। इस महत्त्वाकांक्षी वीर की अकबर से कभी नहीं बनी। सलीम एवं अकबर के वैमनस्य का वीरसिंहदेव ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। वीरसिंहदेव सलीम से जा मिला। सलीम की आज्ञा से वीरसिंहदेव ने अबुलफजल का वध कर दिया। इस बात को स्वयं सलीम अपनी जीवनी में स्वीकार करते है—

---

१. आ-इ-ने अकबरी, पृष्ठ ५४६, प्रथम भाग, अनुवादक ब्लाक मैन

२. रसिकप्रिया, प्रथम प्रकाश, छन्द १०

३. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ४१

'मैंने वीरसिंहदेव के लिए संदेश भेजा कि वह यदि अबुलफजल को रास्ते में रोके और उसका वध कर दे तो मैं उसे अत्यधिक पारितोषिक दूंगा। ईश्वर ने उसका साथ दिया। जैसे ही अबुलफजल उसके राज्य में आया तभी वीरसिंहदेव ने उसे रोक लिया। कुछ युद्ध के बाद अबुलफजल के साथी इधर-उधर हो गए और अबुलफजल का वध कर दिया गया। उसका सिर काटकर मेरे पास इलाहाबाद भेज दिया।"[१]

दूसरे स्थान पर जीवनी में वीरसिंहदेव की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

'मैंने अपने राज्यारोहण के अवसर पर बुन्देले राजपूत वीरसिंह देव को तीन हजारी मनसब प्रदान किया। वह मेरे प्रियजनों में से एक है तथा निश्चित रूप से अपने साथियों से अधिक साहसी, चरित्रवान् तथा निष्कपट है।'[२]

कुछ इतिहासकारों ने इस वध के कारण बुरा-भला कहा है परन्तु युद्ध में सामने पड़कर मारने में कोई बुराई नहीं। केशव के अनुसार वीरसिंहदेव ने अबुलफजल को युद्ध में ही पराजित किया—

"परम भयानक यह रन भयो, सेखहि उर गोला लगि गयो।
जूझि सेख भूतल पर परे, नेंकु न पग पीछे को धरे॥"[3]

वीरसिंहदेव केशव जी का बहुत आदर करते थे। उन्हीं की प्रेरणा से 'विज्ञानगीता' नामक ग्रन्थ का प्रणयन केशवदास जी ने किया। एक बार वीरसिंहदेव ने केशव से पूछा—

"यथा शक्ति सब करत भक्ति, हरि मन वच अंगा।
चित्त न तजत विकार, न्हात नर यद्यपि गंगा॥"

केशव—

"वीर नरेश धनेश तुम, मोहि जु बूझी गाथ।
सोई श्री शिव को शिवा, बूझी ही नृपनाथ॥"

---

१. I sent a message to Bir Singh Deo to say that, if he would waylay Abdul Fazal and kill him I would richly reward him. Heaven favoured him, and when Abdul Fazal passed through his land, he stopped him on his way, dispersed after his short fight his men and killed him, and sent his head to me at Allahabad. —'Memoirs'.

Introduction of I-ene-Akbari 1st Part, page 59,
Tr. H. Blockman.

२. On my accession, I promoted Raja Bir Singh, a Bundela Rajput to a command of three thousand. He is one of my favourite and he is certainly distinguished among his equals for his bravery, good character and straight forwardness. 'Memoirs'

आइने अकबरी प्रथम भाग, पृष्ठ ५९

३. वीरसिंहदेव चरित, पंचम काश (अबुलफजल वध) अनुवादक ब्लाक मैन

वीरसिंहदेव—

"केशव हमहि विवेक को, महामोह को युद्ध।
वरणि सुनावहु होइ ज्यों जीव हमारो शुद्ध॥"[१]

इन्द्रजीतसिंह तथा वीरसिंहदेव के अतिरिक्त रामशाह, रतनसेन, अमरसिंह तथा चन्द्रसेन के नाम भी आश्रयदाताओं में गिने जा सकते हैं क्योंकि सभी राजा थे और केशवदास का आदर करते थे। केशवदास ने भी इन सभी के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में लिखा है। 'रतनसेन' की प्रशंसा में तो 'रतनबावनी' नामक एक अलग ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में मधुकरशाह के स्वाभिमान तथा रतनसेन की वीरता की अमिट छाप है।[२]

रामशाह इन्द्रजीतसिंह के ज्येष्ठ भ्राता थे। बड़े उदार एवं धार्मिक व्यक्ति थे। राजा होते हुए भी कभी राज्य के प्रपंच में नहीं फंसे।[3]

आपने सदैव केशवदास को अपना मंत्री तथा मित्र समझकर आदर दिया[४]—

महाराणा प्रतापसिंह के सुपुत्र अमरसिंह राणा की प्रशंसा में केशवदास जी ने अपने 'कविप्रिया' नामक ग्रन्थ में कई छन्द लिखे हैं। वे बड़े दानी एवं वीर थे। उन्होंने अत्यन्त विवश होकर अधीनता स्वीकार की जिसका पश्चात्ताप उन्हें जीवन पर्यन्त रहा। परिणामस्वरूप राज्य-भार अपने पुत्र को देकर, चित्तौड़गढ़ को छोड़कर नौचौकी चले गए। तदुपरान्त चित्तौड़ जीवन भर वापस न आए। केशवदास की उन पर ममता देखिए—

"ऐसे राजा राम, व्रजराम के परसुराम।
कैधों है अमरसिंह, मेरे उर भाए हैं॥"[५]

वे बड़े दानवीर थे[६]—

चन्द्रसेन का ठीक-ठीक पता नहीं चलता क्योंकि किसी प्रकार का कोई दूसरा संकेत नहीं मिलता। हो सकता है मधुकरशाह के भाई चन्द्रदास को ही केशव ने चन्द्रसेन लिख दिया हो अथवा वीरसिंह के पुत्र चन्द्रभानु को ही चन्द्रसेन नाम से अभिहित किया गया हो। संभव है जोधपुर के राजा मालवदेव के पुत्र ही हों जिनका कि नाम चन्द्रसेन था। मुगलों से वीरतापूर्वक लड़ते-लड़ते सं० १६४२ वि० में चन्द्रसेन की मृत्यु हुई थी।[७] इस दृष्टि से यह केशवदास के प्रारम्भिक आश्रयदाता निश्चित होते हैं। हो सकता है कि इन सबसे भिन्न यह कोई और ही बुन्देला वीर हो। कोई भी हो, केशवदास जी ने 'कविप्रिया' में उसकी तलवार के विषय में लिखा है।[८]

१. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, २८, २९ तथा ३५
२. केशव पंचरत्न, पृष्ठ २
३. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ३८
४. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द २१
५. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३२
६. कविप्रिया, ६८वां प्रभाव, छन्द ७५
७. टाड, राजस्थान द्वितीय भाग, पृष्ठ संख्या ९५८-९६०
८ कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३८

इसमें सन्देह नहीं कि केशव की गणना उन कतिपय सौभाग्यशाली कवियों में की जा सकती है जो राजदरबारों में सम्मान की दृष्टि से देखे गए। इस दृष्टि से चन्दवरदायी तथा भूषण ही का नाम उल्लेखनीय है। परन्तु इन दोनों से केशवदास जी का आदर अधिक हुआ। यह ठीक है कि चन्दवरदायी एवं भूषण क्रमशः पृथ्वीराज तथा शिवाजी के कृपा-पात्र थे, यदा-कदा युद्ध-भूमि में भी दखल रखते थे परन्तु केशवदास जी को इन्द्रजीतसिंह ने गुरु के रूप में माना। यह सौभाग्य न तो चन्द को प्राप्त हुआ और न भूषण को ही। इस दृष्टि से केशवदास जी का स्थान अद्वितीय है।

केशव एवं बिहारी--

केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध के विषय को लेकर हिन्दी के विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रतिपादित किए हैं। इस सम्बन्ध को मानने और न मानने वालों के दो दल हैं—

प्रथम पक्ष के विद्वानों में उल्लेखनीय राधाकृष्णदास[1], जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'[2] गौरीशंकर द्विवेदी[3] और चन्द्रबली पांडे[4] हैं। द्वितीय पक्ष का प्रतिपादन डा० श्यामसुन्दर दास, मायाशंकर याज्ञिक, गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा हीरालाल जी दीक्षित ने किया है।

'राधाकृष्णदास ने अपने निबन्ध 'कविवर बिहारीलाल' शीर्षक में, जो उन्होंने सं० १६५२ वि० (सन् १८६५ ई०) में लिखा था, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए केशव और बिहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध स्थापित किया है और उन्होंने शिवसिंहसरोज, डा० ग्रियर्सन और राधाचरण गोस्वामी की मान्यताओं का खण्डन किया है। अपनी मान्यताओं की पुष्टि में राधाकृष्णदास जी ने प्रायः अन्तःसाक्ष्य ही का आश्रय लिया है। राधाकृष्णदास जी ने इस निबन्ध में केवल पिता-पुत्र सम्बन्ध पर ही विचार नहीं किया अपितु बिहारी के जीवन के अन्य पक्षों पर भी प्रकाश डाला है। राधाकृष्ण जी, शिवसिंहसरोज और ग्रियर्सन की भांति बिहारी को मथुरा का चौबे नहीं मानते। बिहारी के 'जन्म लियो द्विजराज-कुल'[5] दोहे का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए राधाकृष्णदास जी ने हरिचरणदास की टीका का उद्धरण दिया है। राधाचरण गोस्वामी के अनुमान को उद्धृत करते हुए राधाकृष्ण जी लिखते हैं—

'गोस्वामी राधाचरण जी अनुमान करते हैं कि 'केशव' (भगवान् केशवराय) बिहारी के पिता हैं क्योंकि मथुरा में जो भगवान् की मूर्ति है वह भी केशवदेव नाम से प्रसिद्ध है। 'राय' शब्द से वे अनुमान करते हैं कि वे भाट थे। क्योंकि 'राय' भाटों की पदवी है और भाट जाति ब्राह्मणों से क्षत्रियों में उत्पन्न होने के कारण 'अनुलोमों' में अपनी गणना करके अपने को द्विज मानते हैं। गोस्वामी जी यह भी अनुमान करते हैं कि केशवराय ही बिहारी

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, निबन्ध कविवर बिहारीलाल, पृष्ठ २१२
२. बिहारी-रत्नाकर-भूमिका
३. बुन्देल-वैभव प्रथम भाग
४. केशवदास जीवनवृत्त
५ बिहारी-रत्नाकर, छन्द १०१, पृष्ठ ४६

के विद्यागुरु भी थे क्योंकि और किसी गुरु का नाम नहीं मिलता तथा यह दोहा 'सतसई' के प्राय: अन्त में पाया जाता है ।[1]

इसका खंडन राधाकृष्ण जी ने किया है ।[2]

उनके खंडन का सार इस प्रकार है—

१—केशवदास जी भाट नहीं थे ।

२—दोनों समकालीन थे ।

३—जन्म, बालपन तथा युवावस्था क्रमशः ग्वालियर, बुन्देलखण्ड (ओरछा) तथा मथुरा में हुई ।

४—बालपन बुन्देलखंड में व्यतीत होने के कारण बिहारी की भाषा में बुन्देलखंडी भाषा के शब्द हैं ।

५. बिहारी ने स्वयं जानते हुए भी केशव से सम्बन्ध प्रकाशित नहीं किया ।

पिता पुत्र सम्बन्ध के दूसरे पोषक रत्नाकर जी थे । उन्होंने पिता-पुत्र की पुष्टि के सम्बन्ध में सं० १९८४ तथा सं० १९८७ वि० की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में दो लेख लिखे । वे इस प्रश्न की कुछ गहराई में गए । उन्होंने लिखा है कि बिहारी के प्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि ने "प्रगट भए द्विजराज कुल" वाले दोहे की टीका में लिखा है—

"केसो जो मेरो पिता और केसोराय जो श्रीकृष्ण जू ।"

इसी प्रकार उक्त दोहे की "अनवर चन्द्रिका" की टीका में भी लिखा है कि "केशव केशव राय बिहारी के बाप को नाम है ।" 'रस चन्द्रिका', 'हरिप्रकाश' तथा 'लाल चन्द्रिका' टीकाओं से बिहारी के पिता का नाम केशव ही सिद्ध होता है । साथ ही साथ यह भी सिद्ध होता है कि केशव ब्राह्मण थे और अपनी इच्छा से आकर ब्रज में बसे थे ।[3]

रत्नाकर जी ने बिहारी एवं केशव के भाव-साम्य तथा शब्द-साम्य के आधार पर सिद्ध किया है कि बिहारी ने केशव के ग्रन्थों का अध्ययन किया था और उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किए हैं[4]—

"चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।।"[5]

यही भाव केशव ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अनगने ओठ पाय रावरे मने न जाहि,
वेऊ आहि तमकि करैया अति मान की ।।"

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, निबन्ध कविवर बिहारीलाल, पृष्ठ २१३

२. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, निबन्ध कविवर बिहारीलाल, पृष्ठ २१३, १४

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, सं० १९८४, पृ० ८७

४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, सं० १९८४, पृ० १०८

५. बिहारी रत्नाकर दोहा ६७७, पृ० २७८

तुम जोई सोई कहौ, वेऊ जोई सोई सुनैं,
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं कान की।
कैसे 'केसोराय' काहि बरजो मनाऊं काहि,
आपने संयाधौ कौन सुनत सयान की।
कोऊ बड़वानल को ह्वै है सोई ऐहै बीच,
तुम वासुदेव वे हैं बेटी वृषभान की॥"[१]

जिस प्रकार कृष्णजी ने "बिनु मधु मधुकर के हिये"[२] वाले दोहे से ओरछा के राजा मधुकरशाह का अनुमान किया है उसी प्रकार रत्नाकर जी ने "पातुरराय"[3] शब्द से प्रमाणित किया है कि बिहारी ने प्रवीणराय का नृत्य देखा होगा। रत्नाकर जी ने बिहारी के जीवन-सम्बन्धी एक दोहाबद्ध निबन्ध का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि यह निबन्ध इस प्रकार लिखा गया है मानो बिहारी ने स्वयं लिखा हो। उसके अनुसार बिहारी के पिता का नाम केशवदास है। ग्यारह वर्ष की अवस्था में बिहारी का अपने पिता के साथ जाना, श्री हरिस्वामी का आश्रम देखना, तथा वहां नागरीदास जी का महन्त के रूप में सुशोभित होना वर्णित है। रत्नाकर जी के अनुसार कुछ संदेहास्पद बातों के होते हुए भी अधिकांश बातें सच जान पड़ती हैं। क्योंकि--

श्री नरहरि नरनाह कों, दीनी बांह गहाइ,
सगुन आगरे आगरे, रहत आइ सुख पाइ॥[४]

जाति का प्रश्न भी हल हो जाता है क्योंकि चौबे भी सनाढ्य होते हैं और मिश्र उनकी 'अल्ल' होती है। मथुरा में तथा अन्य स्थानों पर ऐसे मिश्र बहुत से हैं। कुलपति मिश्र ने जो यह दोहा 'संग्रह सागर' में लिखा है—

"कविवर मातामहि सुमिरि, केसो केसोराइ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छन्द बनाइ॥"[५]

इससे भी केशवदास के प्रति संकेत है। 'विज्ञान-गीता' के अन्त में केशवदास जी ने 'बालकनि' शब्द के द्वारा एक से अधिक सन्तान होने का संकेत किया है।[६]
देवकीनन्दन जी ने 'बिहारी सतसई' की टीका में लिखा है--

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, सं० १९८४, पृ० ८७
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, सं० १९८४, पृ० ८७
३. सब अँग करि राखो सुघर ना इक नेह सिखाइ।
रस जुत लेत अनन्त गति, पुतरी पातुर राइ। बिहारी-रत्नाकर, दोहा २८७
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, सं० १९८४, पृष्ठ ८७
५. संग्रामसागर अप्रकाशित
६. विज्ञान-गीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ५६, ५७

"बिप्र बिहारी सुद्ध भो, ब्रजवासी सुकुलीन ।
तातिय ही कविता निपुन, सतसैया तिहि कीन ।।"[1]

'रत्नाकर' जी का अनुमान है कि क्या आश्चर्य है जो यह विदुषी बिहारी की ही स्त्री रही हो।

पिता-पुत्र के समर्थक पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने अपने 'बुन्देलवैभव' नामक ग्रन्थ में 'जन्म ग्वालियर जानिए'[2] वाले दोहे के सम्बन्ध में लिखा है कि 'फुटेरा ग्राम' जिसमें बिहारी के वंशज आजकल रहते हैं, 'ओरछा के राजकवि' न होने के कारण से बुन्देलखंड से कोई सम्बन्ध न रहा। ओरछा एवं मथुरा में पर्याप्त अन्तर है अतः भाषा-वैषम्य स्वाभाविक ही है।'[3] इस प्रकार बिहारी का सम्बन्ध बुन्देलखंड (ओरछा) से स्थापित करके उन्हें केशव का पुत्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

गणेशप्रसाद द्विवेदी अपने 'हिन्दी के कवि और काव्य' नामक पुस्तक में लिखते हैं–

'इस बात को सभी मानते हैं कि बिहारी माथुर चौबे थे और केशवदास थे मिश्र। इस मोटी सी बात पर ध्यान देने का कष्ट कदाचित् नहीं उठाया गया। बिहारी की जन्म-तिथि केशव के मृत्युकाल के निकट सं० १६६० वि० में मानी जाती है और फिर 'सरोज-कार' के हिसाब से तो बिहारी का जन्म केशव से पूर्व ही हो चुका था।

सारांश यह है कि बिहारी को केशव का पुत्र मान लेने का अभी तक हमारे पास प्रबल प्रमाण नहीं है।[4]

'केशवदास' नामक ग्रन्थ में श्री चन्द्रबली पांडे इस प्रकार विचार प्रकट करते हैं–

'श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने यहां जिस मोटी बात का उल्लेख किया है वह वस्तुतः मोटी ही है। उसके मूल में परम्परा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बिहारी मिश्र नहीं, चौबे थे। इसका किसी के पास प्रमाण क्या! बिहारी ने कब और कहां अपने को मथुरा का चौबे कहा है। फिर मथुरा के चौबों में मिश्र भी तो होते हैं। रही जन्मभूमि और सुसराल की बात सो उसके साथ बुन्देलखण्ड (ओरछा) का उल्लेख है ही। फिर इतना प्रमाद क्यों! देखिए, 'जन्मभूमि और सुसराल' का आधार यही दोहा है न—

"जनमु ग्वालियर जानिए, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि सुसराल ।।"

तो आप 'खंड बुन्देले बाल' को क्या करेंगे! इसे कैसे पी जाएंगे! नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, इस पर भी ध्यान देना होगा। इससे तो आप ही स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तुतः

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, १९८४, पृष्ठ ९८

२. जनम ग्वालियर जानिए, खंड बुन्देले बाल। तरुनाई आई सुखद मथुरा बसि सुसराल ।।
नोटः—यह दोहा 'बिहारी रत्नाकर' में नहीं पाया जाता है।

३. बुन्देलवैभव प्रथम भाग, पृ० २२०

४. हिन्दी के कवि और काव्य भाग २, पृष्ठ १८५, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

आपके पक्ष में कितना पानी है ।[1]

'द्विवेदी जी की मोटी बात का उत्तर तो पांडे जी ने दे दिया। जहां तक सरोजकार के कथन का सम्बन्ध है कि बिहारी का जन्म केशव से पहले हो चुका था, नितान्त ही असंगत है। 'शिवसिंहसरोज' में एक नहीं अनेक सन-संवत् अशुद्ध हैं। अत: प्रामाणिक नहीं। दूसरे, इतिहास साक्षी है कि वीरसिंहदेव की मृत्यु सन् १६२७ ई० में हुई[1] और जयसिंह उनसे परवर्ती थे। ये दोनों ही केशव एवं बिहारी के क्रमशः आश्रयदाता थे। अत: बिहारी का केशव से पूर्व होना असंभव नहीं है तो क्या ! शेष तर्कों में भी कोई विशेष बल नहीं है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने केशव के वंशज हरिसेवक द्वारा प्रणीत 'कामरूप की कथा' का उद्धरण देते हुए[2] कहा है कि बिहारी केशव के पुत्र न थे। परन्तु हरसेवक ने अपने पितामह के ज्येष्ठ भ्राता केशव के नाम का ही उल्लेख किया है, कोई आवश्यक नहीं था कि केशव के पुत्र बिहारी का भी वर्णन किया जाता।

श्री मायाशंकर याज्ञिक ने संवत् १९८७ वि० की 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका के एक लेख में इस पिता-पुत्र सम्बन्ध के विपक्ष में बहुत से तर्क दिए हैं उनमें से उल्लेखनीय यह है कि वे बिहारी के पिता केशव को नहीं अपितु 'केसो केसोराइ' नामक किसी अन्य कवि को मानते हैं। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने कई उदाहरण दिए हैं—

"मेरे हरौ कलेस सब केसो केशोराइ"[4]

कुलपति मिश्र ने 'संग्राम सागर' में लिखा है—

"कविवर मातामहि सुमिरि, केसो कसोराय ॥"[5]

इसके अतिरिक्त उन्होंने नवीन कवि द्वारा विरचित 'प्रबोध रससुधा सागर' नामक ग्रंथ से 'केसो कसोराय' के दो छन्द उद्धृत किए हैं जिनमें कवि की छाप 'केसव केसवराय' है—[6]

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि केशव जी ने 'केसो केसोराइ' की छाप से भी कविता लिखी है।

अत: याज्ञिक जी द्वारा उद्धृत छन्द भी महाकवि केशवदास द्वारा विरचित ही हैं। केशव आचार्य थे, अत: उनके छन्दों का प्रयोग 'रस सुधा सागर' में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरे याज्ञिक जी ने 'केसो केसोराय' कवि का न तो जन्म-संवत् ही बतलाया और न जन्मभूमि ही। अत: प्रभूत प्रमाणों के अभाव में याज्ञिक जी की स्थापना निरर्थक हो जाती है। डा० हीरालाल दीक्षित अपने 'आचार्य केशवदास' नामक ग्रन्थ में पिता-

१. केशवदास, चन्द्रबली पांडे, पृष्ठ ६
२. ओरछा गजेटियर, भाग ६ अ
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका खोज-रिपोर्ट १९०५ ई०
४. बिहारी रत्नाकर, दोहा १०१, पृष्ठ ४६
५. संग्राम सागर अप्रकाशित, नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८ सं० १९८७
६. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८ सं० १९८७

पुत्र-सम्बन्ध के विरुद्ध चार कारण देते हैं—

१. केशव एवं बिहारी का आस्पद वैषम्य

२. बिहारी केशव के पुत्र होते तो यह बात परम्परा से प्रसिद्ध होती

३. केशव के वंशज हरिसेवक ने 'कामरूप की कथा' में बिहारी का उल्लेख नहीं किया—

४. बिहारी ने स्पष्ट रूप से अपना जन्म ग्वालियर में होना लिखा है किन्तु केशव का कभी ग्वालियर में रहना प्रमाणित नहीं होता।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि विपक्ष के ये सभी कारण भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा पूर्व ही उठाए जा चुके हैं और गौरीशंकर द्विवेदी, रत्नाकर जी तथा चन्द्रबली पांडे आदि विद्वानों ने आक्षेपों का निराकरण भी किया है। फिर भी डाक्टर साहब के कारणों पर विचार करना अनुचित न होगा।

१. बिहारी चौबे थे इस बात का प्रमाण बिहारी ने तो कहीं नहीं दिया। दूसरे, चौबे लोगों में भी मिश्र होते हैं। केशव ने तो अपने को मिश्र कहा है अतः पिता-पुत्र का आस्पद एक ही रहा। इसके अतिरिक्त यदि आस्पद भिन्न भी होते तब भी पिता-पुत्र सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं। पिता-पुत्र के भिन्न आस्पदों की बात तो दूर रही, ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं जिन्होंने अपने जीवन के दो आस्पद रखे।

२. जीवन उत्थान एवं पतन का मिश्रण है। जिस वंश ने पीढ़ियों से विद्वानों को जन्म दिया। कृष्णदत्त, काशीनाथ, बलभद्र, केशव तथा बिहारी जैसे रत्न उत्पन्न किए, वही आगे चलकर अधःपतन के गर्त में चला गया। बिहारी की मृत्यु के उपरान्त उनके वंशज 'फुटेरा पिछोर' चले गए और भोले-भाले ग्रामवासी लोगों की भांति जीवन-यापन करने लगे।

३. यह तर्क वास्तव में सबसे पहले डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने उठाया था। डा० हीरालाल दीक्षित ने स्वयं ही उत्तर देते हुए लिखा है—

'बाबू श्यामसुन्दरदास जी के इस तर्क में विशेष बल नहीं है। उपर्युक्त ग्रन्थ के परिचय में बिहारी का उल्लेख न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि केशव बिहारी के पुत्र न थे। हरिसेवक ने केशव का नाम, प्रसिद्ध व्यक्ति से सम्बन्ध प्रदर्शित करने की स्वाभाविक मनोवृत्ति के फलस्वरूप आरम्भ में देकर केवल उसी शाखा का उल्लेख किया है, जिससे सीधा उनका सम्बन्ध था।'[2]

डा० हीरालाल जी दीक्षित के उपर्युक्त कथन से हम पूर्णतया सहमत हैं। स्वीकार करते हुए भी डा० साहब ने श्यामसुन्दरदास जी के तर्क को अपने कारणों में गिना दिया है। हरिसेवक का उद्देश्य 'कामरूप की कथा' में वंशावली देना न था। वे तो साधारण

---

१. आचार्य केशवदास, पृष्ठ ४८–४९

२. आचार्य केशवदास, डा० हीरालाल दीक्षित, पृष्ठ ४५–४६

परिचय देना चाहते थे। अतः बिहारी की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई।

४. हम स्वयं स्वीकार करते हैं कि ग्वालियर में केशवदास स्थायी रूप से नहीं रहे परन्तु वहां पर उनकी सुसराल थी। बिहारी अधिकतर ननिहाल में ही रहे। अतः उनका जन्म ग्वालियर में ही हुआ होगा।

इस प्रकार बिहारी के समय, जन्म-स्थान एवं जाति आदि के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बिहारी केशवदास के पुत्र थे।

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों से केशव का सम्बन्ध

आश्रयदाताओं के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जिनसे आचार्य केशवदास जी का विशेष सम्बन्ध था। वह सम्बन्ध इतना था कि केशवदास जी ने अपनी कृतियों में भी उनका उल्लेख किया है। यहां हम उन्हीं कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार करेंगे—

बीरबल

बीरबल केशवदास जी के आश्रयदाता के रूप में नहीं लिए जा सकते परन्तु वे उनके परम हितैषी थे। इन्द्रजीतसिंह के जुर्माना माफ कराने के सम्बन्ध में केशवदास जी बीरबल के पास आगरे गए थे और उन्होंने एक छन्द द्वारा उनकी प्रशंसा की थी।[1]

कहा जाता है कि उस छन्द से बीरबल पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने छह लाख रुपयों की हुंडियां जो उनकी जेब में पड़ी हुई थीं, केशवदास को दे दीं। इसके अतिरिक्त अकबर के द्वारा एक करोड़ रुपये का जुर्माना भी माफ करा दिया।

राय प्रवीण

राय प्रवीण पातुर के सम्बन्ध में हम अन्यत्र कह चुके हैं। वह केशवदास जी की प्रिय शिष्या थी। केशव उसके गुणों पर इतने मुग्ध थे कि उन्होंने उसकी लक्ष्मी, शारदा एवं पार्वती से तुलना की है। 'कविप्रिया' का प्रणयन उसी के हेतु हुआ तथा 'कविप्रिया' की प्रेरणा का स्रोत भी राय प्रवीण ही थी।[2]

रहीम

केशवदास जी का परिचय अब्दुल रहीम खानखाना से भी था। आगरा जाने के कारण से रहीम जैसे काव्य-प्रेमी से मिलना स्वाभाविक भी था। केशव रहीम के विषय में लिखते हैं—

"साहि जू की साहिबी को रक्षक अनन्तगति,
कीनो एक भगवन्त हनवन्त वीर सों।

---

१. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ४६०

१. सविता जू कविता दई, ता कहँ परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केसवदास॥

—कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ६१

जाको जस केसोदास, भूतल के आस पास,
सोहत छबीले क्षीर-सागर के क्षीर सों।
अमित उदार अति पावन विचार चारु,
जहां तहां आदरिये गंगा जू के नीर सों।
खलनि के घालिबे को, खलक के पालिबे को,
खानखाना एक रामचन्द्र जू के तीर सों॥"[१]

टोडरमल

राजा टोडरमल ने अपनी योग्यता से शेरशाह सूरी तथा अकबर महान् दोनों को ही प्रसन्न किया। अकबर के राज्यकाल में वह भूमि-कर विभाग के प्रधानमंत्री थे। संभवत: केशवदास जी से उनकी कुछ खटक गई होगी। उसकी व्यंजना निम्न छन्द में परिलक्षित होती है। 'वीरसिंहदेवचरित' में दान लोभ से कहता है—

"टोडरमल तुव मित्त मरे, सब ही सुख सोयो।
मोरे हित बलवीर मरे, दुख दीननि रोयो॥"[२]

अकबरी दरबार के अन्य रत्न अबुलफजल, फैजी, मानसिंह आदि से भी केशवदास का परिचय अवश्य रहा होगा, क्योंकि केशवदास जी की रचनाओं से इनके संकेत पाए जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के सम्बन्ध में हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि केशवदास जी से उनकी भेंट हुई थी।

पतिराम

केशवदास जी का एक और परिचित एवं पड़ौसी जिसे हम शिष्यत्व की संज्ञा दे चुके हैं, पतिराम सुनार था। 'कविप्रिया' में केशवदास जी ने उसके सम्बन्ध में निम्न छन्द लिखे हैं—

"बाँचि न आवे, लिखि कछू, देखत छाँह न घाम।
अर्थ, सुनारी, वैदई करि जानत पतिराम॥"[3]
मूल तोल कसिवान वनि, काइथ लिखत अपार।
राखि मरत पतिराम ये, सोनौ हरत सुनार॥"[४]
दए सुनारनि दाम, रावर को सोनो हर्यौ।
दुख पायो पतिराम, प्रोहित केसव मिश्र सों।"[५]

कामसेना

'कविप्रिया' के ग्यारहवें प्रभाव में एक कवित्त द्वारा कामसेना नाम्नी राजा रामसिंह

---

१. जहांगीर जसचन्द्रिका, छन्द ५
२. वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ सं० ११
३. कविप्रिया, नवम प्रभाव छन्द २९
४. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव छन्द १६
५. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १३

की वेश्या की उपमा कामदेव की सेना से दी गई है—

"सोहति सुकेसि, मंजुघोषा, रति, उरबसी,
राजा राम मोहिबे को सूरति सोहाई है।
कलरव कलित सुरनि राग रंग जुत,
बदन कमल षट्पद छवि छाई है।
भृकुटी कुटिल धनु, लोचन कटाक्ष सर,
भेदियत मंजु मन तन सुखदाई है।
प्रमुदित पयोधर सौदामिनी साथ नाथ,
काम की सी सेना कामसेना बनि आई है।"[1]

चन्द्र

यह राजा बीरबल का दरबान था। 'कविप्रिया' के तेरहवें प्रभाव में चन्द्र के विषय में केशवदास जी लिखते हैं—

"सब सुख चाहो भोगवै, जौ पिय एकहि बार।
चन्द गहै जहं राहु कौं, जैयो तिहि दरबार॥"[2]

विट्ठलनाथ गोस्वामी

'कविप्रिया' के सोलहवें प्रभाव में केशवदास जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"हरि दृढ़ बल गोविन्द विभु पायक सीतानाथ।
लोकप विट्ठल संखधर गरुड़ध्वज रघुनाथ॥"[3]

मेरे मंत्रगुरु श्री १०८ गोस्वामी विट्ठलनाथ जी साक्षात् ईश्वर हैं और हरि, गोविन्द विभु आदि सब उन्हीं के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में काव्य के प्रयोजन तथा कारणों पर विचार करते हुए शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही व्यावहारिक ज्ञान का भी महत्व प्रतिपादित किया है। 'व्यवहार विदे'[4] तथा 'लोकशास्त्र काव्य-द्यवेक्षणात्'[5] कहकर अपने मत को स्पष्ट कर दिया है। केशव काव्यशास्त्र के ज्ञाता थे। भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष दोनों पर केशव का समान अधिकार था। रस, अलंकार एवं छन्द पर क्रमशः 'रसिकप्रिया', 'कवि-

---

१. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३५
२. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ३७
३. कविप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १९
४. "काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यः पर निर्वृत्तये, कान्ता सीम्मत तपोपदेश भुजे।" प्रथम उल्लास श्लोक २।
५. "शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्य शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।" काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, श्लोक ३।

प्रिया तथा 'छन्दमाला' का प्रणयन उनके शास्त्रीय ज्ञान के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ब्रजभाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। संस्कृत की विद्वत्ता तो उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं ने अपने विचार प्रकट किए हैं—

मिश्रबन्धुओं ने तो केशव को भाषा का भामह एवं मम्मट बतलाया है।[१] ज्योतिष, संगीत, भूगोल, वैद्यक, वनस्पति, पुराण आदि का साधारण ज्ञान उन्हें अवश्य था और उसी के आधार पर यत्र-तत्र अपने ग्रन्थों में इन विषयों पर प्रकाश डाला है परन्तु इन विषयों के वे आचार्य नहीं कहे जा सकते। किसी कवि के किसी विषय पर दो-एक छन्द को देखकर उसे उस विषय का विशेषज्ञ कहना उपहासास्पद नहीं तो क्या ? बिहारी के एक-एक दोहे को लेकर स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा प्रभृति आलोचकों ने उन्हें न मालूम क्या-क्या बना डाला है। केशव के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। केशव के सम्बन्ध में यत्र-तत्र बिखरे हुए छन्दों को लेकर यह सिद्ध करना कि वे ज्योतिष[२], संगीत[३], भूगोल[४], वैद्यक[५], वनस्पति[६] आदि के पूर्ण ज्ञाता थे, समीचीन प्रतीत नहीं होता। एक साधारण जन भी जानता है कि जवासा वर्षा ऋतु में सूख जाता है।[७] प्रायः इस प्रकार के कथन प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत रूप में सभी कवियों के मिलते हैं।

इतना अवश्य है कि केशवदास जी का ज्ञान पुराण, राजनीति, धर्म में बढ़ा-चढ़ा हुआ था। बिना व्यावहारिक ज्ञान के शास्त्रीय ज्ञान पंगु है। ऐसे लोगों की वही दशा होती है जैसी कि पंचतंत्र की कथा में आए हुए कोरे शास्त्रज्ञ पंडितों की हुई थी। केशवदास जी गृहस्थ थे और गृहस्थी में व्यावहारिक पटुता का आना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। बहुत-सी बातों का उल्लेख उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर ही किया है जैसे केशव का 'हयशाला' वर्णन देखिए—

"मौरी घूटे आड़तर पूंछ हेटतर होइ।
ओठ दुबै सब राजि सो बुरौ कहै सब कोइ॥"[८]

और भी—

"जा घोरे की आंख में नीले पीले बिन्दु।
तौ जीवै सो मास दस जो ज्यावै गोविन्द॥"[९]

---

१. हिन्दी नवरत्न पृष्ठ ४६०
२. रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध, छं० सं० ४६, पृष्ठ सं० १११
३. रामचन्द्रिका उत्तरार्द्ध, छं० सं० ३, पृष्ठ सं० १५८
४. रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध, पृष्ठ सं० १०२
५. रामचन्द्रिका प्रथमार्द्ध, छं० सं ४१, पृ० २८६
६. रसिकप्रिया, पृ० सं० १८१
७. रामचन्द्रिका तेरहवां प्रकाश, छं० ८८
८. वीरसिंहदेवचरित छं० ६६, पृ० ११३
९. वीरसिंहदेवचरित छं० ७६, पृ० ११४

यह अश्व-परीक्षा-ज्ञान नितान्त व्यावहारिक ही है। इनकी व्यावहारिक-पटुता का जादू बीरबल के सर पर चढ़कर भी बोला।[1] वीरसिंहदेव एवं रामशाह में राज्य के ऊपर घोर शत्रुता थी। अन्त में जाकर दोनों में युद्ध भी हुआ परन्तु केशव ने दोनों को ही बनाए रखा।

'राजा जोगी अगिनि जल इनकी उलटी रीत्रि' के अनुसार राजाओं को बदलते देर नहीं लगती। केशवदास का सारा जीवन राजाओं के मध्य में व्यतीत हुआ परन्तु कभी किसी की उन पर कुदृष्टि न रही। यह सब उनकी व्यावहारिक ज्ञान की ही परिचायक है। राजनीति के दाव-पेंच, दरबार का उठना-बैठना, चलना, बोलना आदि यदि किसी को सीखना है तो केशव से सीखे। राज-दरबार में धाक जमाने के लिए जिस ज्ञान-बाहुल्य, वाग्वैदग्ध्य, नैपुण्य, चातुर्य, कला-कुशलता की आवश्यकता थी, वह सब उनमें पाई जाती थी।

स्वभाव एवं चरित्र

केशवदास स्वभाव से शान्ति-प्रिय व्यक्ति थे परन्तु साथ ही साथ स्वाभिमानी भी। यद्यपि पंडितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी के मुरारिदान की भांति केशव ने अपनी विद्वत्ता का ढिंढोरा नहीं पीटा तथापि गोस्वामी तुलसीदास की भांति दैन्य भी प्रदर्शित नहीं किया। तुलसी एवं केशव में यही अन्तर है कि तुलसी पहले भक्त हैं तदुपरान्त कवि, जबकि केशव पहले कवि थे तदुपरान्त भक्त। यही कारण है कि राम एवं उनसे सम्बन्धित पात्रों के साथ केशव ने भावुकता का परिचय नहीं दिया। उनका यथातथ्य चित्रण किया है। परिणामस्वरूप 'रामचन्द्रिका' के उत्तरार्द्ध में विभीषण को भी आड़े हाथों लिया है, जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्त होने के नाते छूट दे रखी थी। आश्चर्य का विषय है कि जिस व्यक्ति का जीवन सदैव राजाओं के सम्पर्क में व्यतीत हुआ वह अपने स्वाभिमान की रक्षा कैसे कर सका। स्वाभिमानी व्यक्ति आदर चाहता है धन नहीं। केशवदास जी भी ऐसे ही व्यक्ति थे। जब बीरबल ने मुग्ध होकर कहा कि जो कुछ मांगना है वह मांगो। उस समय केशवदास जी धन-राशि की भी याचना कर सकते थे परन्तु उनका उत्तर केवल यही था—

"मांग्यो तब दरबार में, मोहि न रोकै कोइ।"[2]

उसी प्रकार जहांगीर जब केशवदास जी की कविता पर मुग्ध होता है और कहता है कि जो कुछ मांगना है वह मांगो तो उस समय भी केशव के मुख से यही निकलता है—

"यद्यपि हरि जू मांगिबो, दियो हिये उपजाइ।
हौं मांगों जगदीस पैं, सुनो साहि सुखपाइ॥"[3]

कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों स्थलों पर स्वाभिमान के कारण से ही

---

१. हिन्दी नवरत्न, पृ० ४६०
२. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १९
३. जहांगीर जसचन्द्रिका, छन्द १९८

उन्होंने अपार धनराशि को ठुकरा दिया।

केशवदास जी शान्ति चाहते थे। इन्द्रजीतसिंह यदि जुरमाना न देते तो अकबर के साथ युद्ध अवश्यंभावी हो जाता। परन्तु केशव ने बीरबल की सहायता से उसे माफ करा कर एक भयंकर युद्ध को टाल दिया। जब रामशाह एवं वीरसिंहदेव में चल गई तो केशव ने शान्त कराने का सराहनीय प्रयत्न किया। दोनों को समझाया। केशव सन्धि कराने में सफल भी हो गए थे परन्तु माता ने कुछ काम न बनने दिया।

राजाओं में रहने पर भी केशव ने साधारण व्यक्तियों को तिलांजलि नहीं दी। पतिराम सुनार तथा बीरबल के दरबान चन्द्र को अपनी कविता में स्थान देकर सदैव के लिए अमर कर दिया। केशवदास जी स्वभाव से ही सज-धज के शौकीन थे। 'कविता जीवन की व्याख्या' होने के कारण उस सज-धज का प्रभाव कविता पर भी पड़ा। संभवतः उन्होंने इसीलिए मुनादी की :—

"भूषन बिनु न विराजहीं, कविता बनिता मित्त।"[1]

केशवदास जी स्वभाव से भ्रमणशील व्यक्ति न थे। प्रायः ओरछा राज्य में ही रहे। यदा-कदा आगरा, इलाहाबाद, काशी, उदयपुर आदि में जाना उनके काव्यों से सिद्ध होता है।

वे धार्मिक अवश्य थे परन्तु बाह्याडम्बर से उन्हें चिढ़ थी। मन की शुद्धता पर वे विशेष बल देते थे—

"जग कौ कारन एक मन, मन को जीत अजीत।
मन को मन सुन शत्रु है, मन ही मन को मीत॥"[2]

तथा—

"यथाशक्ति सब करत भक्ति हरि मन बच अंगा।
चित्त न तजत विकार न्हात नर यद्यपि गंगा॥"[3]

कुछ विद्वानों को उनमें जातिवाद की गन्ध आती है। परन्तु यह सब उन्हें अपनी जीविका के लिए करना पड़ा। राजाओं की उल्टी रीति पर नियन्त्रण करने का यह सब साधन-मात्र था।

रीतिकालीन कवियों की एक विचित्र स्थिति थी। राज्याश्रय के बन्धन के कारण उनमें परिस्थितियों से ऊंचा उठने की क्षमता नहीं थी। भक्त न होते हुए भी उन्हें भक्त बनना पड़ता था, रसिक न होते हुए भी उन्हें रसिकता का आडम्बर रचना पड़ता था। इस रसिकता से उन्हें धन तो प्राप्त हुआ परन्तु साथ ही अपयश भी। केशवदास भी इसके अपवाद न थे। उनकी रसिकता के प्रमाणस्वरूप कितने ही छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं। 'चन्द्रबदन मृगलोचनी' वाला प्रसिद्ध दोहा भी उनमें से एक है। सामान्याओं की

१. कविप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द १
२. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द १९
३. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द २८

प्रशंसा को देखकर कुछ विद्वानों का विचार है कि केशवदास जी की रुचि पर भी उन परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, क्योंकि परिस्थिति से ऊंचा उठने का सामर्थ्य बहुत कम लोगों में होता है। वास्तव में वस्तुस्थिति ऐसी नहीं। केशवदास ने वेश्याओं का वर्णन अपने आश्रयदाताओं की प्रेयसियों के रूप में ही किया है। 'रसिकप्रिया' 'वात्स्यायन के कामसूत्र' की अपेक्षा कुछ नहीं है। भरत मुनि से लेकर आज तक के आचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं माने जा सकते। किसी शृंगारिक लक्षण अथवा किसी एक छन्द को लेकर चरित्र पर सन्देह करना उनके साथ अन्याय करना है। केशव का व्यक्तित्व महान् था। उनके महान् व्यक्तित्व की छाप दरबार के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही जीवनों पर खूब पड़ी। अपनी प्रतिभा से उन्होंने सारे दरबार का वातावरण कवित्वमय कर दिया, यहां तक कि वेश्याएं भी काव्य-रचना में निपुण हो गई। केशव के चरित्र से प्रभावित होकर जीवन की अपवित्रता से हटकर पवित्रता तथा पातिव्रत्य को अपनाने लगीं। 'नवरस नवधा भक्ति स्यों'[१] नवरंगराय सुशोभित होती थी। केशव की प्रिय शिष्या राय प्रवीण ने चरित्र-बल के द्वारा अकबर महान् को करारी हार दी थी।

निधन

जिस प्रकार से केशवदास जी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं उसी प्रकार से उनके निधनकाल के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रायः विद्वानों ने आचार्य शुक्ल के अनुसार ही मृत्युकाल स्वीकार कर लिया है, यद्यपि आचार्य शुक्ल ने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिए। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, मिश्र-बन्धु, श्री रामनरेश त्रिपाठी तथा डा० हीरालाल दीक्षित सं० १६७४ वि० में निधन मानते हैं। लाला भगवानदीन तथा गौरीशंकर द्विवेदी आदि विद्वान् सं० १६८० वि० में निधन मानते हैं। इनके अतिरिक्त श्री चन्द्रबली पांडे तथा अम्बिकादत्त व्यास सं० १६७० विक्रमी में निधन मानते हैं। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' का प्रणयन सं० १६६९ वि० में हुआ। यह रचना केशवदास की अन्तिम रचना है। 'विज्ञानगीता' से ही केशवदास जी का मन वैराग्य के प्रति झुकने लगा था। साधारण पाठक प्रश्न कर सकता है कि वैराग्य के उपरान्त 'जहांगीर-जसचन्द्रिका' लिखने की आवश्यकता क्या थी! नाम से प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ में जहांगीर के यश का वर्णन होगा परन्तु वास्तव में उद्यम और भाग्य का संवाद है। यश-वर्णन धन के लिए किया जाता है परन्तु 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' से विदित होता है कि उस अवस्था में पहुंचकर वे 'जगदीश' के अतिरिक्त किसी से माँगना नहीं चाहते थे।[२] उसके उपरान्त उन्होंने शेष जीवन आध्यात्मिक जगत में विचरण करते हुए व्यतीत किया। भौतिकता को पूर्ण रूप से तिलांजलि देने के कारण अपना कहीं उल्लेख भी नहीं किया। सं० १६६९ में केशवदास की आयु ५१

---

१. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ४७

२. जहांगीर-जसचन्द्रिका, छन्द १९८

वर्ष की थी, अतः वृद्धावस्था का प्रारम्भ ही समझना चाहिए। परन्तु केशवदास जी से सम्बन्धित प्रसिद्ध दोहे से प्रतीत होता है कि सफेद बालों के कारण से ही मृगलोचनियों ने बाबा कहा था। उनके सफेद बाल साठ वर्ष से ऊपर ही हुए होंगे। अतः केशवदास का मृत्युकाल सं० १६८० वि० के लगभग मानना उचित प्रतीत होता है। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रेत-योनि से केशव का उद्धार किया था। यद्यपि इस जनश्रुति में कोई विशेष सार नहीं तथापि इतना माना जा सकता है कि केशव की मृत्यु तुलसी से कुछ दिन पूर्व हुई होगी। अतः केशव का मृत्युकाल सं० १६८० वि० के लगभग मानना ही समीचीन होगा। श्री चन्द्रबली पांडे अपने 'केशवदास' नामक ग्रंथ में केशव का निधनकाल सं० १६७० वि० में मानते हैं।[1] इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि सं० १६६९ वि० में जिस व्यक्ति का स्वास्थ्य इस योग्य है कि वह एक ग्रंथ का प्रणयन कर सके, उस व्यक्ति का मृत्युकाल सं० १६७० वि० बिना किसी आधार के मानना उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरे, सं० १६७६ वि० में मथुरा में 'केशवदेव' के मन्दिर का निर्माण वीरसिंहदेव ने कराया था। सम्भव है केशवदास जी की देख-रेख में इस मन्दिर का निर्माण-कार्य हुआ हो। मन्दिर का नामकरण 'केशवदेव' होना इस बात का द्योतक है कि केशवदास जी का इस मन्दिर से अवश्य सम्बन्ध था। निर्माण के उपरान्त केशवदास जी ने सम्भवतः भजन-पूजन करते हुए वहीं अपनी जीवनलीला समाप्त की हो। अतः सं० १६७६ के उपरान्त ही केशवदास जी का निधन हुआ होगा। सं० १६७४ वि० में मृत्यु-काल मानने के लिए अनुमान का अवलम्बन लिया गया है। गौरीशंकर जी द्विवेदी तथा लाला भगवानदीन जी ने भी केशव का मृत्युकाल सं० १६८० वि० माना है। अतः केशव दास जी का निधन लगभग ६२ वर्ष की अवस्था में सं० १६८० वि० में हुआ।

---

१. केशवदास, पृष्ठ ४१, चन्द्रबली पांडे

द्वितीय परिच्छेद

केशव की रचनाएं

केशवदासजी की रचनाएं प्रायः प्राप्त हैं, एक रचना आज भी अप्राप्य है जो कि संदेहास्पद कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ केशव-नामधारी अन्य कवियों की रचनाएं हैं जिन्हें प्रायः साधारण पाठक महाकवि केशवदास की ही रचनाएं मान लेते हैं। इन सबका वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

(अ) महाकवि केशवदास की रचनाएं—

१. रतनबावनी
२. रसिकप्रिया
३. नखशिख
४. बारहमासा
५. रामचन्द्रिका
६. कविप्रिया
७. छन्दमाला
८. वीरसिंहदेवचरित
९. विज्ञानगीता
१०. जहांगीर-जसचन्द्रिका

(ब) सन्देहास्पद रचना—

१. रामालंकृतमंजरी

(स) केशव-नामधारी अन्य कवियों की रचनाएं—

१. केशवदास जी का अमी घूंट
२. जैमिनी की कथा
३. हनुमान जन्मलीला
४. बालि-चरित्र
५. आनन्दलहरी
६. रसललित
७. कृष्णलीला
८. संगीतरत्नाकर पर भाष्य

अब हम प्रत्येक रचना के सम्बन्ध में खोज रिपोर्टों, विषय, काल तथा टीकाओं का विवरण देंगे।

रचनाएं——

रतनबावनी[1]

खोज रिपोर्ट सन् १६३० ई०
रतनबावनी–केशवदास मिश्र कृत
पृष्ठ संख्या १६
छन्द संख्या ३५०
स्थान–राजकीय पुस्तकालय, दतिया

'रतनबावनी' केशवदास जी की प्रथम रचना है। इस ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों की भांति केशवदास जी ने रचना-काल नहीं दिया। अतः अन्तःसाक्ष्य के अभाव में बहिःसाक्ष्य के आधार पर ही इस कृति को प्रथम रचना सिद्ध कर चुके हैं। यह एक वीररस-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें ओरछा के राजा मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन की वीरता का वर्णन है। राजकुमार रतनसेन पिता की आज्ञा पाकर युद्ध के लिए अकबर बादशाह के विरुद्ध तत्पर होता है। विप्रवेश में साक्षात् परमेश्वर उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं कि यदि प्राण हैं तो बहुत-सी प्रतिज्ञाओं का निर्वाह कर सकोगे। परन्तु रतनसेन अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। घमासान युद्ध हुआ। चार सहस्र सेना में से कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं बचा, साथ ही साथ रतनसेन भी वीरगति को प्राप्त हुए।

इस ग्रन्थ में कल्पना का प्राधान्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से रतनसेन की मृत्यु शाही सेना की ओर से लड़ते-लड़ते सं० १६३७ में हुई थी।[2] इस पुस्तक की कुछ घटनाएं केशव की अन्य पुस्तकों में वर्णित घटनाओं से मेल नहीं खाती हैं। नाम को दृष्टि में रखते हुए इसमें ५२ छन्द होने चाहिएं परन्तु जो पुस्तक प्राप्त हुई है उसमें ६८ छन्द है। अतः प्रतीत होता है कि कुछ अंश प्रक्षिप्त है।

'रतनबावनी' में वीररस का पूर्ण परिपाक पाया जाता है। चन्द्रवरदायी की शैली का अनुसरण किया गया है। इस ग्रन्थ में भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। यह केशव की प्रथम एवं सफल रचना है।

रसिकप्रिया

रसिकप्रिया[3]——खोज रिपोर्ट सन् १६२६-२८ ई०
पत्र ७९ आकार ८"×३" पंक्ति प्रति पृष्ठ ३२
छन्द १८६६
रचना काल सं० १६४८ वि०
लिपिकाल सं० १७३७
प्राप्ति-स्थान आनन्द भवन पुस्तकालय

---

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट, पृ० सं० ३१
२. बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १३२, गोरेलाल तिवारी
३. काशी ना० प्र० सभा, खोज रिपोर्ट, वि०सं० २०१०

डाकखाना विसवां, ज़िला सीतापुर

रसिकप्रिया[1]— खोज-रिपोर्ट, सन् १९२६-२८
दो हस्तलेख, समय सं० १७३७, (सन् १६८०)
रचनाकाल सं० १६४८
ये हस्तलेख अब तक की सभी प्रतियों में प्राचीन हैं।

रसिकप्रिया[2]— खोज-रिपोर्ट, सन् १९०३
केशवदासमिश्रकृत
छन्द-संख्या १६२०
स्थान—पुस्तकालय महाराजा, बनारस

रसिकप्रिया[3]— खोज-रिपोर्ट १९१७-१९१९ ई०
रि० नं० ९६ अ केशवदासकृत
पृष्ठ-संख्या ६८
छन्द-संख्या १०३२
स्थान—सेठ चन्द्रशंकर, अनूपशहर (बुलन्दशहर)

रसिकप्रिया[4]— केशवदासकृत
रि० नं० ९६ ब पृष्ठ-संख्या ५० खंडित
छन्द-संख्या १३३०

रसिकप्रिया[5]— पृष्ठ-संख्या ३४
खोज रि० नं० ८२ छन्द-संख्या ५०६
प्रतिलिपि-काल संवत् १७७४ वि०
स्थान—पं० महावीरप्रसाद दीक्षित
पोस्टआफिस—चन्दमाना, फतेहपुर

'रसिकप्रिया' केशवदास जी की द्वितीय रचना है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में केशवदासजी प्रथम प्रकाश में ही कहते हैं—

"संवत् सोरह सै बरष, बीते अठतालीस।
कातिग सुदि तिथि सप्तमी, वार बरनि रजनीस॥"[6]
"अति रति गति मति एक करि, विविध विवेक विलास।
रसिकन कों रसिकप्रिया, कीनी केसवदास॥"[7]

१. काशी ना० प्र० सभा, खोज-रिपोर्ट, सं० २०१० वि०
२. काशी ना० प्र० सभा, खोज-रिपोर्ट, पृ० सं० ६०
३. काशी ना० प्र० सभा, खोज-रिपोर्ट, पृ० सं० १७८
४. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, पृ० सं० १७८
५. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, पृ० सं० १७८
६. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ११
७. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १५

संवत् सोलह सौ अड़तालीस कार्तिक सुदी सप्तमी चन्द्रवार के दिन प्रीति तथा बुद्धि को एकत्र करके विविध प्रकार के ज्ञानों से भरी हुई 'रसिकप्रिया' की केशवदास ने रसिक व्यक्तियों के लिए रचना की। इस ग्रन्थ का प्रणयन इन्द्रजीतसिंह की प्रेरणा से ही हुआ।[1]

इस ग्रन्थ में रस-विवेचन किया गया है। रस का पूरा भोग राधा एवं कृष्ण में ही दिखाया गया है। यद्यपि इन्होंने नवरस का वर्णन किया है तथापि मूल प्रतिपाद्य शृंगार-रस ही है—

"नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको 'केसवदास', हरि नायक है सृंगार।।"[2]

केशव को लोक-मर्यादा का भी ध्यान था क्योंकि वे स्वयं स्पष्ट रूप से कवि-समुदाय से क्षमा-याचना करते हैं—

"राधा राधा रमन के, कहे यथा मति हाव।
ढिठई 'केसवराइ' की, छमियो कवि कविराव।।"[3]

शृंगार का रस राजत्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने सभी रसों का समावेश शृंगार में कर दिया है। भिन्न रसों का तो कहना ही क्या, रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि अभिन्न रसों का भी शृंगारमय वर्णन किया है। संयोग और वियोग के वर्णन के साथ-साथ केशव ने लगभग प्रत्येक को 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' दो भागों में विभाजित किया है। द्वितीय प्रकाश में नायक के लक्षणों और उसके अनुकूल दक्ष, शठ, धृष्ट नायक-प्रकारों का वर्णन है। तीसरे प्रकाश में नायिकाओं की जाति के अनुसार भेद किए गए हैं। इसमें पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हरिणी, स्वकीया, परकीया, सामान्या फिर स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा; परकीया के ऊढ़ा-अनूढ़ा भेद किए गए है। केशव ने सामान्या का वर्णन नहीं किया। इसी प्रकार स्वकीया के मुग्धा, मध्या व प्रौढ़ा के चार-चार भेद किए गए हैं। चौथे प्रकाश में दर्शन के साक्षात्, चित्र, स्वप्न और श्रवण नामक चार भेद किए गए है। पांचवे में दम्पति-चेष्टाओं तथा स्वयंदूतत्व दोनों को प्रच्छन्न एवं प्रकाश में विभाजित किया गया है। इसमें नायक एवं नायिका के मिलने के स्थान एकादश गिनाए गए हैं। छठवे प्रकाश में भावों एवं हावों का वर्णन है। भाव को विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, सात्त्विक-भाव और व्यभिचारीभाव में विभाजित किया है। विभाव का आलम्बन एवं उद्दीपन मे वर्णन करते हुए आलम्बन के बीस तथा उद्दीपन के सात स्थान बतलाए हैं। स्थायीभावों मे रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, निन्दा तथा विस्मय आठ ही भावों का उल्लेख किय है, निर्वेद का नहीं। सात्त्विक भाव, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, विवर्णता, अश्रु एवं प्रलाप में विभाजित किए गए हैं। व्यभिचारीभावों की संख्या तीस तथा हावों की

१. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १३
२. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १६
३. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ५७

संख्या तेरह निर्धारित की है। सातवें प्रकाश में अष्ट नायिकाओं के भेद बतलाए गए हैं। आठवें प्रकाश में विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वानुराग, करुणा, मान एवं प्रवास नामक भेद किए हैं। फिर अभिलाषा, चिन्ता, गुण, कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि तथा मरण नामक दस दशाओं का वर्णन किया है। नवम प्रकाश में मान तथा उसके गुरु, लघु और मध्यम भेद किए गए हैं। दशम प्रकाश में मान-मोचन तथा साम-दाम-भेद-प्रणति-उपेक्षा, प्रसंग-विध्वंस नामक छः भेद किए गए हैं। एकादश प्रकाश में करुण-विरह-लक्षण, द्वादश प्रकाश में सखी तथा उसकी धाय, दासी, नाइन, मालिन, तमोलिन, चुड़िहारिन, सुनारिन, रामजनी, संन्यासिनी और पटइन नामक दस भेद किए गए हैं। त्रयोदश प्रकाश में सखीजन की शिक्षा, विनय, मानना, मिलाना, शृंगार करना, झुकना तथा उलाहना देना नामक सात कार्यों का वर्णन है। चतुर्दश प्रकाश में हास्य, करुण, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, रौद्र, शम शेष रसों का वर्णन है। हास्य के मन्दहास, कलहास, अतिहास तथा परिहास नामक चार भेद किए हैं। पंचदश-प्रकाश में वृत्ति तथा उसके केशिकी, आरभटी, सात्त्विकी एवं भारती नामक चार भेद किए है। सोलहवें प्रकाश में अनरस तथा उसके प्रत्यनीक, नीरस, दुःसंधान तथा विरस नामक पांच भेदों का वर्णन है।

यह ग्रन्थ संस्कृतग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। अतः सम्भव है कि एक-मात्र मौलिकता को ढूंढ़नेवाले पाठक को निराश होना पड़े। किन्तु इसमें एक आचार्य की जागरण-चेतना को पर्याप्त अवसर मिला है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह रचना महत्त्व-पूर्ण है। केशव के समय तक हिन्दी में रस-ग्रन्थों का प्रायः अभाव ही था। इसीको दृष्टि में रखकर केशव ने इस ग्रन्थ की रचना की। हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा में मोड़ने का श्रेय इसी ग्रन्थ को है।

रसिकप्रिया की टीकाएं

सुखविलासिका सबसे प्रसिद्ध टीका है। इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १९११ ई० में तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सन् १९३१ ई० में हो चुका है। यह टीका सरदार कवि द्वारा विरचित है। टीकाकार ने अपना परिचय प्रारम्भ में ही कुछ छन्दों में दे दिया है। काशीनाथ ईश्वरीनारायणप्रसादसिंह की आज्ञा से ललितपुर-निवासी सरदार कवि ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया—

"रसिकप्रिया भूषन रचो, कवि कुल आनँद ऐन।"[1]

फिर क्या था—

"धर सिर आइस भूप की, मन महँ मानि अनन्द।
रसिकप्रिया भूषन रचो, जस राका को चन्द।"[2]

इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं—

१. सुखविलासिका, हस्तलिखित, छन्द १५, पृ० सं० ३

२. सुखविलासिका, हस्तलिखित, छन्द १६, पृ० सं० ३

"सिव दृग गगनो ग्रह सुपुन, रद गनेस की साल,
जेठ सुक्ल दसमी सुगुर, करौ ग्रन्थ सुख माल।"[1]

अर्थात् संवत् १९०३ वि० की ज्येष्ठ शुक्ल दशमी बृहस्पतिवार को रचना हुई।

"कहुँ कहुँ नारायण कियो, या को तिलक अनूप।"[2]

कहकर नारायण की सहायता को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।

इसके अनन्तर आगरा-निवासी सूरत मिश्र ने 'जोरावरप्रकाश' तथा 'रसग्राहक-चन्द्रिका' नामक दो टीकाएं लिखीं। इनकी हस्तलिखित प्रतियां लेखक ने रमणलालहरि चौधरी बाज़ार कोसी (मथुरा) के यहां देखी हैं। 'जोरावरप्रकाश' का प्रतिलिपि-काल सन् १८६१ ई० और 'रसग्राहकचन्द्रिका' का प्रतिलिपि-काल सन् १८१२ ई० है।[3]

खोज-रिपोर्ट के अनुसार एक 'रसिकप्रिया' की टीका का प्रणयन वाजिद के पुत्र कासिम ने किया है। ग्रन्थ की पृष्ठ-संख्या १४४ तथा छन्द-संख्या ४१५८ है। परन्तु आश्चर्य का विषय है कि टीका का रचना-काल खोज-रिपोर्ट के अनुसार सं० १६४८ वि० दिया गया है जबकि 'रसिकप्रिया' का रचना-काल भी सं० १६४८ वि० है।[4] श्री लक्ष्मी-निधि चतुर्वेदी ने भी सन् १९५२ में 'रसिकप्रिया' पर एक टीका लिखी है। टीका अपने ढंग की ठीक है तथा विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

नखशिख

खोज-रिपार्ट सन् १९०३ ई०[5]
केशवदास मिश्रकृत
पृष्ठ-संख्या १६
छन्द-संख्या ३००
स्थान—पुस्तकालय महाराजा, बनारस

'नखशिख' केशवदास जी की तृतीय रचना है। खोज-रिपोर्ट के अनुसार इसका रचना-काल सं० १६५७ है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी ने इसे क्षेपक माना था परन्तु वास्तव में भाषा, अलंकार तथा छन्द आदि पर विचार करने से यह ग्रन्थ केशवकृत ही सिद्ध होता है, जिसका विवरण आगे दिया जाएगा। केशव की अन्य कृतियों की भांति इस कृति में भी बुन्देलखण्डी भाषा के शब्द यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। 'नखशिख' भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक जगन्नाथदास 'रत्नाकर' हैं। 'रत्नाकर' जी इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं—

---

१. सुखविलासिका, हस्तलिखित, छन्द १७, पृ० सं० ३
२. सुखविलासिका, हस्तलिखित, छन्द २०, पृ० सं० ३
३. 'हस्तलिखित प्रतियां' रमणलालहरि चौधरी, बाजार कोसी, मथुरा
४. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट संवत् २०१० वि०
५. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, पृ० सं० २३

"इस पुस्तक की सभी कविता केशव ने 'कविप्रिया' के पन्द्रहवें प्रभाव में उद्धृत कर दी है। यह हस्तलिखित पुस्तक सं० १७२४ वि० की है। 'कविप्रया' की प्राचीन प्रतियों में 'नखशिख' वाले कवित्त हैं ही नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति ने 'कविप्रिया' में ही मिला दिए हैं।"[1]

'कविप्रिया' के प्रसिद्ध टीकाकार सरदार कवि भी पन्द्रहवें प्रकाश के प्रारम्भ में लिखते हैं—

'नखशिख प्राचीन पुस्तकन में नाही मिलत, परन्तु हमारे जान केशव छोड़ ऐसे कवित्त बनावनहार आन नहीं, यातें लिखियतु हूं।"[2]

हो सकता है कि केशव ने अपनी प्रिय शिष्या प्रवीणराय को उपमालंकार समझाते हुए प्रसंगवश 'नखशिख'-वर्णन की पुनरावृत्ति कर दी हो।

इसके अतिरिक्त 'नखशिख' का 'चन्द्र कैसो भगमाल' वाला छन्द 'रसिकप्रिया' में कुछ पाठ-भेद से पाया जाता है। शब्द-साम्य एवं भाव-साम्य की दृष्टि से 'कविप्रिया' एवं 'वीरसिंहदेव-चरित' में कुछ छन्द समान हैं। उदाहरणार्थ—

"गोरे गोरे अति, अमल अमोल तेरे,
ललित कपोल किधौं, मैन के मुकुर द्वै।"[3]
"कलित ललित लावण्य कलोल।
गोरे गोरे अमल कपोल।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'नखशिख' केशवदासजी की कृति है। केशवदासजी को 'नखशिख' लिखने की प्रेरणा 'अलंकारशेखर' (१३ मरीचि) से मिली है। केशव के प्रयुक्त उपमानों में 'अलंकारशेखर' की स्पष्ट छाप है। 'नखशिख' में उन्तालिस बातों का वर्णन है—

१. पद २. जावक ३. जेहरी ४. नूपुर ५. गति ६. जानु ७. कटि ८. रोमराजि ९. उरोज १०. भुज ११. गजरा १२. अंगुली १३. मुंदरी १४. ग्रीवाभूषण १५. मुख १६. चिबुक १७. अधर १८. दन्त १९. वाणी २०. हास्य २१. मुखगन्ध २२. ताम्बूलराग २३. नासिका २४. नकमोती २५. नेत्र २६. नेत्रांजन २७. भ्रू २८. कपोल २९. कर्णभूषण ३०. खुरिला ३१. भाल ३२. सीसफूल ३३. अलक ३४. वेणी ३५. केशपाश ३६. साड़ी ३७. समस्त भूषण ३८. प्रसंगसौरभ ३९. सम्पूर्ण श्री मूर्ति वर्णन

रामचन्द्रिका

खोज-रिपोर्ट सन् १९०३ ई०

---

१. नखशिख-भूमिका, पृष्ठ १, सम्पादक जगन्नाथदास 'रत्नाकर', भारतजीवन प्रेस, काशी
२. कविप्रिया, पन्द्रहवां प्रभाव, सरदार कवि कृत
३. नखशिख छन्द २८, सम्पादक जगन्नाथदास 'रत्नाकर', भारतजीवन प्रेस, काशी
४. वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ १३३

रामचन्द्रिका[1]—केशवदास मिश्रकृत
छन्द-संख्या ३४१०
स्थान—पुस्तकालय महाराजा, बनारस
खोज-रिपोर्ट सन् १९२६-२८ ई०
रामचन्द्रिका[2]—ओरछा-निवासी केशवदासमिश्र कृत
कागज़ देसी, पत्र ८८, आकार १० × ६॥
पंक्ति (प्रतिपृष्ठ) सोलह परिमाण, आठ सौ साठ छन्द (खंडित रूप)
प्राचीन पद्य, लिपि नागरी
प्राप्ति-स्थान—पं० दुर्गाप्रसाद तिवारी
ग्राम बाडधा
ज़िला उन्नाव

केशव की चतुर्थ रचना 'रामचन्द्रिका' एक सुन्दर महाकाव्य है। केशवदासजी ने प्रारम्भ में लिखा है कि इसकी प्रेरणा उन्हें वाल्मीकिजी से स्वप्न में मिली[3] :—

उन्होंने 'रामचन्द्रिका' का प्रारम्भ सं० १६५८ वि० कार्तिक मास, शुक्ल पक्ष, बुधवार को किया। जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लिखा है—

"सोरह सै अट्ठावना, कातिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीनौ अवतार॥"[4]

इसमें रामचन्द्रजी का यश नाना छन्दों में अपूर्व सफलता के साथ वर्णित किया गया है। प्रगाढ़ पाण्डित्य की छाप इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। भाषा, भाव एवं अलंकार आदि सभी दृष्टियों से यह रचना उत्कृष्ट है। यह ग्रन्थ उन्तालीस प्रकाशों में विभाजित किया गया है। ग्रन्थारम्भ में गणेश-सरस्वती-वन्दना के उपरान्त कवि ने श्री रामचन्द्र जी की वन्दना की है। वंश-परिचय, रचना-काल तथा रचना का कारण स्पष्ट करके कथा का प्रारम्भ किया है। रामचन्द्र जी की उत्पत्ति के उपरान्त शैशवावस्था का चित्रण नहीं किया। महर्षि विश्वामित्र अयोध्या में आते हैं और राम एवं लक्ष्मण को साथ में ले आते हैं। वहां ताड़का का वध होता है। धनुष-यज्ञ का समाचार पाकर राम एवं लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र जी जनकपुर पहुंचते हैं। राम धनुष तोड़ते हैं और सीता जी उन्हें वरमाला पहना देती हैं। जनक की लगन-पत्रिका पाकर राजा दशरथ बारात सजाकर मिथिला में आ पहुंचते हैं और बड़े समारोह के साथ राम आदि का विवाह हो जाता है। इस प्रकार बीस प्रकाशों में राम-कथा चलती है और ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है। पूर्वार्द्ध की आधिकारिक वस्तु प्रायः 'वाल्मीकि रामायण' तथा तुलसीदास जा

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, पृष्ठ संख्या १६
२. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, संवत् २०१०
३. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ७, ९, १०, १८
४. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ६

के 'रामचरितमानस' के समान ही है यद्यपि बीच-बीच में प्रासंगिक वस्तुएं 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमन्नाटक' तथा 'प्रसन्नराघव' से ली गई हैं। शैली में भी संस्कृत के ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है। यदि कहीं कादम्बरी जैसी उक्तियों की झड़ी लग रही है तो अन्यत्र माघ की भाव-छाया परिलक्षित होती है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में कवि ने अपनी उर्वर कल्पना से अधिक काम लिया है। उत्तरार्द्ध में दो प्रकार के प्रकरण हैं—एक तो राम-कथा से संबद्ध और दूसरे राम-कथा से असंबद्ध। राम-भरत-मिलाप, अवध-प्रवेश, तिलकोत्सव, राम-राज्य-वर्णन, शम्बूक-वध, सीता-वनवास, कुश-लव-जन्म, लवणासुर-वध, लव-लक्ष्मण-युद्ध, राम-सीता-मिलन, रामकृत राज्यश्रीनिन्दा, राम-नाम की महत्ता, चौगान, अयोध्या की रोशनी, शयनागार, छप्पन प्रकार के भोजन, वसन्त, चन्द्र, शिखनख, कृत्रिम सरिता, जलाशय, स्वान संन्यासी, मथुरा-माहात्म्य तथा 'रामचन्द्रिका' का माहात्म्य आदि आते हैं। निश्चित रूप से केशवदास जी ने पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।

रामचन्द्रिका की टीकाएं

रामभक्ति-प्रकाशिका (हस्तलिखित)
पृष्ठ-संख्या १४१
छन्द-संख्या ६००
प्रतिलिपि-काल सं० १८७४ वि०
स्थान—राजकीय पुस्तकालय, बनारस।[1]

यह टीका सं० १६७२ वि० में श्री जानकीप्रसाद द्वारा विरचित है। यह कोई सुबोधिनी टीका नहीं, केवल क्लिष्ट शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार सरदार कवि ने 'रामचन्द्रिका' पर भी टीका लिखी थी, परन्तु उसका खोज-रिपोर्ट में उल्लेख नहीं है। इस प्रकार 'रामभक्ति-प्रकाशिका' ही एकमात्र उपलब्ध प्राचीन टीका है। स्व० लाला भगवानदीन जी ने 'केशव-कौमुदी' के नाम से रामचन्द्रिका की टीका लिखी।

कविप्रिया

खोज-रिपोर्ट, सन् १९००
कविप्रिया[2]—केशवदास मिश्रकृत
छन्द-संख्या ११४०
स्थान—बाबू कृष्णबलदेव वर्मा,
केसरबाग, लखनऊ।

---

१. लेखक ने स्वयं इस ग्रन्थ को राजकीय पुस्तकालय, बनारस में देखा है
२. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खो० रि०, पृष्ठ ४९

खोज-रिपोर्ट, १९१७-१९१९ ई०

रिपोर्ट नंबर ९२ (ब) कविप्रिया[1] अपूर्ण

पृष्ठ-संख्या २१

छन्द-संख्या ६९३

स्थान—शिवलाल वाजपेयी

असनी, फतहपुर

रिपोर्ट नंबर ९६—कविप्रिया[2]

केशवदासकृत

पृष्ठ-संख्या १२९

छन्द-संख्या १६६७

स्थान—भारती, प्रयाग

खोज-रिपोर्ट, सन् १९२६-१९२८

कविप्रिया[3]—रचयिता केशवदास, ओरछा, बुन्देलखण्ड

कागज़ देसी

पत्र ११६, आकार $१४\frac{१}{२}'' \times ६\frac{१}{२}''$

पंक्ति प्रतिपृष्ठ १०

परिमाण (अनुष्टुप्) २१७६ पूर्ण

रूप प्राचीन पद्य

लिपि नागरी

रचना-काल सं० १६५८ (सन् १६०१ ई०)

लिपिकाल सं० १९१० (सन् १८५३ ई०)

प्राप्ति-स्थान—राज पुस्तकालय, प्रतापगढ़ राज्य

डाकघर प्रतापगढ़

कविप्रिया[4]—रचयिता केशवदास, ओरछा, बुन्देलखण्ड

कागज़ देसी, पत्र १०४

आकार ८" × ४", पंक्ति प्रतिपृष्ठ ३२

परिमाण (अनुष्टुप्) १६६४ खंडित

रूप प्राचीन पद्य

लिपि नागरी

रचना-काल—सं० १६५८ (सन् १६०१ ई०)

---

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खो० रि०, पृष्ठ सं० १७८

२. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खो० रि० पृष्ठ सं० १७८

३. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खो० रि०, १९२६-२८ ई०

४. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खो० रि०, १९२६-२८ ई०

प्राप्ति-स्थान—आनन्द भवन पुस्तकालय
डाकघर बिसवां, ज़िला सीतापुर।

कविप्रिया[1]—रचयिता केशवदास, ओरछा
कागज़ साधारण पत्र ६१७
आकार ८½" × ६½"
पंक्ति प्रतिपृष्ठ १८
परिमाण अनुष्टप् २१०६ पूर्ण
रूप नवीन, पद्य, लिपि नागरी
रचना-काल सं० १६५८
लिपिकाल सं० १६६०
प्राप्ति-स्थान—श्री ओंकारनाथ पांडे
अध्यापक संस्कृत पाठशाला
ग्राम चचेहरा, डाकघर केठिनोरिया

खोज-रिपोर्ट १९२६-२८ ई० के अनुसार तीन हस्तलेख मिले हैं—
समय संवत् १७३७ वि० (सन् १६८० ई०)
रचना-काल सं० १६५८ वि०

ये हस्तलेख अब तक की सभी प्रतियों में प्राचीन। हैं[2]

'कविप्रिया' से पूर्व कई ग्रन्थों का प्रणयन होने के कारण केशव के विचारों में परिपक्वता एवं सिद्धान्तों में दृढ़ता आ चुकी थी। परिणामस्वरूप 'कविप्रिया' में वे एक प्रौढ़ आचार्य के रूप में हमारे सामने आते हैं। रचना-काल के संबंध में ग्रन्थ के अन्त में स्वयं केशवदास जी लिखते है—

"प्रगट पंचमी को भयो, कविप्रिया अवतार।
सोरह सै अट्ठावना, फागुन सुदि बुधवार॥"[2]

अर्थात् फाल्गुन सुदी पंचमी बुधवार सं० १६५८ वि० को कविप्रिया का अवतार हुआ। स्व०लाला भगवानदीन जी उक्त तिथि को ग्रंथारम्भ की तिथि मानते हैं, जबकि कुछ विद्वानों ने इस तिथि को ग्रन्थ-समाप्ति की तिथि माना है। साधारण रूप से अवतार शब्द का अर्थ प्राकट्य है और इस शब्द का प्रयोग भगवान की विभूति के अर्थ में ही हुआ है, ग्रन्थ के अर्थ में इसका प्रयोग प्राय: नहीं मिलता है। अब प्रश्न है कि ग्रन्थ का प्राकट्य समग्र रूप से हुआ अथवा इस वर्ष उसका प्रारम्भ हुआ। जैसा कि हम कह चुके हैं कि इसमें विद्वानों के मतभेद हैं। यह विषय यद्यपि इतने विवाद का नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में इस दोहे के होने के कारण यह अन्त का ही द्योतक माना जा सकता है। इसके

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, १९२६-२८

२. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ४

अतिरिक्त केशव की सब रचनाओं की तिथियों पर समग्र रूप से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि केशवदास जी यदा-कदा कविप्रिया के छन्दों की रचना करते रहे होंगे। जब उन्होंने उन छन्दों को पुस्तकाकार रूप दिया उस समय उन्होंने इस दोहे की रचना की। इस प्रकार हम इस तिथि को 'कविप्रिया' की समाप्ति-तिथि मानते हैं। प्रथम प्रभाव में ही 'कविप्रिया' की रचना का कारण बतलाते हुए केशवदास जी लिखते हैं कि रमा, शारदा तथा शिवा के समान गुणवाली कवयित्री प्रवीणराय के लिए (उसे शिक्षा देने के लिए) इस ग्रन्थ की रचना की है।[1]

संस्कृत के काव्य-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ प्राप्त थे परन्तु हिन्दी में संभवतः इस विषय पर कोई सुबोध और सरल रचना नहीं थी। सुकुमार बुद्धि वाले बालक, बालिकाओं के लिए यह संभव नहीं कि संस्कृत के उन ग्रन्थों को पढ़ें और फिर कविता का अभ्यास करें। इसी परिस्थिति पर ध्यान देकर केशवदास जी ने कविप्रिया की रचना की तथा अपराध के लिए कविगण से क्षमा-याचना भी की।[2]

केशवदास जी ने कविता के अलंकार आदि विविध गुणों को विचारपूर्वक सुनने और समझने के उपरान्त कविता की शोभा इस 'कविप्रिया' का प्रणयन किया—

"अलंकार कवितानि के, सुनि सुनि विविध विचार।
कविप्रिया 'केसव' करी, कविता को सिंगार॥"[3]

'कविप्रिया' में सोलह प्रभाव हैं। प्रारम्भ के दोनों प्रभावों में कवि ने संस्कृत परम्परा का अनुसरण किया है। प्रथम में गणेश-वन्दना तथा नृपवंश-वर्णन है। केशव काव्य में दोष को उसी प्रकार हेय समझते हैं जिस प्रकार गंगाजल के घट में मदिरा की एक बूंद भी निन्द्य होती है। वास्तव में कविता, वनिता एवं मित्र अल्पदोष के कारण ही निन्दनीय बन जाते हैं।[4]

चौथे प्रभाव में कवि-भेद, कवि-रीति और शृंगारों का वर्णन है। पांचवें प्रभाव में काव्यालंकारों का प्रारम्भ होता है। अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक तो सामान्य और दूसरा विशेष। छठे प्रभाव में वर्ण्यालंकार का निरूपण किया गया है। सातवें एवं आठवें प्रभाव में क्रमशः भूमि-भूषण (प्राकृतिक दृश्य) तथा राजश्री-भूषण का वर्णन है। ये ही काव्य के वास्तविक अलंकार हैं। केशव ने इनकी संख्या ३७ रखी है परन्तु अवान्तर-भेद से यह संख्या बहुत बढ़ जाती है। सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार का वर्णन है। इस अलंकार के वर्णन में केशवदास जी अमरचन्द की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' से प्रभावित हैं। प्रधानतया यह ग्रन्थ अलंकार-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। परम्परा से केशवदास अलंकारवादी कहे जाते हैं। संभवतः इसका उत्तरदायित्व 'कविप्रिया'

१. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ६१
२. कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १
३. कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द २
४. कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ५

की निम्न पंक्ति पर ही है—

"भूषन बिनु न विराजहीं, कविता बनिता मित्त ॥"[1]

केशव को इस ग्रन्थ में पूर्ण सफलता मिली है। इस रचना तक आते-आते केशवदास जी एक प्रौढ़ आचार्य बन गए हैं।

टीकाएं

१. कविप्रियातिलक—धीरकृत

पृष्ठ-संख्या १६३

छन्द-संख्या ६४५०

प्रतिलिपि-काल, सन् १८८० ई०

स्थान—राजकीय पुस्तकालय, दतिया

राजा वीरकिशोर की आज्ञानुसार सन् १८१३ में धीर कवि ने टीका का प्रणयन किया।

२. काशिराजप्रकाशिका[2]

पृष्ठ-संख्या १३५

छन्द-संख्या २५००

स्थान—राजकीय पुस्तकालय, बनारस

इस टीका का प्रणयन सरदार कवि ने अपने शिष्य नारायण की सहायता से काशिराज महाराज ईश्वरीनारायणसिंह की आज्ञानुसार किया था। यह टीका सन् १८८६ ई० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छप चुकी है। इन्हीं सरदार कवि ने 'रसिकप्रिया' की टीका लिखी थी।

३. कविप्रियाभरण[3]—हस्तलिखित

अ—प्रथम प्रति : पृष्ठ-संख्या १४१

छन्द-संख्या ६०००

स्थान—राजकीय पुस्तकालय, बनारस

ब—द्वितीय प्रति, पृष्ठ-संख्या २०३

छन्द-संख्या ७५१२

प्रतिलिपि-काल, संवत् १८८३ वि०

स्थान—पं० रामवर्ण उपाध्याय, फैज़ाबाद

इस टीका का प्रणयन सं० १८३५ वि० में कविवर हरिचरणदास ने किया था। यह मारवाड़ में कृष्णगढ़ के महाराज बहादुर के आश्रय में थे।

---

१. कविप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द १

२. आचार्य केशवदास, पृष्ठ ६६, डा० हीरालाल दीक्षित

३. कविप्रिया सटीक, पृष्ठ ३६६, हरिचरणदास

४. कविप्रिया सटीक

पृष्ठ-संख्या १०००
छन्द-संख्या २२५०
प्रतिलिपि-काल, सं० १८५६ वि०
स्थान—जुगलकिशोर मिश्र
गन्धौली (सीतापुर)

यह टीका सूरत मिश्र द्वारा लिखी गई है। जिस प्रकार से सरदार कवि ने 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' दोनों की टीका लिखी है उसी प्रकार इन्होंने भी 'रसिकप्रिया' तथा 'कविप्रिया' दोनों की टीका लिखी है।

५. डा० हीरालाल दीक्षित ने नाज़िर सहज की टीका की दो हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया है।[1] वे प्रतियां उन्होंने राजकीय पुस्तकालय, बनारस में देखी हैं। एक खडित है तथा दूसरी पूर्ण। लेखक ने एक प्रतिलिपि 'मन्नूलाल पुस्तकालय' गया में देखी है। वह निम्न प्रकार है—

कविप्रिया— रचयिता केशवदास मिश्र
अवस्था अच्छी
प्रारम्भ का एक पृष्ठ नहीं है।
पृष्ठ संख्या ८५, आकार ६ × २"
प्रतिपृष्ठ २८ पंक्तियां, लिपि नागरी
टीकाकार—सहजराम
रचना-काल सं० १८३४
प्रतिलिपिकर्ता दिनेश
प्रतिलिपि रचना-काल सं० १८८३ वि०
स्थान—मन्नूलाल पुस्तकालय, गया

इस ग्रन्थ के टीकाकार नाज़िर सहज हैं। टीका का नाम चन्द्रिका टीका है। ग्रन्थ का मूल लिखने के उपरान्त टीका और उदाहरण दिए गए हैं। ग्रन्थ के अन्त में टीकाकार टीका के सम्बन्ध में लिखते हैं :

"केशव सोरह भाव शुभ, सुवरन मय सुकुमार।
कविप्रिया के जानियहु, ये सोलह श्रृंगार॥
सहजराम-कृत चन्द्रिका, ससि चन्द्रिका समान।
ताकतही संशय तिमिर, प्रतिदिन करत प्रमान॥"

६. कविप्रिया—टीकाकार नाज़िर सहज
प्रतिलिपिकार करनसिंह राजपूत, गयावासी
पृष्ठ-संख्या ११, प्रति पृष्ठ पंक्ति १५

---

१. आचार्य केशवदास, पृष्ठ १००, डॉ० हीरालाल दीक्षित

प्रतिलिपि सं० १६०० वि०, चैत्र शुक्ल षष्ठी, गुरुवार
स्थान—मुन्नूलाल पुस्तकालय, गया

आदि—अथ चित्रालंकारवर्णनम्—

"केशव चित्र कवित्त के बूढ़त परम विचित्र ।"

अन्त—

"कामधेनु है आदि अरु, कल्पवृक्ष पर्यन्त ।"

ग्रन्थ पूर्ण नहीं है। अन्त के 'इति षोडशो प्रकाश' से अन्य १५ प्रकाशों का स्पष्ट संकेत है। ग्रन्थ के अन्त में 'इति श्रीनाजरसहजरायविरचितायां कविप्रियाटीकायां सहजरायचन्द्रिकायां चित्रालंकारविवरणं नाम षोडशो प्रकाशः ।"

प्राचीन टीकाओं में निश्चित रूप से सरदार कवि की टीका सबसे सुन्दर थी परंतु ब्रजभाषा में होने के कारण आज के पाठक के लिए अधिक लाभप्रद न थी। इसीको दृष्टि में रखते हुए स्व० लाला भगवानदीन ने 'प्रियाप्रकाश' के नाम से 'कविप्रिया' की टीका लिखी। सभी दृष्टियों से यह टीका सुन्दर बन पड़ी है। स्वर्गीय लाला जी बड़े विद्वान् एवं केशव के समर्थक थे। केशव के लिए उन्होंने जितना काम किया उतना आज तक किसी ने नहीं किया। इसके लिए हिन्दी-साहित्य सदैव उनका ऋणी रहेगा। किन्तु इतना निःसंदेह कहा जा सकता है कि लाला जी अनेक स्थानों पर केशव की मूल दृष्टि से दूर ही रहे हैं। सन् १६५२ में लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी ने 'कविप्रिया' पर टीका लिखी है। लेखक ने अर्थ को अनेक स्थलों पर समझने का अच्छा प्रयास किया है।

छन्दमाला

अब तक केशवदास जी के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जाता था कि उन्होंने छन्द-सम्बन्धी ग्रन्थ का प्रणयन अवश्य किया होगा। अनुमान भी उचित ही था क्योंकि जिस आचार्य ने रस एवं अलंकार पर 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' जैसे पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया हो वह पिंगल जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यांग को किस प्रकार तिलांजलि दे सकता था? मुझे भी सदैव जिज्ञासा रहती थी परन्तु परितोष न हुआ। यदा-कदा 'रामचन्द्रिका' को ही छन्द-सम्बन्धी ग्रन्थ समझकर मन को सान्त्वना दिया करता था क्योंकि केशवदास जी ने स्वयं ही स्वीकार किया है :—

"रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द ।।"[1]

शोध-कार्य के सम्बन्ध में सन् १६५३ में मैं सामग्री एकत्र करने के लिए कलकत्ता गया। वहां मथुरा के प्रसिद्ध साहित्यकार पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी से भेंट हुई। उन्होंने केशव-विरचित 'छन्दमाला' नामक पुस्तक का पता हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के पुस्तकालय में बतलाया। लेखक ने प्रयाग आकर उस हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रतिलिपि की। उन दिनों श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'केशवग्रन्थावली' का सम्पादन कर

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २१

रहे थे। परन्तु कोई भी खण्ड उस समय तक प्रकाशित न हुआ था। अतः मैंने बनारस जाकर वह प्रतिलिपि श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र को दिखलाई। उन्होंने आद्योपान्त पढ़कर उसे केशव की ही रचना बतलाया। 'रामचन्द्रिका' के कई छन्द ज्यों के त्यों 'छन्दमाला' में मिलते हैं। अतः यह रचना निर्विवाद रूप से केशवकृत है। ग्रन्थ का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है—

ऐं नमः। अथ छन्दमाला लिख्यते।

"अनंगारि है पै लसै संग नारी। दिपै मुंडमाला कहै गंगधारी।
भखै कालकूटै लसै सीस चंदे। कहा एक हो ताहि त्रैलोक बन्दे।।
महादेव जाके न जाने प्रभावे। महादेव के देव कों चित्त भावे।
महानाग सोहै सदादेहमाला। महाभाववन्तो करौं छन्दमाला।।"

दोहरा

"भाषा कवि समुझैं सबै, सिगरे छन्द सुभाइ।
छन्दन की माला करी सोभन 'केसवराइ'।।
एक बर्न को पद प्रगट छब्बिस लौं मतिवंत।
तदुपरि 'केसवराइ' कहि दंडक छन्द अनन्त।।"[1]

अन्त निम्न प्रकार है—

अथ मरहठा

"दस पर बिरमहु आठ पुनि ग्यारह कला बखान।
गुरु लघु दीजै अन्त यह मरहट्टा परमान।।४९।।"

यथा

"पुरजन सुख पावत रघुपति आवत करत निहोरा दौरि।।
आरती उतारें सर्वसु वारें अपनी अपनी पौरि।।
पीठ मंत्र असैषनि करि अभिषेकनि पै आसिष सविशेष।
कुंकुम कर्पूरनि मृग मद चूरनि बरषत वर्षा वेष।।"[2]

इति श्रीसमस्तपण्डितमंडलीमडितकेशवदासविरचिता छन्दमाला समाप्ता।।

वीरसिंहदेवचरित

खोज-रिपोर्ट सन् १९०३

वीरसिंहदेवचरित[3]—केशवदास मिश्रकृत

पृष्ठ-संख्या १०२

छन्द-संख्या २१२१

स्थान—राजकीय पुस्तकालय, दतिया

---

१. छन्दमाला, छन्द १-४
२. छन्दमाला, छन्द ४९,५०
३. नागरीप्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट पृ० ३१

'वीरसिंहदेवचरित' की रचना सं० १६६४ वि० में वसन्त ऋतु के शुक्ल पक्ष की अष्टमी बुधवार को हुई। वे स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ ही में लिखते हैं :—

"संवत सोरह से तेंसठा, बीति गये प्रगटे चौंसठा,
अनल नाम संवत्सर लग्यौ, मांग्यो दुख सब सुख जगमग्यो।
ऋतु बसन्त है स्वच्छ बियार, सिद्धि जोग मिति वसु बुधवार।
सुकुल पच्छ कवि केसवदास, कीनो वीर चरित्र प्रकास।"[1]

उन्होंने अपने रसमय, धर्ममय तथा नीतिमय आश्रयदाता के चरित्र को विचित्रता के साथ चित्रित किया है—

"नव रस मय सब धर्म मय, राजनीतिमय मान।
वीर चरित्र विचित्र किय केसवदास प्रमान।"[2]

यह रचना निःसन्देह केशवदास की ही कृति है। 'रामचन्द्रिका' के उत्तरार्द्ध तथा वीरसिंहदेवचरित के उत्तरार्द्ध में बहुत कुछ साम्य है। दोनों ही ग्रन्थों में बहुत-से छन्दों का समान रूप से मिलना प्रमाणित करता है कि ये एक ही कवि की कृतियां हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित षट्पद छन्द को लीजिए—

"अरुणगात प्रति पात पद्मिनी प्राणनाथ मय।
मानहुं केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय।
परिपूरण सिन्दूर पूर कैधों मंगल घट।
किधों शक्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूख पट।
कै शोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधों लसत दिग्भामिनि के भाल को।"[3]

सीताराम जी ने भी 'वीरसिंहदेव' तथा 'अबुलफज़ल' नामक ग्रन्थ में सुन्दर तर्कों के साथ यही प्रमाणित किया है कि 'वीरसिंहदेवचरित' के रचयिता केशवदास जी ही थे।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तैंतीस प्रकाशों में विभाजित किया गया है। पूर्वार्द्ध में वीरसिंहदेव के युद्धों का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध में सरोवर, नगर, अश्व-विज्ञान, चौगान, नृत्य, नखशिख, वन-वाटिका, जल-केलि आदि का वर्णन है। कथावस्तु का प्रासाद संवादों के स्तम्भों पर निर्मित किया गया है। 'रासो' की कथा मृग-मृगी के संवाद से प्रारम्भ होती है, विद्यापति की कीर्तिलता भी संवाद द्वारा प्रकट होती है, उसी प्रकार केशवदास जी के 'वीरसिंहदेवचरित' की कथा भी दान एवं लोभ के संवाद से प्रारम्भ होती है। प्रारम्भ ही नहीं, दान, लोभ एवं विन्ध्यवासिनीदेवी के संवादों का अन्त तक निर्वाह होता है।

---

१. वीरसिंहदेवचरित, प्रथम प्रकाश, छन्द ११
२. वीरसिंहदेवचरित, प्रथम, प्रकाश छन्द १५
३. वीरसिंहदेवचरित, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द ४४
तथा
रामचन्द्रिका, पंचम प्रकाश, छन्द, १०

सम्पूर्ण प्रथम प्रकाश एवं द्वितीय प्रकाश के प्रारम्भ तक दान एवं लोभ का विवाद चलता है। शेष द्वितीय प्रकाश में विन्ध्यवासिनी द्वारा वीरसिंह के वंश का वर्णन है —

"वंश बखान्यो सकल गुन, बहु विक्रम उत्साहु।
वीरसिंह जिहि पुर बसें तहं दोऊ जन जाहु॥"[१]

लोभ एवं दान की जिज्ञासा जागरित होती गई और विन्ध्यवासिनी देवी वृत्तान्त सुनाती रही। वीरसिंह द्वारा अफजलखां का वध, अकबर का वीरसिंहदेव पर क्रोधित होना, आक्रमण करना, वीरसिंह द्वारा मुगलवाहिनी को छकाना और फिर हराना, अकबर की आकस्मिक मृत्यु, सलीम की कृपा से वीरसिंहदेव का राजा होना आदि विन्ध्यवासिनी देवी ने दान एवं लोभ से वर्णन किया। वीरसिंहदेव के राजा बनने पर बड़े भाई राजा रामशाह से ठन जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वे पहले से राजा थे। रामशाह एवं इन्द्रजीतसिंह एक ओर थे और वीरसिंहदेव तथा रावप्रताप दूसरी ओर। संधि कराने का भी प्रयत्न किया गया। गोपाल खवास के प्रयत्न असफल होने पर केशवदास, मंगद तथा पायक पर संधि का उत्तरदायित्व सौंपा गया। केशवमिश्र ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ मध्यम मार्ग निकाला कि जीवन-पर्यन्त राजा रामशाह राज्य करें परन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त वीरसिंहदेव राजा बनें। परन्तु रानी कल्याणदे ने पुत्रों की ममता के कारण स्वीकार नहीं किया। परिणामस्वरूप युद्ध छिड़ गया। पर्याप्त जन-संहार होने के उपरान्त विजयश्री वीरसिंहदेव के हाथ रही। वे सारे देश के राजा बने तथा ओरछा जहांगीरपुर बना।

देवी ने कहा—

"दान लोभ तुम सब सुनो, दुहूं नृपति को भेव।
वीरसिंह अति देखि जे, नर देवनि को देव॥"[२]

इतना कहकर दान कुछ कहने ही वाला था कि देवी अन्तर्धान हो गई—

"लीनों कहन कछु जब दान, ह्वै गई देवी अन्तर्धान।
दान लोभ तब दोऊ भले, देखत जहांगीरपुर चले॥"[3]

अब पन्द्रहवें प्रकाश में दान और लोभ जहांगीरपुर चल पड़ते हैं। मार्ग में वीर सागर एवं बेतवा का वर्णन करते हुए नगर में पहुंचते हैं। नगर का बाज़ार आदि देखकर हयशाला की ओर जाते हैं। वहां जाकर लोभ दान से घोड़ों की जाति जानना चाहता है। फिर क्या था दान ने ज्ञान का पूरा-पूरा परिचय दिया। तदुपरान्त राजा की दिनचर्या का वर्णन है। चौगान, मन्दिर, प्रभाती, नखशिख, वन-वाटिका, क्रीड़ा-गिरि, जल केलि, मदन-महोत्सव, दरबार आदि का वर्णन बड़ी तन्मयता के साथ किया गया है। जब दोनों ने सब कुछ देख लिया तो वीरसिंहदेव से मिलते हैं और विन्ध्यवासिनी की पूरी कथा बतलाते हैं। वीरसिंहदेव दोनों के विवाह का इस प्रकार निर्णय देते हैं—

---

१. वीरसिंहदेवचरित, द्वितीय प्रकाश, अंतिम दोहा
२. वीरसिंहदेवचरित, चतुर्दश प्रकाश, छन्द १११
३. वीरसिंहदेवचरित, चतुर्दश प्रकाश छन्द, ११२

"सन्तति सदा समान तुम, देहु लेहु हरि देत जग।
दान लोभ दोऊ जने, देव-देव लागे सुभग।।"[१]

तदुपरान्त दान ने राजा के क्षोभ को समझकर राजनीति की शिक्षा दी। राजनीति की शिक्षा के साथ-साथ राजश्री, राजधर्म तथा कर्म पर भी दान का व्याख्यान हुआ। उसके बाद रानी पार्वती के साथ राजा का राज्याभिषेक होता है। विजय, उत्साह, वैराग्य, धैर्य, आनन्द, भाग्य, पराक्रम, प्रेम, सत्य, सदाचार, ज्ञान, लोभ, उद्यम तथा अन्त में धर्म ने आशीर्वाद दिया। अभिषेक की क्रिया समाप्त होने पर वीरसिंहदेव सिंहासन से उतरे और धर्म का पांव पकड़ लिया। तदुपरान्त तीन वरदानों की याचना की—

"वीर चरित सन्तत सुनत, दुख को बंस नसाय।
मो उर बसहु बढ़ाय जौं जहांगीर कौ आय।।"[२]

वरदान देने के उपरान्त धर्म अन्तर्ध्यान हो गया और साथ ही साथ वीरसिंहदेव-चरित का अवसान भी।

विज्ञानगीता

खोज-रिपोर्ट सन् १९०० ई०
विज्ञान गीता[3]—केशवदास मिश्रकृत
छन्द-संख्या १४८७
स्थान—बाबू कृष्णबल्देव शर्मा
केसर बाग, लखनऊ

विज्ञानगीता[४]—
खोज-रिपोर्ट सन् १९१७--१९१९ ई०
पृष्ठ-संख्या ८४
रि० नं० ८२ अ—छन्द-संख्या १११८
प्रतिलिपि-काल सं० १९४८ वि०
स्थान—पुस्तकालय, राजा बलरामपुर, ज़ि० गोंडा

खोज-रिपोर्ट १९२६–२८
विज्ञानगीता[५]—
रचयिता केशवदास मिश्र
पत्र ८८, आकार ८"×४"
पंक्ति प्रतिपृष्ठ ३८

---

१. वीरसिंहदेवचरित, पंचदश प्रकाश, छन्द ५
२. वीरसिंहदेवचरित, तेतीसवां प्रकाश, छन्द ५३
३. काशी नागरीप्रचारिणीसभा खो० रि०, पृष्ठ सं० ५१
४. काशी नागरीप्रचारिणीसभा खो० रि०, पृष्ठ सं० १७८
५. काशी नागरीप्रचारिणीसभा खो० रि०, पृष्ठ सं० २१०

परिमाण १६७२ छन्द (खण्डित)
रूप जीर्ण पत्र
लिपि नागरी
रचना-काल सं० १६६७ वि० सन् १६१० ई०
लिपिकाल सं० १७०५ वि०, सन् १६४८ ई०
प्राप्ति-स्थान—श्री राजप्रसाद मिश्र
ग्राम जगजीवनपुर
डाकघर ओमल
जिला खीरी

विज्ञानगीता[1]—

पत्र १८० आकार ८"×६"
पंक्ति २४ प्रतिपृष्ठ
परिमाण १८२० अनुष्टुप् पूर्ण
रूप प्राचीन, लिपि नागरी
रचनाकाल सं० १६६७ वि० सन् १६१० ई०
लिपिकाल सं० १९०१ वि० सन् १८४४ ई०
प्राप्ति-स्थान—श्री संकराप्रसाद अवस्थी
ग्राम एवं डाकघर कोटरा
जिला सीतापुर

खोज-रिपोर्ट के अनुसार 'विज्ञानगीता' के दो हस्तलेख प्राप्त हुए हैं—

प्रतिलिपि-समय सं० १७०५ सन् १६४८ ई०
रचनाकाल सं० १६६७ वि०

खोज-रिपोर्ट के अनुसार इस ग्रंथ का हस्तलेख अब तक सभी प्रतियों से प्राचीन है। 'विज्ञानगीता' में केशवदासजी ने विवेक द्वारा मोह का दलन और प्रबोध का अर्जन-प्रतिपादन किया है। संस्कृत के प्रसिद्ध रूपक 'प्रबोधचन्द्रोदयं', 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्-भगवत्गीता' आदि ग्रंथों को दृष्टि में रखते हुए इस दार्शनिक ग्रंथ का प्रणयन हुआ है। इसका रचनाकाल सं० १६६७ वि० है—

"सोरह सै बीते बरष विमल सतसठा पाइ।
भई ज्ञानगीता प्रगट, सब ही को सुखदाइ॥"[2]

सम्पूर्ण ग्रंथ में इक्कीस प्रभाव हैं। प्रारम्भिक बारह प्रभावों में महामोह एवं विवेक के युद्ध का वर्णन है। शेष नौ प्रभावों में ज्ञान-विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। प्रारम्भ में 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है। मानस में भारद्वाज के प्रश्न का

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा खो० रि०, पृष्ठ सं० २१०
२. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द १३

समाधान करने के विचार से याज्ञवल्क्य शिव-पार्वती का प्रसंग लेते हैं। वीरसिंहदेव प्रश्न करते हैं—

"यथाशक्ति सब करत भक्ति, हरि मन वच अंगा।
चित्त न तजत विकार, न्हात नर यद्यपि गंगा॥"[1]

केशव इस प्रकार उत्तर देते हैं—

"वीर नरेश धनेश तुम, मोंहि जु बूझी गाथ।
सोई श्रीशिव को शिवा, बूझी हे नृपनाथ॥"[2]

पार्वतीजी ने शिवजी से प्रश्न किया—

"कहियै किहि भांति विकार नसावै।
जिव जीवतहीं परमानँद पावै॥"[3]

शिवजी ने उत्तर में कहा—

"जब विवेक हति मोह को, होइ प्रबोध संयुक्त।
तबहीं जानो जीव को, जग में जीवन-मुक्त॥"[4]

शिवजी के उत्तर की व्याख्या ही 'विज्ञानगीता' है। प्रथम प्रकाश में कवि-वंश तथा राजवंश संक्षेप में वर्णित है। द्वितीय प्रकाश में काम और रति की मंत्रणा है। तीसरे प्रकाश में दम्भ एवं अहंकार काशी-विजय का विचार करते हैं। चौथे प्रकाश में महामोह सेना सजाकर चलता है। पांचवें एवं छठवें प्रकाश में कालिनाथ एवं उसकी रानी में विचार-विनिमय होता है। कालिनाथ अपनी विजयों एवं चमू का वर्णन करता है और रानी काशी का माहात्म्य कहती है। सातवें एवं आठवें प्रकाश में क्रमशः चार्वाक की कालि से बातचीत तथा शान्ति एवं करुणा का वर्णन है। नवें प्रकाश में राजधर्म द्वारा महा-मोह युद्ध का उद्योग किया जाता है। दसवें प्रकाश में वर्षा एवं शरद् का सुन्दर वर्णन है। ग्यारहवें प्रकाश में विवेक स्तोत्रों के द्वारा अपने देवताओं को प्रसन्न करता है। बारहवें प्रकाश में विवेक एवं महामोह में घोर युद्ध होता है जिसमें महामोह पूर्णरूप से पराजित हो जाता है। 'रामचन्द्रिका' एवं 'वीरसिंहदेवचरित' की भांति इस ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में भी कथावस्तु शिथिल गति से चलती है, अन्य वर्णनों की प्रधानता हो जाती है। तेरहवें प्रकाश में माया और चौदहवें प्रकाश में शुकदेवजी का वर्णन है। पन्द्रहवें प्रकाश में मनःशुद्धि, विवेक तथा पूजा का वर्णन है। सोलहवें प्रकाश में राजा शिखिध्वज तथा उसकी रानी चूडाला की कथा है। सत्रहवें, अठारहवें तथा उन्नीसवें प्रकाशों में क्रमशः ज्ञान-विज्ञान, प्रह्लाद एवं बलि की कथा है। बीसवें प्रकाश में योग की सात भूमिकाएं वर्णित हैं। अन्तिम प्रकाश में केशवदासजी ने स्वमतानुसार योग का वर्णन किया है।

---

१. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द २८
२. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द २९
३. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द ३१
४. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द ३२

जहांगीर-जस-चन्द्रिका[1]—

खोज-रिपोर्ट सं० १९०३ ई०
केशवदास मिश्रकृत
पृष्ठ-संख्या ३०
छन्द-संख्या ४५०
स्थान—पुस्तकालय महाराजा, बनारस

जहांगीर-जस-चन्द्रिका[2]—
केशवदास मिश्रकृत
छन्द-संख्या २०० सम्पूर्ण
रूप प्राचीन
पत्र १८
रचनाकाल सं० १६६९ वि०
लिपिकाल सं० १६८६ वि०
प्राप्ति-स्थान—मायाशंकर याज्ञिक संग्रहालय, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा

'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' केशवदास की अन्तिम रचना है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के संबंध में केशवदासजी स्वयं लिखते हैं—

"सोरह सै उनहत्तरा, माह मास विचारु।
जहांगीर सक साहि की, करी चन्द्रिका चारु॥"[3]

इस ग्रन्थ का प्रारम्भ भी 'वीरसिंहदेवचरित' की भांति चलता है। 'वीरसिंहदेव-चरित' में दान एवं लोभ के विवाद से कथावस्तु प्रारम्भ होती है। तदुपरान्त विन्ध्यवासिनी देवी निर्णय के लिए उन्हें वीरसिंहदेव के पास भेजती है। ठीक उसी प्रकार 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' में उद्यम एवं भाग्य के विवाद से कथावस्तु प्रारम्भ होती है। तदुपरान्त शिवजी निर्णय के लिए उन्हें सम्राट जहांगीर के पास भेज देते हैं। इस प्रकार दोनों आगरा जाते हैं। राजधानी की छटा का अवलोकन करते हैं। दरबार में जाकर अनुपम अनुशासन का साक्षात्कार करते हैं। सामन्त दरबार में निश्चित क्रम से खड़े रहते हैं। बादशाह के आते ही सबकी शिथिलता दूर हो जाती है। सम्राट सिंहासन पर विराजमान हैं। बन्दीजन विरुदावली का गान कर रहे हैं। अवसर देखकर ब्राह्मण-वेश में दोनों पहुंच जाते हैं। प्रतिहारी सूचना देता है। सम्राट की आज्ञा से रामदास लेने के लिए भेजे जाते हैं। सम्राट के समीप पहुंचकर आशीर्वाद देते हैं। सम्राट प्रसन्न होकर रामदास के प्रति

---

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खो० रि०, पृष्ठ सं० ३१
२. लेखक ने स्वयं यह ग्रंथ याज्ञिक संग्रहालय में देखा है।
३. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, छन्द २

संकेत करते हैं। परिणामस्वरूप रामदास विप्रों से कहते हैं कि आपपर सम्राट प्रसन्न हैं। आपकी जो कुछ इच्छा हो, वह मांग लीजिए। इसपर दोनों विप्र अपने वास्तविक वेश में आ जाते हैं। उनकी दिव्य रूप की आराधना होती है। प्रश्न हुआ कि उद्यम एवं भाग्य में कौन बड़ा है ? प्रश्न का उत्तर देते हुए सम्राट कहते हैं—

"उदय भाग अति उदित मति, सुनि सर्वज्ञ प्रमान।
जग में उद्यम कर्म ये, मेरे जान समान॥
करम फले उद्यम करे, उद्यम कर्महिं पाय।
एकै कर्म दुहूनि कौ, कीनौ विधि सुखदाय॥"[1]

सम्राट के निर्णय की सभा ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। सारा वायुमंडल आनन्दमय हो गया। उद्यम एवं भाग्य दोनों ने जहांगीर से वर मांगने को कहा। उसने मांगा कि आप लोग सुखपूर्वक मेरे राज्य में निवास करो। उसी समय केशवदासजी की कविता पर मुग्ध होकर जहांगीर ने कुछ मांगने को कहा। उन्होंने वैराग्यपूर्ण इस प्रकार उत्तर दिया—

"यद्यपि हरि जू मांगिबो, दियो हमें उपजाय।
हौं माँगौं जगदीश पै, सुनो साहि सुखपाइ॥"[2]

इस प्रकार अन्तिम काव्य का अवसान हो जाता है। तदुपरान्त केशवदासजी का भी कोई पता नहीं चलता।

संदिग्ध रचनाएं

रामालंकृतमंजरी

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त 'शिवसिंहसरोज' में 'रामालंकृतमंजरी' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। उन्होंने तथाकथित ग्रन्थ के दो छन्द उद्धृत किए हैं—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न विराजहीं, कविता बनिता मित्त॥"[3]

तथा

"प्रकट सब्द में अर्थ जहँ, अधिक चमत्कृत होइ।
रस अरु व्यंग्य दुहून ते, अलंकार कहि सोइ॥"[4]

इस ग्रन्थ का उल्लेख किसी भी खोज-रिपोर्ट में नहीं मिला और न किसी विद्वान ने ही ऐसे प्रमाण दिए हैं जिनसे यह सिद्ध हो सके कि यह केशव की कृति है। 'शिवसिंह-सरोज' के आधार पर ही खड्गजीतसिंह, सूर्यकान्त शास्त्री तथा गोविन्ददासजी ने

---

१. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, छन्द सं० १०६-९
२. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, छन्द सं० १९८
३. शिवसिंहसरोज, पृष्ठ संख्या ३१
४. शिवसिंहसरोज, पृष्ठ संख्या ३१

इसे केशवदासजी का ग्रन्थ मान लिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा गौरीशंकर द्विवेदी ने 'रामालंकृतमंजरी' को केशवकृत नहीं माना। कुछ विद्वानों के मत में यह ग्रन्थ छन्द-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला था परन्तु 'छन्दमाला' के मिलने से उस धारणा का भी अब आधार नहीं रह गया। लेखक को इसी ग्रन्थ की खोज में 'छन्दमाला' अवश्य प्राप्त हुई परन्तु 'रामालंकृतमंजरी' नहीं। अतः सम्प्रति उपर्युक्त प्रमाणों के अभाव में इसे हम केशवकृत नहीं मान सकते। परन्तु हमारा विश्वास है कि यह ग्रन्थ भी 'छन्दमाला' की भांति एक दिन प्रकाश में आएगा।

केशवदासजी का अमी-घूंट

इस ग्रन्थ का खोज-रिपोर्ट में वर्णन नहीं मिलता परन्तु यह केशवदास द्वारा विरचित ही बतलाया जाता है। यह ग्यारह पृष्ठों का छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें केवल ७८ छन्द हैं। यह ग्रन्थ चौथी बार 'वेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स' से सन् १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण की भूमिका में केशव के 'जीवनचरित्र' के विषय में यह कहा गया है—

"परमभक्त केशवदास जाति के बनिया थे। यारी साहब के चेले और बुल्ला साहब के गुरुभाई थे। जिनके पुनीत गुरु-घराने में गुलाल साहब, भीखा साहब और पलटू साहब सरीखे साधु प्रकट हुए। इस हिसाब से उनके जीवन का समय संवत् १७५० विक्रमी से १८२५ वि० ठहरता है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ के कर्ता केशव आचार्य केशव से भिन्न हैं जो किसी निर्गुण संप्रदाय से संबद्ध हो सकते हैं। विषय-वस्तु के विश्लेषण से भी यह स्पष्ट है, जैसे 'गुरुमहिमा' आदि।[2]

'विज्ञानगीता' का एक छन्द पाठभेद से 'केशवदास जी का अमी-घूंट' में मिलता है। हो सकता है कि भ्रम का आधार यही हो। ऐसा प्रतीत होता है कि यह छन्द प्रक्षिप्त है। यह छन्द निम्न प्रकार है—

"निसि बासर वस्तु विचारु सदा,
मुख सांच हिये करुना-धन है।
अघ-निग्रह संग्रह धर्म कथा,
निर्परिग्रह साधन को गुन है।
कह 'केसो' भीतर जोग जगे,
इत बाहर भोगभई तन है।
मन हाथ भए जिनके तिनके,
वन ही घर है घर ही वन है।"[3]

---

१. केशवदासजी का अमी-घूंट, प्रारम्भ में जीवनचरित्र, प्रकाशित १९५१ ई०
२. केशवदासजी का अमी-घूंट, पृष्ठ सं० १, छन्द १
३. केशवदासजी का अमी-घूंट, पृ० सं० ११ तथा विज्ञानगीता, छं० ४३, पृ० १३३ पाठभेद से

जैमिनि की कथा[1]

खोज-रिपोर्ट सन् १९१७-१९१९ ई०
पृष्ठ-संख्या १५९
छन्द-संख्या १११८
प्रतिलिपिकाल सं० १९४८ वि०
स्थान—लाला नन्दलाल मुत्सद्दी, कंथरा, छतरपुर

आदि—श्री गणेशाय नमः । श्री सरस्वतीदेव्यै नमः।
श्री पुरगुरुवे नमः। अथ जैमुन की कथा लिख्यते।
दोहा—विघन-विनासन भवहरण, लम्बोदर उपदेस।
धर्म कथा सुभ मंजरी, निर्वाहो सुष वेस।।
अन्त—लघुमति गूढ़न मैं कह्यौ, जो सों अच्छर सार।
केसव पर निजु करि कृपा, सुकवि संवारनहार।।
"इति श्री महाभारते अस्वमेध के पर्व ने जैमुनि कृते प्रधान केसोराइ विरचितायां फलस्तुति वर्ननो नाम सरसठयोध्यायः।"

इस ग्रन्थ के रचयिता ने अपनी छाप 'प्रधान केसोराइ' रखी है। केशवदासजी के प्रामाणिक ग्रन्थों में 'प्रधान केसोराइ' की छाप कहीं दृष्टिगत नहीं होती। यह ग्रन्थ जैमिनि के प्रसिद्ध ग्रन्थ अश्वमेध का हिन्दी रूपान्तर है। ग्रन्थकार के अनुसार इसका रचनाकाल सं० १७५३ वि० है। खोज-रिपोर्ट सन् १९०५ के अनुसार केसवराय माधवदास के पुत्र तथा मुरलीधर के भाई थे।[2] खोज-रिपोर्ट १९१० ई० के अनुसार इनका जन्म संवत् १६८२ वि० में हुआ था।[3] छत्रसाल (सन् १६४९-१७३१) ने इन्हें एक ग्राम दिया था। केशवदासजी ने स्वयं अपने पिता का नाम काशीनाथ तथा भ्राताओं के नाम बलभद्र तथा कल्याणदास बतलाए हैं। अतः स्पष्ट है कि यह कोई अन्य 'प्रधान केसोराइ'

---

१. काशी ना० प्र० सभा खोज-रि० १९१७-१९ ई०

२. "Translation of the Jaimini Ashwamedha by Kesawa Rai S/o Madhava Dass and brother of Murlidhar. He mentions one Lala Narsingh as his patron and says that he was the God son of Chhatrasala. In another place he mentions that a village was given to him by Chhatrasala (1649 A. D.-1731 A. D.). From this fact it is certain that he flourished in the time of Chhatrasala. He composed this work in Sambat 1753 (1796 A. D.) which also coroborates the fact noted above.

—Search for Hindi Mss. year 1905

३. He was born in 1682.

—Search for Hindi Mss. 1910.

हैं। छत्रसाल के सम्बन्ध से यही निष्कर्ष निकलता है कि ग्रन्थकार छत्रसाल के समकालीन थे और इस प्रकार रचनाकाल भी ठीक प्रतीत होता है। 'शिवसिंहसरोज' में भी एक प्रधान केसोराय का उल्लेख है। कुछ भी हो इस ग्रन्थ के रचयिता महाकवि केशवदास कदापि नहीं हैं।

हनुमान जन्म-लीला[1]

खोज-रिपोर्ट १९१०-११ ई०
पृष्ठ-संख्या ४५
छन्द-संख्या ५००
स्थान--पं० भानुप्रताप तिवारी, चुनार

बालि-चरित्र[2]

पृष्ठ-संख्या ६
छन्द-संख्या ६२
स्थान—भानुप्रताप तिवारी, चुनार

ये दोनों ग्रन्थ महाकवि केशवदास की कृतियां नहीं हैं। किसी अन्य 'केशव' नामधारी कवि ने इनकी रचना की होगी। खोज-रिपोर्ट के उद्धरणों की भाषा महाकवि केशवदास की भाषा से नितान्त भिन्न है। खोज-रिपोर्टकार के अनुसार इनका रचयिता बघेलखंड का 'केशवराय बबुआ' है।

आनन्दलहरी[3]

खोज-रिपोर्ट १९१०-११ ई०
केशवगिरिकृत
पृष्ठ-संख्या १६
छन्द-संख्या २१०
स्थान--पं० रघुनाथराम, गायघाट, बनारस

आरम्भ-श्री गणेशाय नमः। अथ आनन्दलहरी प्रारम्भ।
दोहा--यह आनन्द समुद्र की, लहरें अपरम्पार।
सो कछु हौं बरनन करी, केशव मति अनुसार॥
अन्त--यह आनन्दलहरी रुचिर, दायक अमित अनन्द।
ज्वर ज्वाला दुख को हरनि, कहत केशवानन्द॥
पढ़े श्लोक वा कवित्त को, ताको ज्वर तत्काल।
नाशहि शंकर कृपा तें, रह जगदेव दयाल॥
इति श्री आनन्दलहरी कवित्तनो समाप्तम्।

---

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, पृष्ठ सं० २३३
२. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट, पृष्ठ सं० २३४
३. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट १९१०-११

इस ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं दिया गया है। जगद्गुरु शंकराचार्य के 'आनन्द-लहरी' नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ का यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा-रूपान्तर है। कवि ने इसमें अपनी छाप 'केशवगिरि' दी है। महाकवि केशवदास ने अपने ग्रन्थों में इस छाप का कहीं भी प्रयोग नहीं किया। इसके अतिरिक्त खोज-रिपोर्ट के उद्धरणों की भाषा की अलंकार एवं दृश्य-वर्णन की दृष्टि से महाकवि केशवदास की कविता से तुलना करें तो दोनों में महान अन्तर प्रतीत होता है। अतः यह रचना महाकवि केशवदास की नहीं हो सकती।

रसललित

खोज-रिपोर्ट १९१०–११ ई०

रसललित[1]–रचयिता केशवराय

पृष्ठ-संख्या ३६

छन्द-संख्या ८७७

स्थान—पं० शिवदुलारे दुबे, हुसेनगंज, फतहपुर।

आदि—श्री गणेशाय नम:

राधावर घनस्याम को, ध्यान करो कर जोरि।
ना ध्यावे जो जन तिन्हें तन मन बहुत निहोरि॥

अन्त—अथ शृंगार लक्षण है जु प्रिया पीय।
कीरति जेहि भाऊ ताहि कहत शृंगार रस।
पण्डित कवि समुझाय।

दोहा—विधि विधि है शृंगार रस कहत सुकवि मन आनि।
करनी प्रथम संजोग को........................॥

यह ग्रन्थ किसी 'केशवराय' नामधारी कवि की रचना है। इसका विषय नायिका-भेद है। इस विषय पर महाकवि केशवदासजी ने 'रसिकप्रिया' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। जिसमें इस विषय का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन है। इतने सुन्दर ग्रन्थ की रचना करने के उपरान्त केशवदासजी द्वारा 'रसललित' जैसा साधारण कोटि का ग्रन्थ रचने की सम्भावना करना नितान्त असंगत है। दूसरे, दोनों ग्रन्थों के शृंगाररस के लक्षणों में अन्तर है। तीसरे, 'रसिकप्रिया' में शृंगाररस का लक्षण प्रारम्भ में है जबकि 'रसललित' में अन्त में जाकर दिया गया है। खोज-रिपोर्टकार ने इस ग्रन्थ का रचयिता बुन्देलखण्ड-निवासी केशवराय जन्म संवत् १६८२ वि० को बतलाया है। इस ग्रन्थ का रचयिता कोई 'केशव' नामधारी अन्य कवि ही है, न कि आचार्य केशव।

कृष्णलीला

खोज-रिपोर्ट सन् १९२०–२२ ई०

कृष्णलीला[2] अपूर्ण—रचयिता केशव ऊंचाहार

---

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट सन् १९१०-११ ई०

२. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट सन् १९२०-२२ ई०

पृष्ठ-संख्या ३६
छन्द-संख्या ६४८
स्थान--पं० शिवप्रसाद मिश्र, मौजमाबाद, फतहपुर

आदि--श्री गणेशाय नमः

विघ्नहरण अशरण-शरण गणपति गिरिजानन्द ।
सिधिदायक ध्यावत तुम्हें, मिटत फिकिर के फन्द ।।

अन्त--तुम एक सरन असरन तुम दीन के दुखहरन ।
गजराज गनिका तारि तारी अहिल्या नारि ।।
सुनि द्रोपदी की टेर·························।।

विषय--परिहार वंश-वर्णन, कृष्ण का बाल-चरित, कृष्ण का मही खाना, काली-दह में कूदना, यशोदा का प्रेम-वर्णन, कृष्ण का माखन चुराना, गापियों के उपालम्भ, राधाकृष्ण-विहार-वर्णन तथा कृष्ण-प्रभात-वर्णन।

वंश-वर्णन के अन्त में कवि लिखता है--

लसत जहाँ चारो वरन, चहूँ ओर है नाँउ ।
निकट उचहरा के बसत, मेटनवार शुभ गाँउ ।।
बख्तावर के हुकुम तें कवि केशव करि प्यार ।
कह्यो कृष्णलीला सुखद, निज बुधि के अनुसार ।।
इति वंश-वर्णन ।

संगीत-रत्नाकर पर भाष्य[1]

'संगीत-रत्नाकर' शारंगदेव (सन् १२१०–४७ ई०) की प्रसिद्ध रचना है। पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी में केशव ने इस ग्रन्थ पर भाष्य लिखा। भाष्य की भाषा आदि को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह रचना महाकवि केशव की कदापि नहीं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों के रचयिता आचार्य केशवेतर केशव नामधारी कवि हैं। महाकवि केशवदास की रचनाओं का काल-क्रम इस प्रकार दिया जा सकता है--

१.	रतनबावनी	रचनाकाल	सं० १६३८ वि० से १६४० तक
२.	रसिकप्रिया	रचनाकाल	सं० १६४८ वि०
३.	नखशिख	रचनाकाल	सं० १६५७ वि०
४.	बारहमासा	रचनाकाल	सं० १६५७ वि०
५.	रामचन्द्रिका	रचनाकाल	सं० १६५८ वि० कार्तिक शुक्लपक्ष
६.	कविप्रिया	रचनाकाल	सं० १६५८ वि० फाल्गुन शुक्लपक्ष

---

१. संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृष्ठ सं० २९
लेखक--नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद

७.	छन्दमाला	रचनाकाल	सं० १६५८ वि०
८.	वीरसिंहदेवचरित	रचनाकाल	सं० १६६४ वि०
९.	विज्ञानगीता	रचनाकाल	सं० १६६७ वि०
१०.	जहांगीर-जस-चन्द्रिका	रचनाकाल	सं० १६६९ वि०

तृतीय परिच्छेद

केशवकालीन परिस्थितियां

पूर्व-पीठिका

(क) राजनीतिक

केशव (सं० १६१८–१६८० वि०) का समय सत्रहवीं शताब्दी है। उस समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्रों में विशिष्ट और महान प्रतिभाओं ने जन्म लिया। अकबर का दरबार 'रत्नों' से जगमगा उठा। साहित्याकाश में 'सूर्य', 'चन्द्र' और 'उडुगन' अनुपम ज्योति विकीर्ण करने लगे। भक्ति-भावावेशमूलक धर्म जहां कृष्ण-काव्य में मधुर रस बनकर छलक उठा, वहां मध्यकालीन जीवन-मूल्य तथा सामाजिक आदर्श मर्यादायुक्त राम-काव्य की लोक-सुलभ शैली में ढलकर समाज की पुनर्व्यवस्था में योगदान देने लगे। अकबर की सहिष्णुता, जहांगीर का न्याय और नूरजहां की सुव्यवस्था ने देश में उस स्वर्णयुग का सूत्रपात किया जिसमें कला, साहित्य और संगीत की वह अबाध परम्परा स्थापित हो सकी जो औरंगज़ेब की कला-विरोधी प्रवृत्ति से टकराने तक अक्षुण्ण बनी रही।

अकबर १४ फरवरी सन् १५५६ से १७ अक्तूबर सन् १६०५ तक सम्राट रहा।[१] केन्द्र की दुर्बलता और अस्त-व्यस्तता के कारण राजनीतिक व्यवस्था समाप्तप्राय थी। काबुल, कश्मीर, जोधपुर, मालवा, ओरछा, बीजापुर और गोआ स्वतन्त्र हो गए थे।[२] जनता दुर्भिक्ष, महामारी आदि दैवी प्रकोपों से उत्पीड़ित थी।[3] अतः अकबर का मार्ग जटिल और कंटकाकीर्ण था। अकबर ने अपनी विजयों से साम्राज्य की अभिवृद्धि की, संधि और राजनीतिक विवाहों से साम्राज्य की सुरक्षा की तथा धार्मिक सहिष्णुता से शासित हिन्दू बहुमत को शासक मुस्लिम अल्पमत के पक्ष में रखा।[४] अकबर के पश्चात् जब जहांगीर सिंहासनासीन हुआ[५] तो उसने अपने पिता के पदचिह्नों पर ही चलना श्रेयस्कर समझा। मेवाड़ और कांगड़ा की विजयों से[६] साम्राज्य-अभिवृद्धि का शेषांश पूर्ण किया।

---

१. An Advanced History of India (2nd Ed.), R. C. Majumdar, Page 457

२. भारतीय साहित्य की रूपरेखा, द्वितीय भाग, पृ० ३३ (चतुर्थ संस्करण)

३. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ६

४. भारत का बृहद् इतिहास, पृ० ३९१, श्रीनेत्र पांडेय

५. ४ अक्तूबर, १६०५ ई०—भारत का इतिहास, भाग २, डाक्टर ईश्वरीप्रसाद, पृ. १०९

६. भारतीय साहित्य की रूपरेखा, भाग २, श्रीराम त्यागी

उसकी विलासवृत्ति से कुछ दुर्बलता भी आई जिसने अन्तर्कलहों को जन्म दिया। पर नूरजहां ने शासन की दुर्बलता को बढ़ने नहीं दिया। दिल्ली-साम्राज्य से अनेक प्रतिभाएं सम्बद्ध थीं। अकबर की गुणग्राहकता ने प्रतिभाओं को प्रोत्साहन भी दिया और संरक्षण भी, पर अनेक कवि-संगीतज्ञ अकबर के परिकर से सर्वथा मुक्त रहे। इनमें से कुछ तो "संतनु कहा सीकरी सों कामु" और "नाहिन रह्यौ मन में ठौर" गानेवाले निश्छल-निस्संग भक्त थे जो राजनीतिक वातावरण में पड़कर अपनी प्रतिभा और साधना को एकांगी नहीं बना देना चाहते थे। दूसरी ओर ऐसी प्रतिभाएं थीं जो दिल्ली-केन्द्र से सम्बद्ध होना अपने स्वाभिमान, राष्ट्रप्रेम और जात्यभिमान के विरुद्ध समझती थीं। ये कलाकार उन वीर-सामंतों के पास रहकर अपने को कृतकृत्य समझते थे जिनमें कुछ जात्यभिमान शेष था, और अत्यन्त दुर्बल होते हुए भी अपने स्वाभिमान की रक्षा में तत्पर थे। केशवदासजी का दिल्ली से कभी सीधा संबंध नहीं रहा। वे आजन्म ओरछा के यश में एक सुदृढ़ स्तम्भ बने रहे। ओरछा जैसे राज्यों में एक मनोवैज्ञानिक संघर्ष था। एक ओर बुन्देलखण्ड के अमर वीरों की यशोगाथा दिल्ली की दासता के नीचे कसमसा रही थी, दूसरी ओर पराजय और विवशता विलास-विनोद में परिणति खोज रही थी। केशव की प्रतिभा द्विमुखी रही। एक ओर वीरता के अवशिष्ट स्फुलिंगों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से 'रतनबावनी' और 'वीरसिंहदेवचरित' की रचना चल रही थी; दूसरी ओर वह विलास-विनोद की अंगभूत सामग्री साहित्य-संगीत-कला की रसिकों को शिक्षा देने में संलग्न थी। इस प्रकार समस्त राजनीतिक संघर्ष कविवाणी में अभिव्यक्ति पा रहा था। साथ ही दिल्ली और छोटे राज्यों के बीच विलास-विनोद की प्रतिद्वन्द्विता भी चल रही थी; यदि कोई 'राय-प्रवीण' कला-सौन्दर्य के क्षेत्र में उभरने लगी तो केन्द्र भी उसे अपनाने को मचल उठा। कभी-कभी यह एक आन्तरिक संघर्ष का कारण बन गई। केशव जैसी प्रतिभाओं का उप-योग ऐसे संघर्षों को टालकर आश्रयदाता सामंत की सुरक्षा करने में भी हो सकता था। वीरसिंहदेव ने यदि बाप-बेटे की अनबन का लाभ उठाकर भेद-नीति से सलीम का विश्वास प्राप्त किया तो केशव उसके चरित्र की गहराई आंकने लगे। इस प्रकार केन्द्र और अधी-नस्थ राज्यों में जो बाह्यतः मधुर और अन्तरतः कटु प्रतिक्रियात्मक संबंध रहता था, केशव के काव्य में उसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि सुन पड़ती है।

ओरछा राज्य से केशव का सीधा सम्बन्ध था। यह राज्य तत्कालीन राष्ट्रीयता और जात्यभिमान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। ओरछा राज्य के माध्यम से ही केशव दिल्ली से संबद्ध थे। एक समय में ओरछा की सीमाएं उत्तर में यमुना और दक्षिण में नर्मदा, पश्चिम में चम्बल तथा पूर्व में टोंस तक थीं।[1] यह क्षेत्र वीरसिंहदेव की वीरता का लोहा मान चुका था। भारतीचन्द की मृत्यु के उपरान्त मधुकरशाह सन् १५५४ में

---

१. इत जमुना उत नर्मदा इत चम्बल उत टोंस।
यामें वीरसिंहदेव की सबने मानी धोंस॥ बुन्देल वैभव, प्रथम भाग, पृ० १६

ओरछा की गद्दी पर बैठे। इस धर्माभिमानी, स्वतन्त्रता-प्रिय वीर का अकबर से संघर्ष हुआ। अकबर ने इसके दमन के लिए एक विशाल सेना भेजी। इस वीर के अदम्य साहस ने इस अभियान को असफल कर दिया। इसके पश्चात् दो मुगल-अभियान और हुए। सन् १५९१ में मुराद के सम्मुख पराजित होकर राजा नरवर की ओर पलायन कर गया। वहां इस स्वाभिमानी ने अकबर की दासता में जीवन-यापन करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन श्रेयस्कर समझा। सन् १५९२ में इनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई।[1] मधुकरशाह का नाम उन राजाओं के साथ गौरव के साथ लिया जाता था जो आजीवन अकबर के विरुद्ध संघर्ष करते रहे।

मधुकरशाह के आठ पुत्र थे। अकबर ने रामशाह को ओरछाधिपति स्वीकृत किया। राज्य का प्रबन्ध-भार इन्द्रजीतसिंह के कंधों पर था। मधुकरशाह का स्वाभिमानी रक्त वीरसिंहदेव की रगों में दौड़ रहा था। उसके मन में अकबर के विरुद्ध विद्रोहाग्नि सुलगने लगी। अकबर इस क्रांति-स्फुलिंग को कैसे सहन कर सकता था! रामशाह को उसे पकड़ने की आज्ञा मिली। भीतर ही भीतर इन्द्रजीतसिंह और प्रतापराव उसके समर्थक थे। वीरसिंहदेव ने दतिया के आसपास का प्रदेश भी छीन लिया। अकबर द्वारा प्रेषित दौलतखां ने रामशाह की सहायता से इस स्वतन्त्रता के सेनानी को पकड़ने की चेष्टा की, पर वह विफल-मनोरथ हुआ। सलीम से मेल करके वीरसिंहदेव ने अपनी नीति-कुशलता का परिचय दिया। सलीम की इच्छानुसार जब वीरसिंहदेव ने अबुलफज़ल का वध कर दिया, तब अकबर ने उसके दमनार्थ सेना भेजी। वीरसिंहदेव उस सेना को छकाता रहा। अन्ततः अकबर की आकस्मिक मृत्यु ने वीरसिंहदेव को न केवल संकटों से मुक्त किया, अपितु उसके मार्ग को भी प्रशस्त कर दिया। जहांगीर तो उसका मित्र था ही। केशव की लेखनी वीर, साहसी और नीति-निष्णात वीरसिंहदेव के स्वतन्त्रता-प्रेम को चित्रित करने के लिए मचल उठी। अकबर के विरुद्ध वीरसिंहदेव के क्रिया-कलापों की यशोगाथा 'वीरसिंहदेवचरित' काव्य बनी। यह भी स्वाभाविक था कि वीरसिंहदेव के सहायक मित्र जहांगीर से भी केशव का संबंध हो। उनके आश्रयदाता वीरसिंहदेव के विकास में जहांगीर का जो योग था, वह महत्त्वपूर्ण था। फलतः जहांगीर की प्रशंसा में 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' की रचना हुई।

दिल्ली और ओरछा के बीच हुए संघर्षों से ही केशव का संबंध नहीं था, वे ओरछा के गृह-कलहों को भी शांत कराते रहे तथा शक्ति-विभाजन को रोककर शक्ति को संगठित करने की चेष्टा करते रहे। वीरसिंहदेव और रामशाह के बीच राज्य को लेकर गृह-कलह की संभावना होने लगी थी। केशव ने इस आन्तरिक कलह को टालने की प्राणपण से चेष्टा की।[2] इन्द्रजीत तो उन्हें गुरु मानते ही थे,[3] वीरसिंहदेव और रामशाह भी उनका

१. ओरछा स्टेट गजेटियर, भाग ६
२. वीरसिंहदेवचरित, दशम प्रकाश
३. कविप्रिया, २।२०

सम्मान करते थे। वीरसिंहदेव ने उनके पुत्रों को भी वृत्ति दी।[1] इस प्रकार केशव राजनीतिक प्रश्नों को सुलझाने में भी सक्रिय भाग लेते रहे।

(ख) सामाजिक

समाज दुहरे शासन की चक्की में पिस रहा था। केन्द्र और सामन्त दोनों के विलास का मूल्य जनता को चुकाना पड़ता था। सामन्त-सुलभ शोषण ने जनता की आर्थिक क्षति की थी। इस प्रकार दरबार सभ्यता, विलास, वैभव और सुख का केन्द्र बन गया था, निरीह जनता की दशा दयनीय थी।[2] उच्चवर्ग विलास-मग्न था। दरबारों में नर्तकियों का जमघट लगा रहता था। अकबर का दरबार भी अपवाद नहीं था।[3] आज की दृष्टि से मध्यमवर्ग नहीं था, यदि था भी तो निष्क्रिय। निम्नवर्ग जीवन-भार ढो रहा था। सती, बालविवाहों से समाज पीड़ित था।[4] हिन्दू-मुसलमानों में कुछ मेलजोल भी हो चला था। दोनों ही के उत्सव मनाए जाते थे।[5] शिक्षा की उन्नति विशेषतः उच्चवर्ग में ही थी। उच्चवर्ग की स्त्रियां भी शिक्षित होती थीं।[6] मन्दिर और मस्जिदों की धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ विद्यालयों की शिक्षा भी अकबर और जहांगीर के प्रोत्साहन से प्रचलित हो रही थी। सामान्यतः निम्नस्तरीय जनता उपेक्षित थी। उसके जीवन का यथार्थ विवरण भी अप्राप्य है। अतः दरबारी कवियों की प्रतिभा भी जन-जीवन की गहराई में न पैठकर दरबारी संस्कृति, विलास और वैभव के चित्रण में संलग्न रही। दरबार-मुक्त कवियों ने अवश्य ही जन-जीवन से कुछ संपर्क बनाए रखा। केशव के काव्य में सांस्कृतिक चित्रण तो हैं ही, पर जन-जीवन के साथ उनका निजी संपर्क न होने पर भी समाज के यथार्थ चित्र उनके काव्य में अवश्य मिल जाते हैं।

(ग) धार्मिक

मुसलमानों की कट्टर धार्मिक नीति ने हिन्दू जनता में जो विक्षोभ और निराशा उत्पन्न की थी वह अकबर की सहिष्णुता से धुलने लगी। जहां राजनीतिक विवाहों से उसने राजपूतों में व्याप्त प्रतिहिंसा और कटुता को मैत्री में बदलने का प्रयत्न किया, वहां 'दीन-ए-इलाही' धार्मिक भेदभावों को मिटाकर दोनों धर्मों में सद्भावना और एकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है। जज़िया कर से हिन्दुओं को मुक्त करना[7] उसकी सहिष्णुता और उदारता का प्रमाण है। जून, सन् १५७९ में फतहपुर सीकरी के प्रधान इमाम को हटाकर एक धार्मिक 'इमामे-आदिल' नियुक्त किया गया। अकबर ने स्वयं 'खुतवा'

---

१. विज्ञानगीता (संवत् १९५१-संस्करण), पृ० सं० १२५
२. मुगलकालीन भारत, डाक्टर आशीर्वादीलाल, पृ० सं० २५६
३. आईन-ए-अकबरी (ब्लाकमेन का अनुवाद), भाग १, आईन १५, पृ० ४४
४. वर्नियर ट्रेवल्स, पृ० ३१५
५. मुगलकालीन भारत, डॉ० आशीर्वादीलाल, पृ० २६२
६. Studies in Moghul India, J. N. Sarkar, Pp. 299
७. Mediaeval India, Lane Poole, Pp. 261-62

पड़ा।[१] अबुलफ़ज़ल ने भी अकबर के उदार धार्मिक विचारों का समर्थन किया।[२] बीरबल भी 'दीन-ए-इलाही' में सम्मिलित हुए। जहांगीर इतना दूरदर्शी तो नहीं था, पर उसने पुरानी धर्मान्धता की पुनरावृत्ति नहीं की। हिन्दू राजाओं में से कुछ धर्म के प्रश्न पर अटल थे। ओरछा के मधुकरशाह कट्टर धार्मिक थे।[3] वीरसिंहदेव और इंद्रजीतसिंह भी धर्मध्वज थे। इस प्रकार तत्कालीन राष्ट्रीयता का धर्म भी एक अंग बन गया था।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास का सबसे सशक्त आन्दोलन भक्ति-आन्दोलन था। इससे एक ओर वर्ण-भेद के विरुद्ध क्रान्ति को वाणी मिली, तो दूसरी ओर दर्शन, धर्म और सांस्कृतिक बोध से प्रायः शून्य जनता को एक नई दृष्टि मिली। ज्ञान और योग की शुष्क-दुरूह भूमि क्रमशः छूटने लगी और जनमानसानुकूल उपासना लोकप्रिय होने लगी। डॉ० ग्रियर्सन प्रभृति कुछ विद्वानों ने इसे एक आकस्मिक आन्दोलन मानकर ईसाइयत की देन समझा।[४] शुक्लजी के अनुसार पराजित और हताश हिन्दू जनता ने धर्म और स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले राजाओं को जब हतप्रभ देखा तब "पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त मार्ग ही क्या था?"[५] इसके सम्बन्ध में डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—मुसलमानों के भ्रष्टाचार के कारण यदि भक्ति की धारा को उमड़ना था तो पहले सिन्ध और फिर उत्तर भारत में प्रकट होनी चाहिए थी, पर वह दक्षिण में हुई।[६] अन्य विद्वानों ने भी इसका समर्थन किया है।[७] वस्तुतः भक्ति दक्षिण में ही प्रादुर्भूत हुई[८]; इसका कारण न तो ईसाइयत का प्रचार था और न मुसलमानों का अत्याचार। शांकर-अद्वैत की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति-सम्प्रदायों ने जन्म लिया, जिनकी आधारशिला व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से 'आडियार' एवं 'आलवार' भक्तों का साहित्य थी। यद्यपि केशव का सीधा सम्बन्ध भक्ति-आन्दोलन से नहीं था, पर यह भी सम्भव नहीं है कि किसी व्यापक सामाजिक आन्दोलन से कोई प्रतिभा नितान्त अछूती रह जाए। केशव की 'रामचन्द्रिका' चाहे रूपतः भक्तिग्रंथ न हो, फिर भी उसमें ऐसे स्थलों का भी अभाव नहीं जो भक्तिभाव से ओतप्रोत हैं। भक्ति-आन्दोलन की रामभक्ति-शाखा के प्रमुख सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय यहां असंगत न होगा।

---

१. Journal of Indian History (1930), P. 323
२. आईन-ए-अकबरी, भाग १, पृ० सं० १६४
३. बुन्देलखण्ड का इतिहास, गोरेलाल तिवारी, पृ० सं० १२६
४. हिन्दी साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० सं० ८७
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० सं० ६०
६. हिन्दी साहित्य, पृ० सं० ८८-८९
७. सूर और उनका साहित्य, पृ० सं० १२४, डॉ० हरवंशलाल शर्मा
८. भागवत माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ४८, ४९ व ५०

रामानुजाचार्य का श्रीसंप्रदाय

दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में नाथमुनि तथा यमुनाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्रीसंप्रदाय से रामानुजाचार्य (१०१६-११३७ ई०) का संबंध है। 'प्रबन्धम्' में संकलित 'आलवार' तथा 'आडियार' गीतों ने इस संप्रदाय की भक्ति की रूपरेखा स्पष्ट की। उन्होंने शंकर के मायावाद का खंडन करके जीव की स्थिति में सत्य की भावना उपस्थित की, क्योंकि शांकर अद्वैतवाद भक्ति या उपासना का सुदृढ़ आलंबन उपस्थित न कर सका था। मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति है। उन्होंने वेदोक्त कर्मकाण्ड पर भी बल दिया, किन्तु प्राधान्य भक्ति को ही दिया है। यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुवस्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं। यही ध्यान, उपासना अथवा भक्ति है।[1] शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव का पार्थक्य नष्ट होकर उसका ब्रह्म-रूप हो जाना ही मुक्ति है, किन्तु रामानुजाचार्य ईश्वर के अनवरत ध्यान के लिए अपनी आत्मा का रहना आवश्यक समझते हैं। समस्त प्रकार के अज्ञान और बंधनों से मुक्त हो जाने पर मुक्तात्मा पूर्वज्ञान और भक्ति के साथ ब्रह्मचिन्तन का असीम आनन्द अनुभव करता है।[2]

आचार्य रामानन्द

हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करनेवाले धर्माचार्यो में रामानन्द का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उत्तरी भारत में रामभक्ति का जो प्रचार हुआ उसका एकमात्र श्रेय आचार्य रामानन्द को ही है।[3] उनका जन्म विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त तथा चौदहवीं के आरम्भ में हुआ था।[4] उनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. वेदान्त-सूत्रों पर आनन्दभाष्य
२. रामार्चन-पद्धति
३. वैष्णव-मताब्ज-भास्कर

उन्होंने अपनी उपासना के लिए वैकुंठवासी विष्णु का स्वरूप न चुनकर लोक-लीला-विस्तारी अवतार राम को चुना, तथा अनन्य भक्ति को मोक्ष का एकमात्र एवं अव्यवहित साधन, प्रपत्ति को मोक्ष का हेतु और कर्म को भक्ति का अंग बतलाया। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त-कारण है, और साथ ही उपादान-कारण भी। जीवों में परस्पर भेद होता है। जीव कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता तथा नित्य है। उन्होंने 'मायावाद' का खण्डन किया। निर्गुण का खण्डन तथा सगुण का मण्डन सुन्दर तर्कों द्वारा किया गया है।[5] रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य से संतुष्ट न होकर उन्होंने स्वयं 'आनन्दभाष्य' रचने की आवश्यकता समझी।

---

१. श्रीभाष्य १–१
२. श्रीभाष्य ४–४
३. भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सात दीप नौ खंड॥
४. हिन्दी-साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १०३
५. आनन्दभाष्य १—१—१

स्वामी रामानन्द ने न केवल द्विजातियों, अपितु सभी जातियों के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया था। उनके व्यक्तित्व का आकर्षण इसीसे स्पष्ट है कि योग-प्रधान, भक्ति-प्रधान, निर्गुणपंथी, सगुणपंथी सभी मार्ग के अनुयायियों ने उनको अपना गुरु बनाया। उन्हींकी रामकथा का प्रभाव था कि हिन्दी-साहित्य में तुलसी एवं केशव जैसे महाकवि रामकथा को लेकर अवतरित हुए।

रामभक्ति-शाखा के प्रभाव के अतिरिक्त कृष्णभक्ति-शाखा के मधुर शृंगार का यत्किंचित् प्रभाव 'कविप्रिया' एवं 'रसिकप्रिया' में स्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः कृष्णभक्ति-शाखा के प्रमुख सम्प्रदायों का सामान्य परिचय नीचे दिया जाता है।

क्रमसंख्या	प्रवर्तक	सम्प्रदाय	प्रधान क्षेत्र	सिद्धान्त
१	दत्तात्रेय	दत्तात्रेयसम्प्रदाय	महाराष्ट्र	
२	मध्वाचार्य	मध्वसम्प्रदाय	कर्णाटक	द्वैतवाद
३	विष्णुस्वामी	विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय (रुद्र-सम्प्रदाय)	त्रिवेन्द्रम त्रावणकोर	शुद्धाद्वैत
४	निम्बार्काचार्य	निम्बार्कसम्प्रदाय	वृन्दावन	द्वैताद्वैतभेदाभेद
५	महाप्रभु चैतन्य	चैतन्यसम्प्रदाय	पुरी, वृन्दा-वन	चिन्त्याचिन्त्य-वाद
६	वल्लभाचार्य	पुष्टिसम्प्रदाय	वृन्दावन गोवर्धन जतीपुरा	शुद्धाद्वैतवाद
७	हितहरिवंश	राधावल्लभीय-सम्प्रदाय	वृन्दावन	
८	हरिदास	सखिसम्प्रदाय	वृन्दावन	

दत्तात्रेयसम्प्रदाय

ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रखते हुए भी दत्तात्रेयसम्प्रदाय का साहित्य पर नितान्त नगण्य प्रभाव है। शेष कृष्ण-भक्तिसम्प्रदायों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। वात्सल्य-प्रधान एवं माधुर्य-प्रधान। वल्लभसम्प्रदाय आरम्भ में बाल-भाव से युक्त रहा। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के प्रभाव से पीछे इस सम्प्रदाय में भी माधुर्य का प्रवेश हुआ।

मध्वाचार्य और मध्वसम्प्रदाय

आचार्य मध्व (११९७-१२७६ ई०)[1] ने भी रामानुजाचार्य की भांति माया का खण्डन किया। उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन भागवत एवं पुराणों के आधार पर

१. Vaishnivism, Shaivism and Other Minor Religious Systems, R. G. Bhandarker, Pp. 85.

किया। उनके वेदान्त-सूत्र पर 'भाष्य' और 'अनुभाष्य' दा प्रधान ग्रन्थ हैं। उनके अनुसार विष्णु ही अविनाशी ब्रह्म हैं। 'जीव' ब्रह्म से ही उत्पन्न है, किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतंत्र। जिस प्रकार कारण-कार्य एक नहीं हैं उसी प्रकार ब्रह्म एवं जीव भी एक नहीं हैं। कृष्ण ब्रह्म हैं और उनकी भक्ति ही ब्रह्म के पाने का एकमात्र साधन है। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति के पांच-पांच भेदों पर विशेष रूप से विचार किया—

१. ब्रह्म और जीवात्मा
२. ब्रह्म और जड़ जगत्
३. जीवात्मा और जड़ जगत्
४. एक जीवात्मा और दूसरा जीवात्मा
५. एक जड़ पदार्थ और दूसरा जड़ पदार्थ

ब्रह्म के कार्य-विधान को आठ भागों में विभाजित किया है—१. उत्पत्ति, २. पालन, ३. लय, ४. नियम, ५. आवरण (अज्ञान), ६. बोधन, ७. बंधन तथा ८. मोक्ष। इन आठ कार्यों में केवल परमात्मा का ही अधिकार है अन्य किसी चेतन का नहीं।

लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न एवं चेतन है। वह परमात्मा के इंगित पर ही उपर्युक्त आठ कार्य-कलापों का सम्पादन करती है। श्री, भू, ह्री, सीता, रुक्मिणी आदि उसके अनेक रूप हैं। अविद्या की सृष्टि पंचभूत के उपरान्त होती है। अविद्या के चार प्रकार हैं—जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला तथा माया। पदार्थों को दस प्रकार का बतलाया गया है—१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. विशिष्ट, ७. अंशी, ८. शक्ति, ९. सादृश्य तथा १०. अभाव। शक्ति-पदार्थ पर विशेष बल देते हुए उसके चार भेद किए हैं—अचिन्त्य-शक्ति, आधेय-शक्ति, सहज-शक्ति एवं पद-शक्ति। अचिंत्य-शक्ति की पूर्णता ईश्वर में है। जीवों की संख्या अनन्त मानी गई है जिनको तीन भागों में विभाजित किया गया है—

१. मुक्ति-योग्य
२. नित्य-संसारी
३. तमोयोग्य

संसारी जीव काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि दोषों से युक्त होता है। मुक्ति के वे चार प्रकार मानते हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति का लय, अर्चिरादिमार्ग तथा योग। मुक्तियोग को चार प्रकार का माना गया है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य।[1]

इस सम्प्रदाय में व्यूह, वासुदेव, गोपालकृष्ण, गोप तथा राधा के लिए कोई विशेष स्थान नहीं। तात्पर्य यह है कि प्राचीन वासुदेवधर्म और भागवतधर्म के स्थान पर उन्होंने नवीन वैष्णवधर्म को जन्म दिया। उन्होंने पंचरात्र को विशेष महत्त्व नहीं

---

१. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, डॉ० दीनदयालु गुप्त

दिया। मध्वाचार्य अवतार के प्रबल पोषक थे।

विष्णुस्वामीसम्प्रदाय

'विष्णुस्वामी' (जन्म १२६० ई०)[१] शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इस सम्प्रदाय को 'रुद्रसम्प्रदाय' भी कहते हैं। 'भविष्यपुराण' और 'पद्मपुराण' में रुद्रसम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी का उल्लेख है।[२] वल्लभसम्प्रदाय के एक ग्रंथ 'सम्प्रदायप्रदीप' के द्वितीय प्रकरण में विष्णुस्वामी को विष्णु का अवतार कहकर उन्हें धराधाम पर भक्ति-प्रचार के लिए अवतीर्ण बतलाया गया है।[3] तात्त्विक दृष्टि से विष्णुस्वामी ने उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनका आगे चलकर वल्लभाचार्य ने किया। इस ग्रंथ के अनुसार विष्णुस्वामी ने बहुत समय तक भक्ति-मार्ग का प्रचार किया और भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्ता दी।

विष्णुस्वामीसम्प्रदाय तात्त्विक दृष्टि से 'बारकरी' सम्प्रदाय के समान ही था। वे मध्वाचार्य के अनुयायी माने जाते है। उन्होंने अद्वैतवाद को मायारहित मानकर शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया। विष्णुस्वामी ने कृष्ण को अपना आराध्य माना है। उन्होंने 'वेदान्तसूत्रगीता' और 'भागवतपुराण' का आधार लेकर अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया।

निम्बार्कसम्प्रदाय

निम्बार्काचार्य (निधन ११६२ ई०)[४] द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। उनके सम्प्रदाय को सनकसम्प्रदाय अथवा 'हंस' सम्प्रदाय भी कहते हैं।

सम्प्रदाय में उनको विष्णु के सुदर्शनचक्र का अवतार माना जाता है। वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति को उत्तरी भारत में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उनके 'वेदान्तपारिजातसौरभ' तथा 'दशश्लोकी' नामक दो ग्रंथ अत्यधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त पच्चीस श्लोकों का स्तोत्र है जिसका नाम 'सविशेषनिर्विशेष श्रीकृष्ण स्तोत्रराज' है।

निम्बार्काचार्य ने पांच ज्ञेय पदार्थ बतलाए हैं—उपास्य का रूप, उपासक का

---

१. An Outline of the Religious Literature of India, J. N. Ferquher, Pp. 235.

२. वैष्णवधर्म का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३५

३. यदा भागवती सृष्टिः स्थितो भवति वै तदा।
शेषाङ्के भगवान्विष्णुः सात्मानं सृजति स्वयम्॥
तमाश्रित्य जनाः सर्वे भक्तिभाजो भवन्ति हि।
मेढीस्तम्भे बलीवर्दा यथाश्रित्य भ्रमन्ति च॥
तस्य श्री विष्णुस्वामिनः कदाचिन्मनसि विचारः समजनि.........
...........देखिए संप्र० प्र०, द्वि० प्रकरण, पृष्ठ १५

स्वरूप, कृपाफल, भक्तिरस तथा फलप्राप्ति में विरोधी तत्त्व। इन्हीं पांच[1] विषयों के अन्तर्गत उनके सभी सिद्धान्त निहित हैं। वे जीव (चित्) एवं जगत् (अचित्) को ब्रह्म नहीं मानते हैं। दोनों में वृक्ष एवं पत्तों अथवा दीपक और ज्योति का सा सम्बन्ध निश्चित करते हुए उन्होंने 'जीव' तथा 'ब्रह्म' में अंशांशी-भाव माना है। दोषरहित एवं कल्याण-गुणराशि श्रीकृष्ण ही उनके परब्रह्म हैं।[2] भक्ति पर उन्होंने विशेष बल दिया है। राधा की उपासना को विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए हरिव्यासदेवजी कहते हैं—प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपीस्वरूपा शक्तियों से परिवेष्टित कृष्ण एकान्त-भाव से उपासना करने योग्य हैं। श्रीकृष्ण ही उक्त सम्प्रदाय के इष्टदेव हैं।[3] स्मार्त न होने के कारण निम्बार्क राधाकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी देव को नहीं मानते हैं। उन्होंने 'क्रममुक्ति' तथा 'सद्योमुक्ति'[4] दो प्रकार की मुक्ति मानी है। उन्होंने 'प्राकृत', 'अप्राकृत' तथा 'काल' नामक तीन अचित् पदार्थ माने हैं।[5] मनुष्य की गति एकमात्र श्रीकृष्ण के चरणारविन्द ही हैं। भक्त की भावना के अनुसार ही भगवान उसे प्राप्त होते हैं तथा उसके कष्टों का निवारण करते हैं। अतः कृष्ण ही एकमात्र उपास्य-देव हैं।[6] भगवान की कृपा का फल ही सर्वस्व है। फल ही प्रभु की शरण-प्राप्ति करना है।[7]

वल्लभसम्प्रदाय

यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से वल्लभाचार्यजी (१४७८-१५३० ई०)[8] का सम्प्रदाय

---

१. उपास्यरूपं तदुपासकस्य च, कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेयास्तदर्था अपि पञ्च साधुभिः॥
—निम्बादित्य दशश्लोकी, हरिव्यासदेव, श्लोक १०

२. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
—निम्बादित्य दशश्लोकी, हरिव्यासदेव, श्लोक ४

३. वृषभानुजाविशिष्टं कृष्णस्य स्वरूपं सदोपासनीयं नितरामेकान्तभावेन श्रवणादिभिरनुकूल नीयमित्यर्थः।
—निम्बादित्य दशश्लोकी, हरिव्यासदेव, पृष्ठ २०

४. निम्बादित्य दशश्लोकी—श्री हरिव्यासदेव

५. अप्राकृतं प्राकृत रूपकं च, कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्चसमेऽपि तत्र।
—निम्बादित्यदशश्लोकी, श्लोक ३

६. नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दं संदृश्यते ब्रह्मशिवादि वान्तिकात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्ते रविचिन्त्य साशयात्॥
—निम्बादित्य दशश्लोकी, श्लोक ८

७. कृपाफलं च तत्प्रपत्तिलाभलक्षणमित्येतत्।
—निम्बादित्यदशश्लोकी, श्लोक ३—८

८. वल्लभदिग्विजय

'शुद्धाद्वैत' कहलाता है परन्तु उनके मत का आचरण-पक्ष पुष्टि मार्ग (The Path of Divine Grace) के नाम से अभिहित किया जाता है। पुष्टि का अर्थ है 'पोषण' अथवा 'अनुग्रह'। यह पुष्टि चार प्रकार की है :

१. प्रवाहपुष्टि—संसार में रहते हुए भी भक्ति प्रवाह-रूप से हृदय में होती रहे।

२. मर्यादापुष्टि—संसार के सुखों से अपना हृदय खींचकर श्रीकृष्ण का गुण-गान।

३. पुष्टिपुष्टि—श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होने पर भी भक्ति की साधना अधिकाधिक होती रहे।

४. शुद्धपुष्टि—केवल प्रेम और अनुराग के आधार पर श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर हृदय में श्रीकृष्ण की अनुभूति हो। यह अनुभूति हृदय को श्रीकृष्ण का स्थान बना दे और गौ, गोप, यमुना आदि के सम्बन्ध में उसे श्रीकृष्णमय कर दे।[१]

उन्होंने 'शुद्धपुष्टि' को ही अपने मत का चरम लक्ष्य माना है। इसके अनुसार जीव का राधाकृष्ण के साथ गोलोक में निवास पा जाना ही वे सार्थक समझते हैं। 'वल्लभ-दिग्विजय' के अनुसार वल्लभाचार्यजी ने चौरासी ग्रन्थों की रचना की।[२] परन्तु सम्प्रदाय में तीस से अधिक ग्रन्थ नहीं मिलते।

वैष्णवधर्म के आचार्यों में वल्लभाचार्य ने हिन्दी-साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित किया। आगे चलकर महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुयायी पुष्टिमार्गीय अष्टछापी भक्त-कवियों ने हिन्दी-साहित्य के भण्डार में अक्षय वृद्धि की।

राधावल्लभ सम्प्रदाय

हितहरिवंशजी (१५०२-१५५२ ई०)[3] पहले मध्वसम्प्रदायी थे। कुछ समय के उपरान्त वे निम्बार्क स्वामी की श्रीकृष्णभक्ति-पद्धति का अनुसरण करने लगे। कहा जाता है कि जगन्माता राधा ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिए। अतः उन्हींके उपासक बन गए और वृन्दावन में आकर राधावल्लभ का एक मन्दिर बनवाया। उन्होंने ज्ञान और कर्म के साधनों का खण्डन कर प्रेमभक्ति-मार्ग का प्रचार किया तथा युगल-स्वरूप उपासना पर विशेष बल दिया। पूर्व वैष्णव आचार्यों की भांति वेदान्त का आधार लेकर उन्होंने किसी मत या वाद का प्रतिपादन नहीं किया।

विधि-निषेध का त्याग, राधाचरण की प्रधानता, कुंज-केलिरत दम्पति की खवासी, कैंकर्य एवं सख्य-भाव, अनन्य दास-भाव तथा महाप्रसाद की निष्ठा आदि इस सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताएं हैं।[४]

हितहरिवंशजी के लिखे हुए ग्रन्थ हैं—'राधासुधानिधि' और 'श्रीहितचतुराशी'।

---

१. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३०४

२. वल्लभदिग्विजय, पृष्ठ ५६

३. राधावल्लभसम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १२४

४. भक्तमाल, भक्तिसुधा-रसस्वाद-तिलक-रूपकला, नाभादास, पृष्ठ ६०५

राधावल्लभीय सम्प्रदाय ने भी आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में माधुर्य भाव को उस चरम स्थिति पर पहुंचा दिया कि जिसके प्रति लौकिक दृष्टि रखनेवालों ने निस्संकोच कलुषित वासना की अभिव्यक्ति की और भगवान राधाकृष्ण का तो केवल नाम-भर रह गया और कामुक नायक-नायिकाओं की केलि के स्फुट चित्र साहित्य में उभर आए। रीति-कालीन साहित्य इन्हीं मधुर सम्प्रदायों के अवपतित रूप की परिणति है।

चैतन्यसम्प्रदाय

श्री चैतन्य (१४८५-१५३३)[1] ने कोई सिद्धान्त तथा साधन-सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं लिखा। वैष्णवाचार्य अपने सिद्धान्तों को चलाने से पूर्व प्रायः 'प्रस्थानत्रयी' अथवा ब्रह्म-सूत्रों पर भाष्य लिखकर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया करते थे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उक्त प्रथा का पालन नहीं किया। आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी ईसवी के आरम्भ में बलदेव विद्याभूषण नामक विद्वान भक्त ने सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रों पर 'विन्दभाष्य' लिखा। परिणामस्वरूप 'चैतन्यसम्प्रदाय' 'अचिंत्य भेदाभेदवादी' सम्प्रदाय कहलाने लगा। उन्होंने भक्ति के विधि-विधान और बाह्य रूप को गौण स्थान देकर भाव-पक्ष पर विशेष बल दिया। भावात्मक कीर्तन द्वारा जनता को आकृष्ट किया। महा-प्रभु ने अपने छः शिष्यों को प्रचार के लिए वृन्दावन भेजा। उनमें से श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी और श्री जीव गोस्वामी मुख्य रूप से प्रचार-कार्य करते थे। इन तीनों भक्तों का उल्लेख 'भक्तमाल' में नाभादासजी ने भी किया है।[2] रूप गोस्वामी ने 'लघु भागवतामृतभक्ति', 'रसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थों की रचना की। अन्तिम दोनों ग्रन्थों में भक्ति के भाव और उसके रस का बहुत ही विशद वर्णन है। काव्यगत रसशास्त्र की परिपाटी पर भक्ति के विविध भावों का सविस्तार वर्णन करने वाले कदाचित् ये ही दो प्रथम ग्रन्थ हैं।

इस सम्प्रदाय के अनुसार जो 'परमतत्त्व' है वही अनन्त शक्ति से युक्त और अनादि है। उसकी शक्ति अचिन्त्य है। शक्ति का प्राकट्य होने पर उसे भगवान कहते हैं अन्यथा वह 'ब्रह्म' कहलाता है। जब उसकी शक्ति का कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव होता है तो परमात्मा कहलाता है।[3] 'लघुभागवतामृत' के आधार पर 'परब्रह्म' के तीन रूप हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मकरूप तथा आवेशरूप।[4] इन तीनों में कृष्ण ही हैं। कृष्ण के भी तीन रूप हैं—द्वारिका-रूप, मथुरा-रूप तथा ब्रजलीला-रूप।[5] भगवान के अवतार भी

१. कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया सीरीज़, भाग २, पृ० १३१

२. भक्तमाल, भक्तिसुधारस-स्वाद-तिलक-रूपकला, छन्द ९३, पृ० ६१६

३. विदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते। ९४, लघु० भा०, पृष्ठ १५८

४. लघुभागवतामृत, श्लोक ११, पृष्ठ ९, वेंकटेश्वर प्रेस

५. अतिधामत्रये कृष्णो विहरत्येव सर्वदा। तत्रापि गोकुले तस्य माधुरी सर्वतोऽधिका॥
—लघुभागवतामृत, पृष्ठ २५४

तीन माने गए हैं--पुरुषावतार, गुणावतार, तथा लीलावतार।[1] भगवान की तीन शक्तियां मानी गई हैं—अंतरंग शक्ति, बहिरंग शक्ति तथा तटस्थ शक्ति। माया दो प्रकार की मानी गई है—द्रव्य-माया तथा गुण-माया, जोकि क्रमशः जगत् का उपादान तथा निमित्त-कारण होती है। जीव को अनुरूप और नित्य माना जाता है। मुक्ति भक्ति के द्वारा ही होती है। उनके अनुयायी उन्हें कृष्ण का अवतार मानते हैं तथा गौरांग अथवा गौरचन्द्र के नाम से पुकारते हैं। उनकी भावमयी गोलोक-लीला चार भावों से सम्बन्ध रखती है, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य। इन्हीं चार भावों का सामंजस्य प्रेमभक्ति है। कीर्तन करते हुए वे कहते थे—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे, भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।[2]

चैतन्य-मत की माधुर्य-भावना ने आगे चलकर हिन्दी के भक्ति-साहित्य को बहुत ही प्रभावित किया।

हरिदासी या सखीसम्प्रदाय

सखीसम्प्रदाय भी वल्लभसम्प्रदाय की भांति प्रारम्भ में भक्ति का एक साधन-मार्ग था, किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादक न था। उसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास-जी थे।

'भक्तमाल' के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उनका नाम 'आसधीर' था तथा उनकी छाप 'रसिक' थी। वे सखी-भाव से राधाकृष्ण की उपासना किया करते थे।[3] संगीत-कला में निपुण होने के कारण ख्यातिलब्ध पुरुष थे। कहा जाता है कि अकबरी दर-बार के प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन उन्हींके शिष्य थे।

स्वामी हरिदासजी ने व्रजभाषा में 'साधारण सिद्धान्त' तथा 'रास के पद' नामक दो ग्रन्थ बनाए। भक्ति-भाव का तो इन ग्रन्थों में प्रतिपादन हुआ ही है साथ ही साथ काव्य-सौष्ठव भी दर्शनीय है। उन्होंने किसी दार्शनिक वाद का प्रतिपादन नहीं किया। राधा-कृष्ण की उपासना का केवल सखी-भाव से प्रचार किया। स्वामी हरिदासजी का ही बनवाया हुआ इस सम्प्रदाय का 'बांकेबिहारीजी' का मन्दिर वृन्दावन में आज भी प्रसिद्ध है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह मत निम्बार्क मत से मिलने-जुलने के कारण उसीके अन्तर्गत माना जाता था, परन्तु अब उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसमें भक्ति-भावना पर विशेष बल दिया गया है। सत्य तो यह है कि भावुक कलाकार से हमें दार्शनिक वादों की आशा भी नहीं करनी चाहिए। आगे चलकर इस सम्प्रदाय की दो शाखाएं हो गईं—एक तो स्वसुखी शाखा और दूसरी तत्सुखी शाखा।

---

१. लघुभागवतामृत, श्लोक २३, पृष्ठ १७
२. श्री चैतन्य-चरितावली, भाग ५, पृष्ठ २५७
३. भक्तमाल, भक्तिसुधा-रसवाद-तिलक-रूपकला, नाभादास, पृष्ठ ६०७

भक्ति-भावापन्न इस सखी अथवा हरिदासीसम्प्रदाय ने भी हिन्दी के भक्ति-साहित्य को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। भारतीय भक्ति-साधना की ये विविध धाराएं समय-समय पर भक्ति-क्षेत्र को अनवरत रूप से सिंचित करती रहीं और परवर्ती भावुक कवियों की भाव-भूमि को उर्वर बनाती रहीं। उपर्युक्त भक्ति-साधना के कतिपय प्रमुख सम्प्रदायों के संक्षिप्त उल्लेख का उद्देश्य यही है कि आचार्य केशव भी अपनी भक्ति-भावना एवं रसिकता के लिए अपने इन पूर्ववर्ती भक्ति-सम्प्रदायाचार्यों, तत् तत् परम्पराओं तथा भावुक भक्त कवियों के ऋणी हैं।

तत्कालीन समाज और संस्कृति का केशव के काव्य में प्रतिबिम्ब

कवि की कला का स्वरूप उसकी परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर है। अपने चारों ओर के वातावरण का कवि की कला और उसके आदर्श पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है।[1]

(क) राजनीतिक

केशव का जीवन राजदरबारों में व्यतीत हुआ। 'रामचन्द्रिका' में राम के चरित्र-चित्रण पर तत्कालीन राजाओं की जीवनचर्या का पूरा-पूरा प्रभाव है। सीता को प्रसन्न करने के लिए वे धर्म-मर्यादा का ध्यान ही नहीं रखते। वन में चलते-चलते थक जाने पर अपने अंचल से सीता की हवा करते हैं और बीच-बीच में सीता 'चंचल चारु दृगंचल' से कटाक्ष करती हैं। राम केशवयुगीन राजाओं की भांति कभी अस्त्रशाला एवं शृंगारशाला का निरीक्षण करते हैं, तो कभी सजधजकर शिकार खेलने जाते हैं, तथा कभी रनिवास में स्त्रियों की जलक्रीड़ा देखते हैं तो कभी सीता की दासियों का 'नखशिख' सुनकर आनन्द लेते हैं।

दरबारी वातावरण से प्रभावित होकर ही केशवदास ने राजा दशरथ के दरबार में आनेवाले व्यक्तियों को मूर्तिधारी 'भोगविलास' बतलाया है।[2] पशुओं के मल्लयुद्ध की चर्चा तथा नटों की कलाबाजी का उल्लेख भी किया है।[3]

राजा जनक के दरबार पर भी केशवकालीन दरबारों का प्रभाव स्पष्ट है।[4]

रावण के शयनगृह का वर्णन करते हुए केशव लिखते हैं—

पियै एक हाला, गुहै एक माला।
बनी एक बाला, नचै चित्रशाला।
कहूं कोकिला कोक की कारिका कों।
पढ़ावै सुवा लै सुकी सारिका कों।।[5]

---

१. गुप्तजी की कला, डा० सत्येन्द्र, पृष्ठ १५
२. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द १
३. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द ३
४. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १६
५. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ५१

शयनागार का भव्य चित्र देखिए—

फूलन के विविध हार, घुरिलनि उरमति उदार।
बिच-बिच मनिस्याम हार, उपमा सुक भाषी।
जीत्यो सब जगत जानि, तुम सों हरि हार मानि।
मनहुँ मदन निज धनु तें गुन उतारि राखी॥
जल, थल, फल, फूल भरि, अम्बर पटवास धरि।
स्वच्छ जक्ष कर्दम हिय देवन अभिलाषे।
कुंकुम मेदोजबादि, मृग-मद करपूर आदि।
बीरा बनितन बनाइ, भाजन भरि राखे॥[1]

केशव का राजनीति-सम्बन्धी ज्ञान 'रामचन्द्रिका' एवं 'वीरसिंहदेवचरित' में पाया जाता है।[2] केशवदासजी ने अनेक राजाओं का उत्थान-पतन देखा और उनके कारणों की मीमांसा भी की थी। मनन, अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर उन्होंने राजाओं के गुण, राजधर्म एवं राजनीति आदि का सविस्तार वर्णन किया है।

(ख) सामाजिक

केशव के समय तक समाज का नैतिक पतन हो चुका था। राजवर्ग वैभव एवं विलास में तल्लीन था, तो प्रजावर्ग जीवन की अनेक विभीषिकाओं से आक्रान्त था। सबसे दयनीय दशा चिरशोषित श्रमिकवर्ग की थी। उसके पसीने की कमाई सामन्तों के चषकों, नर्तकियों और वेश्याओं के सुकुमार हाथों में बहुमूल्य मदिरा बनकर लुटा करती थी—

सुन्दरता पय पावक जावक पीक हियें नखचन्दन ये हैं।
चन्दन चित्र सुधा विष अंजन, टूटि सबै मणिहार गए हैं।
'केसव' नैननि नींद गई मदिरा-मद घूमत मोद भए हैं।
केलिकै नागर-नागरी प्रात उजागर-सागर भेष भए हैं॥[3]

यह मुग्धा नायिका के सुरतांत का चित्रण है। नायक और नायिका 'उजागर' सागर के रूप में चित्रित किए गए हैं। 'रामचन्द्रिका' में राजश्री की निन्दा के बहाने तत्कालीन राजाओं का ही परोक्ष रूप से चित्रण किया है। वे लिखते हैं कि राजाओं की दृष्टि पारलौकिक जगत् की अपेक्षा लौकिक जगत् पर अधिक थी—

जद्यपि है अति उज्जल दृष्टि, तदपि सृजति रागन की सृष्टि।[4]

उनकी स्फूर्ति मद्यपान में ही थी तथा चातुर्य परस्त्रीगमन में—

---

१. रामचन्द्रिका, उन्तीसवां प्रकाश, छन्द २३
२. रामचन्द्रिका उन्तीसवां प्रकाश, छन्द २६ से ३४ तक
वीरसिंहदेवचरित, तीसवां एवं इकत्तीसवां प्रकाश
३. रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४४
४. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द १८

पानविलास उदित आतुरी, परदारागमने चातुरी।[१]

उनके अभिमान की चरम सीमा भी देखिए—

दरसन दीबोई अतिदान, हंसि बोलै तौ बड़ सनमान।
जौ काहू सौं आपनो कहे, सपने कैसी पदवी लहै॥[२]

राजवर्ग के अतिरिक्त प्रजावर्ग का भी नैतिक पतन हो चुका था। वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न थी और व्यभिचार तथा पाखण्ड का बोलबाला था। दिल्ली नगर का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक 'विज्ञानगीता' में केशव ने लिखा है कि वहां ऐसे लोगों का प्राधान्य था जोकि सदाचार को भूल चुके थे।[3]

काशी के नागरिकों का भी एक चित्र देखिए—

मारत राह उछाहनि सों पुर दाहत माह अन्हात उचारैं।
वारिविलासिनि सों मिलि पीवत मद्य अनोदिक के प्रतिपारैं॥
चोरी करैं बिभिचार करैं पुनि केशव वस्तु विचारि विचारैं।
जो निसिवासर काशीपुरी महँ मेरेई लोग अनेक विहारैं॥[४]

प्रत्येक वर्ग को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ध्यान न था।

शूद्र ज्यौं सब रहत हैं द्विज धर्म कर्म कराल।
नारि जारनि लीन भर्तनि छांड़िके इहि काल॥
दम्भ सों नर करत पूजन न्हान दान विधान।
विष्णु छांड़त शक्ति भूषण पूजनीय प्रमान॥
ब्राह्मण बेचत वेदनि को सुमलेच्छ महीप की सेव करैं जू।
क्षत्रिय छांड़त हैं परजा अपराध बिना द्विज वृत्ति हरैं जू॥
छांड़ि दयो क्रय-विक्रय वैश्यनि क्षत्रिन ज्यौं हथियार धरैं जू।
पूजत शूद्र सिला धनु चौरति चित्त में राजनि को न डरैं जू॥[५]

इसके अतिरिक्त मन्दिरों के पुजारियों के भ्रष्टाचार के रोमांचक चित्र भी 'रामचन्द्रिका' में पाए जाते हैं।[६]

(ग) धार्मिक

केशव अपने पूर्व से चली आती समस्त धार्मिक चेतना से अवगत थे। सगुण एवं निर्गुण दोनों पद्धतियों से उनका पूरा परिचय था। उनपर अद्वैतवाद की गहरी छाप थी जिसका विवेचन अगले परिच्छेद में होगा। साथ ही रामानुजसम्प्रदाय की रामभक्ति-

---

१. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द ३५
२. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द ३७
३. विज्ञानगीता, तीसरा प्रभाव, छन्द ३
४. विज्ञानगीता, पांचवां प्रभाव, छन्द २०
५. विज्ञानगीता, सातवां प्रभाव, छन्द १२-१३
६. रामचन्द्रिका, चौंतीसवां प्रकाश, छन्द १९, २० तथा २५

ावना की उनपर गहरी छाप थी जो 'रामचन्द्रिका' में यत्र-तत्र आविर्भूत हुई है। मुक्ति-ार्ग का सरल साधन रामगुण-गान है——

भलौ बुरौ न तू गुनै। वृथा कथा कहै सुनै।
न राम देव गाइहै। न देवलोक पाइहै।[1]

इसी प्रकार अग्नि-परीक्षण के प्रसंग में भी केशवदासजी 'हुताशन'-स्थित सीता को इस प्रकार देखते है जैसे उनके हृदय के मध्य में राम की भक्ति बरसती है—

ज्यों रघुनाथ तिहारिय भक्ति लसै उर 'केशव' के सुभ गीता।
त्यों अवलोकिय आनन्दकन्द, हुतासन-मध्य सवासन सीता॥[2]

कृष्ण-भक्ति को लेकर संस्थापित विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने जिन 'प्रस्थान-त्रयी' नामक रचनाओं में अपने सिद्धान्त स्थिर किए उनमें से अधिकांश का अध्ययन केशव-दासजी ने किया था। रसिकप्रिया और कविप्रिया के उदाहरणों में राधाकृष्ण का जो रूप चित्रित है उसमें कृष्णभक्ति-शाखा के माधुर्य-भाव का दर्शन मिलता है।

(घ) सांस्कृतिक

केशव की कृतियों में भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं के साथ चरित्र पर विशेष बल दिया जाता है। वाल्मीकि रामायण में जब लक्ष्मणजी से सीताजी के केयूर तथा कुंडलों के सम्बन्ध में पूछा जाता है तो वे भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही उत्तर देते हैं—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्॥[3]

अर्थात् मैं केयूर तथा कुंडलों को तो नहीं जानता हूं, नित्यप्रति पैरों की वन्दना करने के कारण से केवल बिछुओं को ही जानता हूं। केशव ने भी 'रामचन्द्रिका' में उसी भारतीय संस्कृति का अनुसरण किया है। रावण-हनुमान-संवाद में जब रावण अनेक प्रश्न करता है तो हनुमानजी उनका मुंहतोड़ उत्तर देते हैं। वह प्रश्न करता है कि तुम किस प्रकार बांध लिए गए। तो वे भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही उत्तर देते हैं——

कैसे बंधायो ? जो सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखौं।[4]

भारतीय संस्कृति के अनुसार राजा, गुरु एवं पिता की आज्ञा अनुल्लंघनीय है, अतः केशव कहते हैं—

दास होय पुत्र होय, शिष्य होय कोइ माइ।
सासना न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ॥[5]

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द १६
२. रामचन्द्रिका, वीसवां प्रकाश, छन्द ११
३. वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड
४. रामचन्द्रिका, चौदहवां प्रकाश, छन्द १
५. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द ६

भारतीय संस्कृति में पत्नी के लिए पति की सेवा, धर्म, कर्म सबसे ऊपर बतलाई गई है; केशव भी ऐसा ही आदेश देते हैं :—

धर्म कर्म सब निष्फल देवा।
होंहि एक फल के पति सेवा॥[1]

हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियां एवं केशव

(क) आदिकालीन परिस्थितियां

केशव से पूर्व हिन्दी-साहित्य अपने विकास की कई शताब्दियां पार कर चुका था। ऐतिहासिक क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच अनेक प्रवृत्तियां उदय और अस्त हो चुकी थां। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल अपभ्रंश के रूपों और विधानों को क्रमशः विदा देकर अथवा रूपांतरित करके नवीन प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हो रहा था। बौद्धधर्म की वैराग्यमया करुणा, शान्ति और शून्यता पीछे के युगों में सरस भावों से संपृक्त होने लगी थी। स्वयं बुद्ध के जीवन के विषय में सरस कल्पनाओं की सृष्टि हुई। शून्यता सरस हो उठी। बौद्ध-धर्म की शून्यता में निराकार ब्रह्म की स्थापना हुई। अवतारवाद जातक कथाओं से अनु-प्रेरित होकर आनन्द और सौन्दर्य की नवीन सरणियां उत्पन्न करने लगा। अपभ्रंश को प्रबन्ध एवं मुक्तक परम्पराओं में से नीति, वैराग्य, योग तथा तन्त्र से अन्वित सरस श्रृंगार-परक मुक्तकों की परम्परा सिद्धों की वाणी में परिणति पा रही थी। सरहपा, कण्हपा प्रभृति सिद्ध 'संध्याभाषा' के माध्यम से जनमानस को प्रभावित करने लगे। प्रच्छन्न बौद्ध-साहित्य के रूप में जो सिद्ध-साहित्य पल्लवित हुआ वह जन-जीवन में पूर्ण आश्रय न पाकर देश के बौद्ध-प्रभावित पूर्वी क्षेत्रों में अथवा विदेशों में ही स्थान पा सका। तन्त्र-योगपरक यह श्रृंगार-चेतना पीछे वैष्णवीय सांचे में ढल गई। देश के पूर्वी भाग 'माधुर्य' से अभिसिंचित हो गए। जहां एक ओर इस रस-चेतना का संबंध धर्म से हुआ और मंदिरा में अवतार तथा जातक के कथानकों का अंकन हुआ, वहां दूसरी ओर इसका प्रयाग सौन्दर्य के मधुर आस्वादन के लिए हुआ। सुन्दरियों के लीला-कटाक्षों तथा विलास-केलियों का चित्रण ललित कलाओं में हुआ। ललित कलाओं में नायक-नायिकाओं के अनेक रूप, उनके लीला-विलासों, स्थान-विहारों, आनन्दपूर्ण अवसरों का आलेखन होने लगा। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में श्रृंगाररस को प्रधानता मिली। यही नहीं, कामतत्त्व के साथ श्रृंगार की एकात्मकता मान्य हुई। कहीं-कहीं कुरुचि और वासना की गंध भी मिलने लगी। संस्कृत-काव्यशास्त्र की दीर्घ परम्परा में प्रयुक्त प्राकृत और अपभ्रंश के श्रृंगारा पद्य उदाहरण-रूप में प्रयुक्त हुए। इन उदाहरणों में वर्णित राधाकृष्ण की नायक-नायिका-परक रूप-भंगियों और श्रृंगार-चेष्टाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों से अनुप्राणित हाकर यह श्रृंगार-धारा एक ओर जयदेव के गीतों में आप्लावित होने लगी, दूसरी ओर परम

---

१. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द १४

वैष्णव रूप गोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' की आभा के रूप में विकीर्ण होने लगी। 'मैथिल-कोकिल' की कूक में भी यही सूत्र झंकृत था। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की एक बलवती प्रवृत्ति के रूप में यह शृंगार-चेतना आगे के युगों को भी प्रभावित करती दृष्टिगत होती है। हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों में शुद्ध वैष्णवीय रूप में तथा केशव के काव्य-शास्त्राश्रित शृंगार के रूप में इस धारा की परिणति हुई।

आदिकाल की दूसरी प्रवृत्ति वीर-पूजा से संबंधित है। अपभ्रंश की चरित-प्रबंध-धारा समय की शिला के नीचे कुछ काल के लिए लुप्तप्राय हो गई थी। जब युद्धप्रिय राज-पूतों के चरित्र अपनी वीरता, शरणागतवत्सलता, दानवीरता तथा धर्मवीरता के कारण जनता का ध्यान आकर्षित करने लगे तो चरित-प्रबंध-धारा वीरगाथा के रूप में फिर प्रकट हुई। जनता में संस्कार-रूप से व्याप्त वीर-पूजा की भावना जाग उठी। जैन मुनियों अथवा सिद्धों का युग बीत चुका था। राजनीतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमण और राष्ट्र के विच्छिन्न अंगों के सत्ताभिमान ने जहां देश की एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया, वहीं वीरता के अनेक क्षेत्रों का भी उद्घाटन किया। वीर-गीतों में लोक-मानस अभिव्यक्त होने लगा तथा रासो में कवि-मानस। लोक में चाहे रासो की प्रियता समाप्त हो गई हो, पर वीरगीत उतनी ही रुचि और उतने ही उत्साह से आज भी गाए जाते हैं। जब मुसलमान के सामने राजपूत की तलवार झुक गई तो उक्त वीर-प्रवृत्ति को फिर धक्का लगा। वीर-गाथाएं प्रेमगाथाओं में बदलने लगीं, जिनका बीज हमें 'बीसलदेवरासो' में उपलब्ध होता है। वीरता का क्षेत्र युद्ध नहीं प्रेम हो गया। जब मुगलकाल में मध्ययुग के प्रथम प्रहर के आतंक, निराशा, संघर्ष आदि शान्ति एवं सुरक्षा की धारा में निमज्जित हुए, तब एक ओर यह प्रबन्ध-धारा धर्म और भक्ति से समन्वित होकर अलौकिक चरित्रों की गाथाओं में परिणत हुई, और दूसरी ओर राजपूत राजाओं और सामन्तों की गाथाओं के रूप में। उच्च राजसी जीवन समस्त भौतिक साधनों से पुष्ट होकर विलास-विह्वल हो उठा। इस उच्च राजसी स्तर के नीचे सामन्त और सरदारों की जीवन-धारा थी। इस धारा को ठाट-बाट, विलास-वैभव में उच्च राजसी जीवन की धारा से होड़ थी। ओरछा-राज्य का संबंध राजसी जीवन के इसी स्तर से था। 'वीरसिंहदेवचरित' और 'रतनबावनी' इसी जीवन के दो पराक्रमी प्रतिनिधियों की यशोगाथाएं हैं। मुगल बादशाहों की सहिष्णुता और न्याय-प्रियता ने धर्म-भेद की खाई को लगभग पाट दिया। उनकी न्यायप्रियता हिन्दी-कवियों का ध्यान भी आकर्षित करने लगी। इसका प्रमाण केशवकृत 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' है। भक्त कवियों की दृष्टि में 'प्राकृत-जन-गुनगान'[1] प्रतिभा का तिरस्कार है। अतः केशव के युग में भी इस चरित-प्रबंध-धारा को विशेष लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई और पीछे भी इसकी कोई सबल परम्परा स्थापित नहीं हुई। अमीर खुसरो की प्रवृत्ति भी अपना क्रम और प्रभाव आगे स्थापित नहीं कर सकी।

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, छन्द ७

(ख) भक्तिकालीन प्रवृत्तियां

जहां तक भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रश्न है, गोरखनाथ के योग, वेदान्त के अद्वैत और रामानन्द की भक्ति से समन्वित निर्गुण-धारा निम्नवर्गीय आन्दोलन और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के आदर्शों को लेकर चली। दूसरी ओर सूफी प्रेम-साधना से निर्गुण-धारा संपृक्त हुई। लौकिक सौन्दर्य-चेतना और शृंगार-भावना अलौकिक होने लगी। योग और वैराग्य के कगारों के बीच बहती हुई अलौकिक प्रेम-शृंगार-धारा निर्गुण के सागर में समाहित हुई। केशव की 'विज्ञानगीता' पर निर्गुण-विचारधारा का प्रभाव देखा जा सकता है। पर शांकर अद्वैत का ही सीधा प्रभाव केशव पर मानना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि निर्गुण-भक्ति के अन्य प्रभावों से केशव मुक्त हैं। सगुण-भक्तिकाल में कवियों ने इस धारा को भक्ति से अनुप्राणित करके सगुणोन्मुख किया। वैधी-भक्ति-समन्वित मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित्र को तुलसी की प्रतिभा ने उभारा। केशव को भी इस चरित्र ने आकर्षित किया। पर 'रामचन्द्रिका' में भक्ति के मार्मिक स्थलों पर कवि की वृत्ति उतनी नहीं रमी जितनी सामन्तीय जीवन के ठाट-बाट, मनोरंजन, उद्यान-विहार और राजप्रासादों की क्रीड़ाओं के अंकन में। इसी वातावरण से केशव का निजी संबंध था। कृष्णभक्ति-शाखा में भावावेश की चरमावस्था है। दिव्य भावानुकूल कृष्ण-लीलाओं की समाधि-सहज अनुभूति में साहित्य विभोर हो उठा। फलतः भाव-वस्तु को प्राधान्य मिला, शैली-रीति अपेक्षाकृत गौण रही। इस मधुर उज्ज्वल शृंगार की पृष्ठभूमि में संस्कृत का वैष्णव भक्ति-साहित्य है। केशव में हमें इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया मिलती है। शैली-रीति का समर्थन काव्यशास्त्रों के गहन अध्ययन का परिणाम था। राधाकृष्ण के विलासों को लोक-भूमिका पर सजाने में भी संस्कृत-काव्यशास्त्र के राधा-कृष्ण-गोपबन्धुओं के माध्यम से वर्णित नायक-नायिका-निरूपण सहायक हुआ।

भक्तिकालीन कृष्ण का ईश्वरत्व तिरोहित हुआ और दूती, सखी, मान, मिलन आदि के मांसल चित्रणों से वह समन्वित हुआ। साहित्यशास्त्र, मांसल सौन्दर्य, अलंकार-विधान और शृंगार के रसराजत्व के सम्मिलित रूप ने रीतिकाल का रूप ग्रहण किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव से पूर्व की साहित्यिक प्रवृत्तियों ने कहीं कवि को प्रभावित किया तो कहीं प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित।

संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा एवं केशव

हिन्दी-साहित्य की भांति संस्कृत-साहित्य का भी प्रभाव केशव पर पड़ा। केशव से पूर्व संस्कृत में अनेक सम्प्रदाय स्थापित हो चुके थे। काव्य की आत्मा क्या होनी चाहिए, यही विचारणीय प्रश्न था। प्रायः आचार्यों का प्रयत्न पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का विश्लेषण तथा उसका खण्डन कर अपना नवीन मत स्थापित करना है। उन्होंने अपने सिद्धांतों का विस्तार से भाष्य भी किया। परन्तु सबसे बड़ी विशेषता यही रही कि कोई भी सम्प्रदाय पूर्ववर्ती आचार्यों के पूर्ण विरोधी-रूप में नहीं खड़ा किया गया। संस्कृत-साहित्य में निम्नलिखित सम्प्रदाय प्रचलित हुए—

सम्प्रदाय	प्रवर्तक
१. रससम्प्रदाय	भरतमुनि
२. अलंकारसम्प्रदाय	भामह
३. रीतिसम्प्रदाय	वामन
४. ध्वनिसम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
५. वक्रोक्तिसम्प्रदाय	आचार्य कुन्तक

रससम्प्रदाय

रससम्प्रदाय सबसे प्राचीन सम्प्रदाय माना जाता है। इसके सर्वप्रथम व्याख्याता नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि भरतमुनि से पूर्व लोग रस से अपरिचित थे, जनश्रुति तो नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानती है।

भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[1] इस सूत्र को लेकर रसानुभूति के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने गम्भीर विवेचना की, परन्तु इन आचार्यों में अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही सर्वमान्य हुआ।

स्थायीभाव और विभावादि में वस्तुतः व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है उसीके अलौकिक विभावन-व्यापार अर्थात् साधारणीकरण द्वारा सामाजिकों की वासना जागरित हो जाती है, वही रस की अभिव्यक्ति है। अभिनवगुप्त द्वारा रस-सिद्धांत इस प्रकार पूर्ण प्रतिपादित होकर काव्य और नाटक दोनों क्षेत्रों में प्रचलित हुआ। तदनन्तर भानुदत्त ने 'रसमंजरी' में, विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में रस का प्रतिपादन किया। विश्वनाथ ने तो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[2] कहकर रस को काव्य की आत्मा घोषित किया। आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि?'[3] में रस का नाम तो नहीं लिया परन्तु उन्होंने रस-ध्वनि को ही 'उत्तम काव्य' बतलाया। इसी प्रकार केशव के परवर्ती पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[4] में रस शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु 'रमणीय' शब्द से रस स्पष्ट व्यंजित होता है। कुछ आचार्यों ने शृंगार को रसराजत्व प्रदान कर उसके भेद, उपभेद कर नायक-नायिकाओं के ऊपर विस्तारपूर्वक लिखा। आगे चलकर रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति-रस का प्रतिपादन किया। इस रस को उन्होंने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भागों में विभाजित किया, परन्तु ये सभी भाव केवल कृष्ण के लिए ही माने गए

---

१. भरतनाट्यशास्त्र, षष्ठम अध्याय, श्लोक ३२ की वृत्ति
२. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, सूत्र ३
३. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, पृ० ३
४. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ४

केशव की 'रसिकप्रिया' में इस सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

ंकारसम्प्रदाय

रससम्प्रदाय की भांति अलंकारसम्प्रदाय का भी बीज भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। इस ग्रंथ में केवल उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक का उल्लेख है। पर सुव्य-ःथत एवं वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित करनेवाला सबसे पहला ग्रंथ भामह का 'काव्या-ार' है। भामह का यह ग्रंथ इतना सुव्यवस्थित है कि इसे प्रथम ग्रंथ मानने में आश्चर्य ा है। निस्सन्देह इससे पूर्व अलंकार-परम्परा अवश्य थी। स्वयं भामह ने भी मेधाविन दि का सादर उल्लेख किया है। भामह ने अलंकारों की संख्या अड़तीस मानी है। होंने अलंकारों को ही काव्य का प्रधान अंग माना है। उन्होंने रस और भाव का स्वतन्त्र स्तत्व न मानकर उनका 'रसवत्', 'ऊर्जस्वित' आदि अलंकारों में ही अन्तर्भाव किया है। होंने अलंकार का भी प्राण वक्रोक्ति को माना।

भामह के उपरान्त दूसरे आचार्य दण्डी हुए। अलंकार की परिभाषा देते हुए वे ने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में लिखते हैं—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।[1]

दण्डी ने अलंकारों की संख्या पैंतीस मानी है। आचार्य दण्डी ने भामह की क्रोक्ति' के स्थान पर 'अतिशय' को अलंकार की आत्मा माना है। उक्त आचार्य के उप-न्त उद्भट ने 'अलंकारसारसंग्रह' की रचना की। उनका विवेचन भामह के सिद्धान्तों ही आधारित है। अलंकारशास्त्रियों में रुद्रट का स्थान सर्वप्रथम है। समन्वय भावना लिए हुए भी वे अलंकारसम्प्रदाय के अधिक समीप हैं। उन्होंने अलंकारों की ःया पचास से ऊपर मानी है। रुद्रट ने भामह आदि की भांति रसवत् आदि को अलं-र नहीं माना। भामह से रुद्रट तक का समय इस सम्प्रदाय का स्वर्णयुग कहा जा कता है।

आचार्य मम्मट ने अलंकारों को उचित गौरव देते हुए भी उनकी अनिवार्यता निषेध किया। उन्होंने अलंकारों की संख्या सत्तर मानी है। मम्मट के उपरान्त यक ने 'अलंकारसर्वस्व' की रचना की। अलंकारों के वर्गीकरण की दृष्टि से यह ग्रन्थ ह्त्वपूर्ण है। परवर्ती आचार्य कोई मौलिक योग तो न दे सके, परन्तु ध्वनि का सिंहा-ा हिलाने तथा अलंकार-साम्राज्य को संस्थापित करने का भरसक प्रयत्न रुय्यक, ाज, राजशेखर, जयदेव, विद्याधर आदि सभी विद्वानों ने किया। जयदेव ने मम्मट पर धा व्यंग्य करते हुए घोषणा की—

अङ्गीकरोति यः काव्यं, शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥[2]

---

१. काव्यादर्श, अंक १, पृष्ठ १
२. चन्द्रालोक, प्रथम अध्याय, छन्द ८

इन आचार्यों ने अलंकारों की संख्या तो बढ़ाई, परन्तु अलंकार का काव्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस बात पर गहरा विवेचन नहीं किया। इस दिशा में कुन्तल, रुय्यक तथा जयदेव ने प्रयत्न अवश्य किया परन्तु यह प्रयत्न अलंकारसम्प्रदाय की अपेक्षा वक्रोक्तिसम्प्रदाय के अधिक समीप बैठता है।

तात्पर्य यह है कि आचार्य केशव के पूर्व अलंकारसम्प्रदाय की संस्कृत-परम्परा साहित्यशास्त्र को बहुत कुछ दे चुकी थी। हिन्दी में संस्कृत-साहित्य के अलंकारों को लाने और उनके सफल समावेश की चेष्टा की जा रही थी। आचार्य केशव को उन चेष्टाशीलों में मूर्धन्य मानना चाहिए। 'कविप्रिया' संस्कृत-अलंकारसंप्रदाय और हिन्दी-अलंकार-शास्त्र को जोड़नेवाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

रीतिसम्प्रदाय

भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में रीति का स्पष्ट विवेचन तो नहीं किया परन्तु गुणों का विवेचन अवश्य किया है। भरत के उपरान्त भामह ने रीति को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने रीति के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया है। भामह के उपरान्त दण्डी यद्यपि अलंकारवादी थे तथापि उन्होंने गुणों को अधिक महत्त्व दिया है और इसीलिए उन्होंने दो मार्गों की चर्चा की है—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादशगुणाः स्मृता।
एषां विपर्ययः प्राणां दृश्यते गौडवर्त्मनि॥[1]

दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन् शब्दों का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि मार्गों की संख्या दो और गुणों की संख्या दस मानी है। यही मार्ग रीति नाम से अभिहित होते हैं। आचार्य वामन ने रीतिसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। उन्होंने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियों की सत्ता स्वीकार की—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। वैदर्भी में दस गुणों का समावेश रहता है। गौड़ी में ओज और कान्ति का, पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का। वामन के उपरान्त रुद्रट ने एक चौथी रीति 'लाटी' का आविष्कार किया। कुंतक ने देशानुसार रीति-विभाजन का तीव्र शब्दों में विरोध किया। रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना भी उन्होंने ठीक नहीं समझा। क्योंकि काव्य तो कवि-प्रतिभाजन्य हैं। कुंतक ने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का ही प्रयोग किया है। 'मार्गों' की रचना गुण के अनुसार सुकुमार और विचित्र—दो भेदों में विभाजित की गई है।

कुंतक के उपरान्त भोज ने मागधी और अवन्तिका दो नवीन रीतियों की उद्भावना करते हुए रीति की संख्या छः तक कर दी है। 'विशिष्टा पदरचना रीतिः।' और पद-रचना के इस वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणों के संश्लेषण पर आश्रित माना है।

हिन्दी में रीति को विशेष महत्त्व न मिला। केशव यद्यपि मुख्यतः अलंकारवादी नहीं थे किन्तु उनका सिद्धान्तवाक्य था—

---

१. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ४२

जदपि सुजाति सुलच्छना, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न विराजहीं, कविता बनिता मित्त ।।[१]

केशव ने रीति को अधिक महत्त्व नहीं दिया ।

ाक्रोक्तिसम्प्रदाय

यद्यपि वक्रोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तल ही थे, तथापि यह विचार-ारम्परा बहुत दिनों से मन्द वेग के साथ चली आ रही थी। वक्रोक्ति 'शब्द' दो अर्थों में ायवहृत होता है, एक अलंकार-विशेष के रूप में और दूसरा उक्ति की वक्रता अथवा ासाधारणता के रूप में। कुन्तल ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में लिया है। वाण, भामह, ण्डी एवं वामन ने भी वक्रोक्ति की चर्चा की, परन्तु इतने व्यापक अर्थ में नहीं जितने कि ;तल ने। भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को विचित्र शैली का रूप दिया। परवर्ती रुद्रट ादि आचार्यों ने वक्रोक्ति शब्दालंकार नहीं माना। केवल एक आचार्य वामन ने इसकी णना अलंकारों में की। आचार्य कुन्तल ने वक्रोक्ति को अलंकार मानने का सर्वथा खंडन कया है। प्रथम उन्मेष में वक्रोक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः।
उभावेतावलङ्कार्यौ: तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ।।[२]

इस प्रकार कुन्तल वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। द्वितीय, तृतीय एवं ातुर्थ उन्मेषों में क्रमशः काव्य-वैचित्र्य, 'वस्तु-वैचित्र्य तथा प्रकरण-वैचित्र्य की वक्रता पर ाचार किया गया है। पी० वी०काणे के अनुसार वक्रोक्ति को अलंकारशास्त्र की ही एक ाखा समझना चाहिए। उसे एक अलग पूर्ण सिद्धांत के रूप में सम्मानित नहीं होना ाहिए। क्योंकि स्वाभाविक उक्ति में भी यदाकदा रसात्मकता होती ही है। आगे चलकर ाय्यक का प्रयत्न सराहनीय रहा, क्योंकि उन्होंने कुन्तल के वक्रोक्ति-सिद्धान्तों को ही ानकर अलंकारों की परीक्षा की। केशव पर वक्रोक्तिसम्प्रदाय का कुछ प्रभाव स्वीकार कया जा सकता है। वे वक्रोक्ति को काव्य का प्राण तो नहीं मानते परन्तु उन्होंने इसका ालंकार-रूप में पदे-पदे प्रयोग किया है। केशव के सम्वादों में वक्रोक्ति भरी पड़ी है। अतः ाक्रोक्तिसम्प्रदाय का केशव पर अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

ावनिसम्प्रदाय

ध्वनिसम्प्रदाय के आचार्य 'ध्वनिकार' माने गए हैं और उनकी व्याख्या करने-ाले आनन्दवर्धन को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। यहां तक कुछ विद्वानों ने उन ानों को एक ही व्यक्ति माना है। ध्वनिकार से पूर्व भी ध्वनि-सिद्धान्त स्वीकृत था,

१. कविप्रिया, पांचवां प्रभाव, छन्द १
२. वक्रोक्ति जीवित, कुन्तक, प्रथम उन्मेष, श्लोक ६, १०

इसका प्रमाण ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही मिलता है।[1]

आनन्दवर्धन सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने ध्वनि को एक सार्वभौम एवं सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया। इस सिद्धांत पर पूर्णतया प्रकाश डालते हुए काव्य की आत्मा ध्वनि को माना। ध्वनि-सिद्धान्त ऐन्द्रिय आनन्द से उदासीन था। अलंकार एवं रीति-सिद्धान्त काव्य के कला-पक्ष को ही छूकर रह गए थे। 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि-सिद्धांत का प्रतिपादन तो किया ही गया, साथ ही रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष आदि को भी ध्वनि के अन्तर्गत माना गया है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के आधार पर काव्य की तीन श्रेणियां की गई है, ध्वनि-काव्य, गुणीभूत-काव्य और चित्र-काव्य। जिसमें अभिधेयार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो वह ध्वनि, जिसमें व्यंग्यार्थ गौण हो गया हो वह गुणीभूत व्यंग्य और जिसमें केवल-मात्र चमत्कार हो वह चित्र-काव्य कहलाता है। ध्वनि स्वयं वस्तु, अलंकार और रस तीन प्रकार की होती है। इन तीनों में रसध्वनि श्रेष्ठ है। इस सिद्धान्त में अभिनवगुप्त ने 'लोचन' की रचना करके महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस सिद्धान्त का विरोध भी हुआ। आनन्दवर्धन के उपरान्त भट्टनायक ने व्यंजना का विरोध करते हुए 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दो काव्य-शक्तियों की उद्भावना की। भट्टनायक के बाद कुन्तल और महिम भट्ट जैसे विद्वानों ने ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध किया। पूर्ववर्ती आचार्यों में मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि की विस्तृत विवेचना की और ध्वनि के भेद १०,४५५ माने। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'[2] कहकर ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व दिया। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रस-गंगाधर' नामक ग्रन्थ में विश्वनाथ का तीव्र विरोध किया। यद्यपि केशव ने इस सम्प्रदाय पर न तो कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रचा और न उसका कहीं स्पष्ट समर्थन ही किया; तथापि उनके काव्य में और विशेषतया संवादों में, ध्वनि-चमत्कार स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

---

१. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, छन्द १

२. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, सूत्र ३

चतुर्थ परिच्छेद

केशव का जीवन-दर्शन

जीवन-दर्शन का स्वरूप

प्राणी अपने जन्म के क्षण से ही इस नामरूपात्मक जगत् के सम्पर्क में आकर सुख-दुःखमयी नाना अनुभूतियों का संग्रह अथवा त्याग करने लगता है। ये अनुभूतियां उसे चर एवं अचर उभयात्मक जगत् से प्राप्त होती हैं और कालान्तर में बद्धमूल होकर संस्कारों एवं प्रवृत्तियों की धाराओं का निर्माण करती हैं। इन्हीं अनुभूतियों एवं तज्जन्य संस्कारों के आधार पर प्राणी जगत् के नामरूपों के प्रति अपने में बुरे-भले की भावनाओं का, उनके प्रति आकर्षण-विकर्षण का आरोप करने लगता है। प्राणीजगत् में मानव अधिक चेतनाशील, अधिक संवेदनशील, एवं अधिक ज्ञानवान होता है। दार्शनिक हमें बताते हैं कि उसके चैतन्य पर अज्ञान का आवरण अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक झीना और कम मलिन होता है। उसके आवरण में सत्य का प्रकाश अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसी कारण नामरूपात्मक जड़-चेतन जगत् के सम्पर्क से निष्पन्न होनेवाला उसका अनुभूत्यात्मक अन्तर्जगत् कहीं अधिक व्यापक होता है। अथवा यों कहिए—बहिर्जगत् के समान ही उसका यह अन्तर्जगत् भी विविध एवं अनन्त होता है। यह अनुभूतियों और तन्मूलक राग-द्वेष तक ही सीमित नहीं रह जाता, और भी आगे बढ़ता है। उसकी चेतना उसके ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ, उसकी विचार-शक्ति की परिपक्वता के साथ इस बहिर्जगत् एवं अन्तर्जगत् के रहस्य को समझने के लिए आगे बढ़ना चाहती है। यह क्या है ? और यह कैसे हुआ ? की जिज्ञासा का उसमें उदय होना स्वाभाविक है। वस्तुत: यह किमिदं ? और कथमिदम् ? की प्रश्नात्मिका शक्ति ही उसे अन्य प्राणि-वर्ग से अलग करती हैं। यह जिज्ञासा 'स्व' और 'स्वेतर' समस्त जगत् को उसकी चेतना के समक्ष एक प्रश्नचिह्न के रूप में ला रखती है। इस समस्त दृश्यमान एवं अनुभूयमान के भीतर किमिदं और कथमिदं की जिज्ञासा के साथ झांकने का ही नाम 'दर्शन' है। और कोई भी 'दर्शन' या 'ज्ञान' कितना ही वस्तुपरक क्यों न हो वह द्रष्टा के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी प्रभावित होता है। हमारे व्यक्तिगत ज्ञान-अज्ञान की सीमाएं हमारे 'दर्शन' की रूपरेखाएं खींचती हैं। इस व्यक्तिगत विशेषता के साथ मानवी बुद्धि 'जीवन-रहस्य' को क्या है और कैसे है की जिज्ञासा के साथ समझने का ही प्रयत्न नहीं करती वरन् एक पद और आगे बढ़कर 'कैसा' होना चाहिए (कीदृशं भवेत्) की कल्पना भी करती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का एक ही दृष्टिकोण बनता है जिसमें किमिदं, कथमिदं से लेकर कीदृशं भवेत् की कहानी

गुंथी रहती है। जीवन के प्रति व्यक्ति के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को हम 'जीवन-दर्शन' कहते हैं। वास्तव में इस जगत् में एक-दूसरे से परिचय पाने का सही अर्थ है उसके 'जीवन-दर्शन' को जानना, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को समझना।

केशव के ठीक-ठीक परिचय के लिए उनके जीवन-दर्शन का विश्लेषणात्मक पूर्ण अध्ययन अपेक्षित है। किन्तु हमारी सीमाएं हमें बाध्य करती हैं कि हम अन्य पक्षों के समान ही इस पक्ष पर भी अपने को सीमित करके ही चलें, तथा कुछ मोटे तथ्यों को जानकर ही काम निकालें। यदि दर्शन, भक्ति एवं धर्म के विषय में ही हमें उनके दृष्टिकोण का सामान्य बोध हो जाए तो भी हम उनके व्यक्तित्व के बहुत कुछ समीप पहुंच लेंगे।

दर्शन, भक्ति एवं धर्म का क्षेत्र

शास्त्रीय दृष्टि से यद्यपि दर्शन, भक्ति एवं धर्म तीनों का क्षेत्र अलग-अलग दिखाई पड़ता है तथापि वे एक सूत्र में अनुस्यूत हैं। दर्शन में 'बुद्धि' की तथा भक्ति में 'हृदय' की प्रधानता होती है। भक्ति एक व्यक्तिगत अनुभूति है। यही व्यक्तिगत साधना जब सामाजिक धरातल पर उतर आती है तब वह व्यक्तिगत-मात्र न रहकर लोकोन्मुखी हो जाती है। तब उसे हम 'धर्म' कहते हैं। लोक के दो पक्ष हैं, एक 'व्यवस्था' और दूसरा 'परम्परा'। सृष्टि के आदि से ही मानव ने विश्व में एक व्यवस्था पाई है, और उस महती व्यवस्था के पीछे उसने एक महती नैतिक शक्ति की कल्पना की है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म का साध्य नैतिक है और साध्य के धर्म में एक व्यवस्था है। अपने अनुरूप किन्तु अपने पूर्णतम रूप में साध्य की कल्पना करके अपने को उसके अनुरूप बनाना, मानव-जीवन की एक सुलभवृत्ति है। इससे विश्व में नैतिकता का प्रचार होता है। धर्म की नैतिकता का दूसरा पक्ष साधन है। यज्ञ और बलि, वर्ण-आश्रम, जाति-पांति के भेद, पूजा-पाठ, रोजा-नमाज़, मन्दिर-मस्जिद, दाढ़ी-चोटी, धोती-पाजामा, तीर्थ, देवी-देवता न जाने कितने रूपों में इस पक्ष का प्रस्फुटन होता है। व्यवस्था और परम्परा के विकास के साथ उनके समुन्नयन एवं अवनयन के साथ, धर्म का स्वरूप नाना रूपों में दिखाई पड़ता है। यह धर्म का समन्वित रूप है जिसका चक्षु 'दर्शन' है तथा भावोद्रेक भक्ति है। भारतीय जीवन-दर्शन में ज्ञान, उपासना एवं कर्मकाण्ड ये तीन क्षेत्र स्वीकार किए गए हैं। किन्तु भारतीय जीवन-दर्शन सामंजस्य का दृष्टिकोण लेकर ही चला है। दर्शन भावना से सजीव और कर्म से सक्रिय बनता है।

केशव का जीवन-दर्शन

आचार्य केशवदास के साहित्य में भी हमें दर्शन, भक्ति एवं धर्म तीनों का त्रिवेणी के दर्शन होते हैं। यह त्रिवेणी 'रामचन्द्रिका' एवं विशेषकर 'विज्ञानगीता' में प्रवाहित हुई है। केशव का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी है, अतः स्वस्थ भारतीय है। केशव न शंकर के समान दार्शनिक हैं, न तुलसी के समान भक्त, न वेदव्यास के समान धार्मिक। केशव का समस्त साहित्य एक आचार्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है और उनका आचार्य केवल काव्यशास्त्र का ही आचार्य नहीं दर्शनशास्त्र, भक्तिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र का भी

आचार्य है। 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'विज्ञानगीता' काव्य-साहित्य ही की सम्पत्ति हैं, तथापि केशव के आचार्यत्व के अन्य पक्ष भी मुखर हो उठे हैं। फिर भी केशव प्रथम आचार्य हैं पीछे कुछ और।

केशव का दर्शन, भक्ति एवं धर्म अध्ययन-प्रसूत है। यह नहीं कि शंकर के समान उनकी बुद्धि ने दार्शनिक सिद्धान्तों के नए द्वार खोले हों, और यह समझना भी भूल होगी कि केशव तुलसी के समान 'भीतर तक भीगे निपट भक्त' हों। अतः केशव का दर्शन और भक्ति स्वानुभूतिमूलक होने की अपेक्षा अध्ययन-प्रसूत ही अधिक है। अपनी ढलती अवस्था में भले ही उनके सिद्धान्त उनकी अपनी अनुभूति में उतरे हों। धार्मिक होने की अपेक्षा तो 'रसिक' रूप में वे अधिक प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः एक दरबारी कवि से इन सब क्षेत्रों में स्वानुभूति की आशा करनी भी नहीं चाहिए। किंतु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि इन विषयों से सम्बन्धित उनकी कविता में भावुकता न हो। 'रामचन्द्रिका' में ही अनेक स्थल ऐसे मिल जाएंगे जिनको अनुभूति की कसौटी पर कसकर कोई भी यह नहीं कह सकता कि उन स्थलों में एक भक्त की अनुभूति नहीं है। किन्तु ऐसे स्थलों के विषय में भी यही कहना अधिक संगत है कि 'भक्त' की भावुकता 'कवि' की भावुकता द्वारा लाई गई है। यह तो सभी जानते हैं कि कवि की भावुकता कितनी सशक्त होती है, कि कवि जो कुछ नहीं होता, नहीं बन सकता, उसकी भावुकता उसका भी विधान कर सकती है। पर चाहे स्वानुभूति का अभाव भले ही हो, उनके साहित्य की शास्त्रीय पृष्ठभूमि सुदृढ़ अध्ययन पर आधारित तथा सामंजस्यवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप है। हो सकता है केशव चाहे अपने कहे रास्ते पर स्वयं न चले हों, पर आप बेखटके उसपर चले जा सकते हैं।

तुलसी के समान केशव भी धार्मिक समन्वयवाद के पोषक थे। केशव की चिन्तन-भूमि भी अद्वैतवाद की है और तुलसी की अपेक्षा वह बहुत स्पष्ट है। कारण है, केशव का आचार्य तुलसी के आचार्य से अधिक मुखर है।

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के अनुसार एक ब्रह्म के अतिरिक्त किसीकी भी पृथक् सत्ता नहीं। ब्रह्म एक अद्वितीय, अखण्ड, निर्गुण, निर्विशेष सत्ता है, चैतन्य एवं आनन्द जिसका स्वरूप है। यह सत्ता अवाङ्मनसगोचर—'मन वाणी को अगम अगोचर' है। इसे प्रत्यक्ष चैतन्य या शुद्ध ब्रह्म कहा जा सकता है। 'माण्डूक्योपनिषद्' ने इसे सकल भेद-रहित 'तुरीय' कहा है। वास्तव में इस ससीम जगत् के पीछे एक असीम सत्ता की स्वीकृति प्रत्येक भारतीय आस्तिक दर्शन में मिलती है। नाम-भेद भले ही हो। यही शुद्ध ब्रह्म अज्ञान के सम्पर्क में आकर भिन्न-भिन्न रूपों में आता है। 'वेदान्तसार' के अनुसार शुद्ध चैतन्य का संयोग अज्ञान के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दो रूपों से होता है। जगत् की कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल तीन प्रकार की सत्ता हमारी तर्क-बुद्धि निश्चित करती है। अज्ञान की इन्हीं तीन स्थितियों के साथ एक ही चैतन्य सम्पृक्त होकर भिन्न-भिन्न नामरूपों को प्राप्त करता है। अतः जीव और जगत् के सभी भेद अज्ञान-प्रसूत एवं मिथ्या हैं। ईश्वर भी समष्टिगत सात्त्विक अज्ञान के

सम्पर्क में आए हुए शुद्ध चैतन्य का नाम है। इस प्रकार अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हमारे सामने आते हैं, निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म। सगुण ब्रह्म, जीव और जगत् के भेद सब अज्ञान के प्रपंच हैं। तब प्रश्न उठता है कि अज्ञान का स्वरूप क्या है ? अद्वैतवाद सत्ता को तीन रूप में समझाने का प्रयत्न करता है—

१. तात्त्विक या पारमार्थिक
२. व्यावहारिक
३. प्रातिभासिक

रस्सी में सर्प की, शुक्ति में चांदी की प्रतीयमान सत्ता तात्त्विक नहीं, प्रातिभासिक-मात्र है, जोकि रस्सी और शुक्ति के ज्ञान के साथ समाप्त हो जाती है। जगत् की सत्ता भी कुछ-कुछ ऐसी ही है। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक ही ईश्वर, जीव, जगत् के भेद हमारे ज्ञान में आते हैं। किन्तु मिथ्या ज्ञान की एक विशेषता है जो प्रत्येक भ्रमात्मक ज्ञान की होती है। जब तक हमें यह तत्त्व-बोध नहीं हो जाता कि यह वस्तुतः सर्प नहीं रस्सी है तब तक हमें सर्प का ज्ञान वास्तविक ही लगेगा। आत्म-बोध न होने तक जगत् हमारे लिए एक सत्य है। हम न उसकी सत्ता से इनकार कर सकते हैं न उसके द्वैत से। यह उसकी व्यावहारिक सत्ता है। इसी व्यावहारिक द्वैत में भक्ति का भी स्थान है। भक्ति बिना उपास्य-उपासक के द्वैत के चल नहीं सकती। अतः तात्त्विक दृष्टि से तो जब द्वैत मिथ्या है तो भक्ति भी अज्ञान की ही एक प्रसूति है किन्तु तत्त्वबोध तक, जैसाकि कहा गया है, द्वैत अनिवार्य है और इस व्यावहारिक सत्ता की मान्यता में इस प्रपंच में यदि कुछ सुन्दरतम है, यदि कुछ ग्राह्य है, तो 'भक्ति'। अतः अद्वैतवाद तात्त्विक दृष्टि से नहीं व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से भक्ति का एवं साधना की दृष्टि से योग एवं कर्म का समावेश कर लेता है। शंकर स्वयं अनेक भक्ति-स्तोत्रों के रचयिता हैं जिनकी भावुकता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न दर्शनों में ब्रह्म के निर्गुण-सगुण रूपों के विषय में नगण्य-से भेद हैं किन्तु माया के दृष्टिकोण के प्रति पर्याप्त भिन्नता है। किन्तु सामंजस्य-वादी साहित्यकार तर्क के सत्य को अनुभूति का सत्य बनाने का प्रयत्न करता है, अतः उसका कार्य स्थूल मतभेदों से ऊपर उठना है। अब हम संक्षेप में केशव के ब्रह्म, जीव, जगत् और मुक्ति के विषय में विचार जानने का प्रयत्न करेंगे।

दर्शन

शंकर के अनुसार वेदान्तदर्शन का प्रतिपाद्य है—मायाजन्य अनेकत्वबुद्धि की समाप्ति और अखण्ड एकत्व की उपलब्धि। केशव भी 'विज्ञानगीता' द्वारा यही प्रतिपादित करने का उद्देश्य रखते हैं—

जीत्यौ चाहै इंद्रिगन भांति भांति माया मनु।
लोपिकै अनेक भाव, देख्यो चाहै एक ताहि॥

जीत्यौ चाहै काल, इहु देहु, चाहै रह्यो गेहु।
सोई तौ सुनावै सुनै गुनै ज्ञानगीतिकाहि॥[१]

'लोपिकै अनेक भाव, देख्यौ चाहै एक ताहि' द्वारा केशव ने अपने अद्वैत का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के दो मार्ग हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति।[२] गीता में निष्काम कर्म का ही प्रतिपादन है। 'वेदान्तसार' में 'उपरति' की व्याख्या प्रवृत्तिमूलक भी है और निवृत्तिमूलक भी।

वेदान्त के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की प्रतिध्वनि भी केशव में सुस्पष्ट है—

एक ब्रह्म सांचौ सदा, झूठौ यह संसार।[3]

ब्रह्म (निर्गुण)

ब्रह्म के दो रूप 'पर' और 'अपर' केशव को मान्य है। पर-रूप वर्णनातीत अनिर्वचनीय है। उसका संकेत-भर दिया जा सकता है। वह भी नकारात्मक पदावली के द्वारा। उसका आदि-अंत नहीं, वह अगुण, अरूप, असंग है। वह अदृश्य ही नहीं अस्तुत्य भी है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसका 'योसि सोसि' कहकर ही वर्णन करते हैं—

जाको नाहीं आदि अंत अमित अवाधि युत,
अकल अरूप अज चित्त में अतुर है।
अमर अजर अज अद्भुत अवर्ण अग,
अच्युत अनामय सुरसना ररतु है।
अमल अनंग अति अक्षर असंग अरु,
अस्तुत अदृष्ट देखिबे को परसुतु है।
बिधि हरि हर वेद कहत जोसि सोसि,
'केशोराइ' ता कहँ प्रणामहि करतु है॥[४]

विभिन्न भारतीय दर्शन इस सत्ता को विभिन्न नामों से पुकारते है। माध्यमिक बौद्धों में भी परिवर्तनशील नामरूपात्मक सत्ता के पीछे एक परसत्ता की स्वीकृति पाई जाती है। उनका शून्य आगे चलकर तो वैदिक दर्शनों से प्रभावित होकर स्पष्ट ही एक नित्य सत्ता के अर्थ में गृहीत होने लगा। शैवागमों ने शक्ति के संयोग से परे शिवामात्र सत्ता के रूप में इसे माना है। वैष्णव-तन्त्रों एवं आगमों में विष्णु से भी परे इस सत्ता को 'महाविष्णु' नाम दिया गया है। तात्पर्य यह कि इस सत्ता की स्वीकृति प्रत्येक भारतीय आस्तिक दर्शन में किसी न किसी रूप में मिलती है। भेद नाम-मात्र का है। केशव की सामंजस्य बुद्धि का यही निष्कर्ष है—

---

१. विज्ञानगीता, प्रभाव १, छन्द ६

२. निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः।
अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः॥ वेदान्तसार, पृ० २

३. विज्ञानगीता, तेरहवां प्रभाव, छन्द ८

४. विज्ञानगीता, अठारहवां प्रभाव, छन्द २१

कहुं एक तासों शिवे, शून्य एकै, कहुं काल एकै महाविष्णु एकै।
कहुं अर्थ एकै परब्रह्म जानो, प्रभापूर्ण एकै सदा शून्य मानो।।[1]

यहां पर सत्ता समस्त विशेषणों से रहित है, 'सदा शून्य है'। बस इसका रूप है 'ज्योतिर्मय'।

ब्रह्म (सगुण)

जब यह निर्विशेष सत्ता माया अथवा यों कहिए सृष्टि-प्रपंच के सम्पर्क में आती है तो इसमें गुणों का आरोप होना स्वाभाविक है। यह रूप स्थूल-सूक्ष्म जगत् का नियामक, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ आदि विशेषणों से युक्त हो जाता है। ब्रह्म की इस दशा को अद्वैतवाद सगुण ब्रह्म कहता है। यही अवस्था जनसामान्य का ईश्वर है। शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से यह सत्ता भी व्यावहारिक है, अतः इस अवस्था और पर अवस्था के ब्रह्म में कोई मौलिक अन्तर नहीं। दोनों की एक ही सत्ता है। केशव का कथन है––

बाहर भीतर व्यापक जोहै, एक निरीह निरंजन सोहै।
दूसरे और न जाकहुँ बूझौं, एक चिदानंद रूप अरूझौं।[2]

इस प्रकार केशव अद्वैतवाद के अनुरूप निर्गुण-सगुण ब्रह्म के दोनों रूप मानकर दोनों में अभेद स्वीकृत करते हैं।[3] इन दोनों रूपों में उपासना, भक्ति एवं लोक-व्यवस्था के लिए सगुण ब्रह्म का रूप ही उपयोगी है। अतः भक्त उसे ही ग्रहण करके चलता है। 'रामचन्द्रिका' में ब्रह्म के सगुण रूप का इस प्रकार उल्लेख हुआ है––

सकल शक्ति उनमानियै अद्भुत जोति प्रकास।
जातें जग को होत है उत्पति, थिति अरु नास।[4]

ब्रह्म की निर्गुण सत्ता जिस क्षण उपासना के लिए हृदय में लाई जाती है उसी क्षण द्वैत की स्थापना हो जाती है, किन्तु अद्वैतवाद व्यावहारिक बुद्धि को उस समय तक सत्य मानता है जब तक पूर्ण अद्वैत की उपलब्धि न हो जाए। भक्तों की भावना है कि यह सगुण सत्ता धर्म की ग्लानि दूर करने के लिए, तथा भक्तों की रक्षा के लिए रूप धारण करके इस लोक में अवतरित भी होती है। केशवदासजी की मान्यता है कि वही शक्ति राम के रूप में अवतरित हुई।

तुम आदि मध्य अवसान एक। अरु जीव जन्म समुझो अनेक।।
तुम ही जु रची रचना विचारि। तेहि कौन भांति समझौं मुरारि।।
सब जानि बूझियत मोहिं राम। सुनियै जो कह्यो जग ब्रह्मनाम।।
तिनके अशेष प्रतिबिम्ब जाल। तेइ जीव जानि जग में कृपाल।।[5]

---

१. विज्ञानगीता, बीसवां प्रभाव, छन्द ४८
२. विज्ञानगीता, अठारहवां प्रभाव, छन्द १८-१९
३. निर्गुण एक तुम्हें जग जानै, एक सदा गुणवन्त बखानै। —रामचन्द्रिका, १।१५
४. रामचन्द्रिका, प्रकाश २५, श्लोक १५
५. रामचन्द्रिका, प्रकाश २५, छन्द १-२

विश्वामित्रजी की प्रार्थना पर व्यासपुत्र के समान शुद्ध वसिष्ठ ने ब्रह्म के अशेष सत्त्व-तत्त्व का विवेचन उपर्युक्त पंक्तियों में किया है।[१] वसिष्ठ के इस तत्त्व-विवेचन में स्पष्टतः अद्वैतवाद की 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की भूमि में प्रतिष्ठा है।

वसिष्ठ को तो समस्त जीव तात्त्विक दृष्टि से 'राम' ही दिखाई देते हैं। और वे जगत् की भी ब्रह्म से भिन्न कोई अपनी सत्ता नहीं मानते। जगत् एक माया का दर्पण-मात्र है जिसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव-रूप में दिखाई देता है। इसीमें जीवों की अनेकता का रहस्य है। नाना प्रतिबिम्बों के आधार पर आधारभूत बिम्ब अनेक थोड़े ही हैं। जीव के अनेकत्व की व्याख्या प्रतिबिम्बवादी ढंग पर होने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव पारमार्थिक रूप में विशिष्टाद्वैतवाद जैसी कोई चीज़ नहीं मानते।

उसीके 'अद्भुत भाव' से विष्णु से लेकर परमाणु तक नाना नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है—

ताके अद्भुत भाव ते भए सरूप अपार।
विष्णु आनि परमानु लै उपजत लगी न बार॥[२]

यह 'अद्भुत भाव' क्या है? जिससे यह समस्त सृष्टि उद्भूत होती है। अद्वैतवाद की दृष्टि से यह त्रिगुणात्मिका माया की समष्टि से उपहित चैतन्य-रूप है। इस उपाधि के रजोगुण की प्रधानता से सृष्टि की रचना, सत्त्व की प्रधानता से पालन, एवं तम की प्रधानता से संहार होता है। इन्हीं शक्तियों को हम भावना या कल्पना के क्षेत्र में ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहते हैं।

इक है जो रजोगुन रूप तिहारो। तेहि सृष्टि रची विधि नाम बिहारो॥
गुन सत्त्व धरे तुम रक्षत जाकों। अब विष्नु कहै सिगरो जग ताकों॥
तुमहीं जग रुद्रसरूप सँघारो। कहिये तिन मध्य तमोगुन भारो॥[3]

यहां भी केशव द्वैतवाद की शंका को निर्मूल करते हुए चलते हैं। जो त्रिगुणात्मिका माया है वह अपने सगुण ब्रह्म से भिन्न नहीं। आग और आग की शक्ति दो नहीं। गुण और गुणी पृथक् नहीं। हां, इतनी-सी बात है कि इस गुण-सम्पर्क से अनेकरूपता आ गई है। इस गुणमयी माया से रहित निरूपाधिक चैतन्य ही अखण्ड ब्रह्म है।

तुमहीं गुनरूप गुनी तुम ठाए।
तुम एक ते रूप अनेक बनाए॥[४]

इस सर्वाधार अखण्ड ब्रह्म का केशव 'विज्ञानगीता' में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

---

१. व्यास-पुत्र के समान सुद्ध बुद्धि जानिए।
ईस को असेष सत्य-तत्त्व सो बखानिए॥

—रामचन्द्रिका, प्रकाश २४, छन्द ३०

२. रामचन्द्रिका, प्रकाश १५, छन्द १२

३. रामचन्द्रिका, प्रकाश २०, छन्द १७, १८

४. रामचन्द्रिका, प्रकाश २०, छन्द १७

अजन्मु है अमर्नु है, अशेष जन्तु सर्नु है।
अनादि अन्त हीनु है, जु नित्य ही नवीनु है॥[1]

इतना ही नहीं उसका तात्त्विक रूप माया से शून्य है—अमाय है—अमेय है।

अरूप है, अमेय है, अमाय है अमेय है।
निरीह निर्विकार है, सुमध्य अध्यहार है॥
अकृत्त मैं अखंडि त्वै, अशेष जीव मण्डि त्वै।
समस्त शक्ति युक्त है, सुदेव देव मुक्त है॥[2]

यह निरीह, निर्विकार, अकृत्रिम, अखण्ड रूप कभी समस्तशक्तियुक्त (सगुणब्रह्म) और कभी अशेषजीव-मंडित दिखाई पड़ता है। इस सबका कारण है 'अध्यहार' अध्यारोप, शुद्ध चैतन्य ब्रह्म में माया एवं उसकी कृति का आरोप।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव के ब्रह्म-विषयक विचारों में शुद्ध अद्वैतवाद की स्पष्ट छाप है।

जीव

वही विशुद्ध चैतन्य जब माया के मलिन आवरण से आच्छन्न हो जाता है तब अल्पज्ञ, अनीश्वर, सुख-दुःखभोक्ता जीव कहलाता है। वह कर्ता-भोक्ता बनकर ऊंची-नीची नाना योनियों में फिरता है। वेदान्त की यह मान्यता भी केशवदासजी को स्वीकृत है—

उपजत माया संग ते जीव होत बहुरूप।
उत्तम मध्यम अधम सब सुनि लीजै भवभूप॥[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। केशव ने माया को 'विज्ञानगीता' में 'महामोह' कहा है। इस 'महामोह' के सम्पर्क से वह सुवर्ण जैसा शुद्ध चैतन्य किस प्रकार मलिन हो जाता है, उसका स्वर्णिम प्रकाश कैसे चला जाता है इसका दिग्दर्शन कवि केशव ने बड़ी सुन्दर काव्योचित शैली से किया है—

महामोह सँग जीव यों मोहहि माँझ समात।
लोह लिप्त ज्यों कनक-कण लोहाई ह्वै जात॥[5]

केशवदास ने ब्रह्म को 'सर्वजीवमण्डित' कहा है।[6] प्रश्न उठता है, यह जीव-

---

१. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ३९
२. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ४०-४१
३. असर्पभूते रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।
वस्तु सच्चिदानन्दमद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलज डसमूहोऽवस्तु॥
—वेदान्तसार, पृ० २
४. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द १९
५. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द २९
६. अकृत्त मैं अखण्ड त्वै, अशेष जीव मण्डि त्वै।
—विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ४१

मण्डित ब्रह्म का रूप किस ढंग का है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध क्या है?

देव अरूप अमेय हैं कहै निरीह प्रकाश।
सर्व जीव मण्डित कहौ, कैसे केशवदास॥[1]

उसका उत्तर केशवदास इस प्रकार देते हैं—

ज्यों अकाश घट घटनि में पूरण लीन न होइ।
यों पूरण संदेह में रहै कहैं मुनि लोइ॥[2]

आकाश एक अखण्ड एवं सर्वव्यापक है। किन्तु यदि उसे किसी घट की सीमाओं में आबद्ध आकाश की दृष्टि से कहें तो घटाकाश कह सकते हैं। और ये घटाकाश अनेक हो सकते हैं। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ये भेद आकाश के नहीं घटों के हैं। घटरूप उपाधियों के हैं। इसी प्रकार जीव नाम ही मायारूपी उपाधि सम्पर्क का है। आधारभूत अनुपहित चैतन्य तो शुद्ध एवं अखण्ड है। वेदान्त के दो सिद्धान्त हैं—एक अवच्छेदवाद दूसरा प्रतिबिम्बवाद। प्रस्तुत उदाहरण में केशव अवच्छेदवाद का सहारा लेते हैं। पूर्ववर्ती उदाहरण में उन्होंने प्रतिबिम्बवाद के द्वारा इसी अतात्त्विक सम्बन्ध की व्याख्या की है।

वल्लभाचार्यजी ने अग्निस्फुलिंग के उदाहरण के माध्यम से ब्रह्म में जीव के आविर्भाव-तिरोभाव का सिद्धान्त सामने रखकर इस सम्बन्ध की व्याख्या की है। किन्तु केशव वल्लभ जैसे ही सूर्य और अंशु के उदाहरण को लेकर उसकी मायावादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

उपजत ज्यौं चित रूप ते, जीवन तिहि विधि जात।
रवि ते उपजत अंशु ज्यौं, रवि ही मांझ समात।
उपजत माया संग ते, जीव होत बहुरूप।[3]

यह जीव (जीवन) उस चैतन्य-सत्ता (चिद्रूप) से जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार समाप्त हो जाता है। सूर्य की किरण सूर्य से ही उत्पन्न होकर सूर्य में ही समा जाती है। तो प्रश्न उठता है यह उत्पत्ति और विलय क्या है। केशव का उत्तर है 'उपजत माया संग ते' तब विलय का उत्तर अपने-आप मिल गया। जिस प्रकार उत्पत्ति हुई 'तिहि विधि जात' उसी प्रकार समाप्ति अर्थात् माया के नाश पर शुद्ध चैतन्य-मात्र की स्थिति। इसी प्रकार रामानुज के अंशांशी-भाववाले उदाहरणों को लेकर भी केशव ने उनकी मायावादी व्याख्या प्रस्तुत की है—

ज्यों रस रूप सुगंधमय, पुष्प सदा सुखराउ,
पुष्प न जानत जानिये, ताको तनिक प्रभाउ।

---

१. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ४३
२. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ४४
३. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द १८-१६

त्यों सब जीव चिदंशमय वर्णत जीवन मुक्त,
भूलि जात प्रभुता सबै महामोह संयुक्त ॥[1]

जीव के इस तात्त्विक विवेचन के साथ उसके व्यावहारिक स्वरूप पर भी केशव ने विचार किया है—

लोभ, मद, मोह बस काम जबहीं भए,
भूलि गए रूप निज बेधि तिनसौं गए।[2]

और फिर संसार-जाल में भ्रमण करने लगता है—

काम क्रोध मद मढ्यौ अपार,
मानौ जीव भ्रमैं संसार ॥[3]

और फिर वह वासना से नियंत्रित और परिचालित रहता है—

जित लै जैहै वासना तित तित ह्वैहै लीन।[4]

माना वासनाजन्य कर्मों के आधार पर वह अनेक शरीर धारण करता है, पर वस्तुतः इस दशा में भी वह इन देह-बन्धनों से परे है, वह बालक, वृद्ध नहीं होता ये तो शरीर के धर्म हैं।[5]

उसकी जरा-मृत्यु भी नहीं—

जीव जरै न मरै नहिं छीजै।
ता कहँ सोक कहा अब कीजै ॥
जीवहि विप्र न क्षत्रिय जानौ,
केवल ब्रह्म हिये महँ आनौ ॥[6]

गीता में भी तो कृष्ण ने यही प्रतिपादित किया था—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[7]

तृष्णा इस जीव को किस प्रकार चक्कर में डाले हुए है। वह इसे शान्तिमय जीवन व्यतीत नहीं करने देती। इस तृष्णा की अपार नदी को पार करना बड़ा कठिन कार्य है।[8]

---

१. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द २७-२८
२. रामचन्द्रिका, प्रकाश पच्चीस, छन्द ३
३. रामचन्द्रिका, प्रकाश उन्तीस, छन्द ६
४. रामचन्द्रिका, प्रकाश पच्चीस, छन्द ४
५. रामचन्द्रिका, सैंतीसवां प्रकाश, छन्द १०
६. रामचन्द्रिका, सैंतीसवां प्रकाश, छन्द ११
७. भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक २०
८. विज्ञानगीता, सातवां प्रभाव, छन्द १७

काम, क्रोध, मद, लोभ आदि मनोविकार मनुष्य को उन्नति के शिखर से अधः-पतन के गर्त में गिराने में तनिक देर भी नहीं लगाते। इनके आकर्षण अमोघ हैं। परिणाम-स्वरूप बेचारा गरीब अपने को मुक्त करने में सर्वथा असमर्थ पाता है—

खैंचत लोभ दसौ दिसि को गहि मोह महा महि पासि कै डारे।
ऊंचे ते गर्व गिरावत क्रोध सौं जीवहि लूहर लावत भारे।
ऐसे में कोढ़ की खाज ज्यों 'केसव' मारत काम के बान निनारे।
मारत पांच करे पंचकूटहि, कासों कहैं जग जीव बिचारे।[1]

यह संसारी जीव मेरे-तेरे के भेद में फंस जाता है। 'ममत्व' में पड़कर उचित-अनुचित साधनों का प्रयोग करता है। जिस घर को हम अपना घर कहते हैं उसपर अन्यों का भी समान अधिकार है। पर यह 'अपना' कहना और समझना भ्रम-मात्र है—

माछी कहै अपनो घर माछर, मूसौ कहै अपनो घर ऐसो।
कौनें घुसी कहै घूसि घिरौरि बिलारि औ ब्याल बिलै महँ वैसो।
कीटक स्वान सो पक्षि औ भिक्षुक भूत कहैं, भ्रमि जासहँ जैसो।
हौं हूँ कहौं अपनौ घर तैसहिं ता घर सौं, अपनो घर कैसो ॥[2]

यह एक बड़ी भारी विडम्बना है। जीव अपने इस मिथ्या 'अहं' के विस्तार के कारण वस्तुओं के तात्त्विक रूप को समझ ही नहीं पाता। अपनी तात्त्विक सत्ता का जगत् भी मिथ्या वस्तुओं में अहं के माध्यम से विस्तार करता हुआ सभी जगत् को सच्चा समझने लगता है। अपने स्वरूप को भूलकर यह जड़ जीव नाना प्रकार के कर्तृत्व का आरोप अपने में कर लेता है और जगत् की सत्यता में भी विश्वास करने लगता है—

जैसे चढ़े बाल सब काठ के तुरंग पर,
तिनके सकल गुण आपुही में आने हैं।
जैसे अति बालिका वे खेलति पुतरि अति,
पुत्र पौत्रहि मिलि विषय विताने हैं।
आपनों जो भूलि जात लाज साज कुल कर्म,
जाति कर्मकादिक नहीं सो मनमाने हैं।
ऐसे जड़ जीव सब जानत हो केशौदास,
आपनी सचाई जग सांचोई कै जाने हैं।[3]

इस प्रकार केशवदासजी ने अनेक उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया है कि जीव, जो परमार्थ में ब्रह्म ही है, माया के चक्कर में पड़कर नाना चक्करों में फंस जाता है और फिर जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि होते हुए भी काष्ठ-खण्ड उस तेज को नहीं पहचानता, जिस प्रकार चित्रों में रूप रहते हुए भी वे उसका वर्णन नहीं कर सकते, उसी

१. रामचन्द्रिका, चौबीसवां प्रकाश छन्द ८
२. रामचन्द्रिका, चौबीसवां प्रकाश, छन्द २६
३. विज्ञानगीता, प्रभाव नवां, छन्द ४४

प्रकार जड़ जीव अपने स्वाभाविक चैतन्य एवं आनन्द से वंचित रह जाता है।[1]

जीव-भेद

तात्त्विक दृष्टि से जीव का वर्गीकरण नहीं हो सकता और न केशवदासजी ने किया ही है। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने जीवों के उत्तम, मध्यम, अधम तीन वर्ग किए हैं।[2]

उत्तम जीव वे होते है जो ईश्वरीय सत्ता में पूर्ण विश्वास रखते हैं तथा संसार में अनासक्त भाव से रहते हैं।

उत्तमते प्रभुशासन सम्मत। हैं जगसों न कहूं कबहूं रत।।
कौनहुं एक प्रसाद ते भूपति। होतु है शासन भंग महामति।।
आपुहिं आपुनि क्यों करि दण्डहि। कारज साधत हैं तिह खंडहि।।
औरहु आपने पंथ लगावैं। ते सब मध्यम जीव कहावैं।।
होत जे जीव कछू मन के वश। भूलत हैं अपने प्रभु के यश।।
पीडियँ आधिनि व्याधिनि के जब। बूझत बेद पुराणन को तब।।
दानन दै व्रत संयम कै तप। संगत जेवत साधत है जप।।
जन्म गए बहु ज्ञाननि पावत। ते जग जीवनमुक्त कहावत।।[3]

वासनाओं में फंसकर जो ईश्वर को भूल जाते हैं किन्तु भवदुःखों के आघातों से जिन्हें होश आ जाता है, और शास्त्रों की ओर झुककर सन्मार्ग पर आ जाते हैं वे मध्यम जीव हैं। ऐसे लोग भी कालान्तर में साधना से जीवन्मुक्त हो जाते हैं। और अन्त में अधम जीवों का स्वरूप है—

जिनको न कछू अपने प्रभु की सुधि,
बहु भांति बढ़ावत हैं मन की बुधि।
सुनिहूं सुनि वेद पुराणनि के मत।
होत तऊ बहु पापनि सों रत।।
ते अति अधम बखानियै जीव अनेक प्रकार।
सदा सुयोनि कुयोनि में भ्रमत रहै संसार।।[4]

जो ईश्वर को बिलकुल भूल, वासनाओं में उलझ जाते हैं। वेद-पुराणों का जिनपर कोई प्रभाव नहीं, जिनकी पापों में ही रति बढ़ती जाती है, ऐसे जीव अधम कोटि के हैं और

१. केशवदास अकाश में शब्द प्रकाशन शब्द प्रकाशु न जानतु।
तेज बसे तरुखण्डनि में तरुखंड न तेजनि को पहिचानतु।
रूप विराजत चित्रनि में परि चित्र न रूप चरित्र बखानतु।
त्यों सब जीवनि मध्य प्रभाव सुमूढ़ न जीव प्रभाव न मानतु। विज्ञानगीता, प्रभाव १६, छन्द १८

२, विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द १६

३. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द २०–२३

४. विज्ञानगीता पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द २४–२५

वे नाना योनियों में चक्कर काटते रहते हैं।

अज्ञान की भूमिकाएं

जीव के सम्बन्ध में केशव ने ज्ञान एवं अज्ञान की सात-सात भूमिकाओं का उल्लेख किया है। अज्ञान की भूमिकाओं का उल्लेख इस प्रकार है—

जीव जु जाग्रत एक अरु, दूजो जाग्रत जानु।
महाजुजाग्रत तीसरी, जाग्रतस्वप्न बखानु॥
स्वप्न पांचई है समुझि, स्वप्नोजाग्रत षष्ठ।
प्रभा सुषुप्ता सातई सुनो सदा मतिनिष्ठ॥[1]

इस प्रकार जीवजाग्रत्, ज्ञानजाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न-जाग्रत्, प्रभासुषुप्त सात अज्ञान की भूमिकाएं होती हैं।

ज्ञान की भूमिकाएं

इसी प्रकार ज्ञान की सात भूमिकाएं—शुभेच्छा, सुविचार, तनमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, अर्थाभावना, तुरीया होती हैं—

प्रथम शुभेच्छा जानवी, पुनि सुविचारन आन।
तीजी है तन मानसा, केशवराइ प्रमान।
चौथी सत्त्वापत्ति पुनि असंशक्ति को जानि।
छठी अर्थ आभावना, सप्त तुर्यको मानि॥[2]

इन दोनों प्रकार की भूमिकाओं का केशव ने विस्तार से उल्लेख किया है। ज्ञान की इन भूमिकाओं को पार करके जीव क्रमशः विदेहावस्था तक पहुंचता है।

मन

केशव ने जीव के साथ मन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान माना है। दूषित मन पतन का कारण है और शुद्ध मन मुक्ति का साधन। संस्कृत के 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' को केशव ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

जग को कारण एक मन, मन को जीत अजीत।
मन को मन सुनि शत्रु है, मनहीं को मन मीत॥[3]

अतः केशव का निर्णय है—

मन की दीन्हीं गांठि प्रभु, मनही पै छुर आउ॥[4]

केशव मन का स्वरूप आकाश के समान अरूप मानते हैं। बुद्धि उसकी संचालिका-शक्ति है चाहे वह उसे बढ़ा दे या घटा दे—

---

१. विज्ञानगीता, सत्रहवां प्रभाव, छन्द ४२-४३
२. विज्ञानगीता, सत्रहवां प्रभाव, छन्द ५२-५३
३. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द १९
४. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द २१

मन को रूप अरूप है, जैसो है आकाश।
बढ़त बढ़ाए बुद्धि के, घटत घटाए आस ॥[१]

मन जिनके हाथ है उन्हें संन्यास की, गृह-त्याग की आवश्यकता नहीं—

मन हाथ सदा जिनके तिनके वन ही घर है घर ही वन है।[२]

अद्वैतवाद के अनुसार चित्त माया या अज्ञान की ही एक कृति है। अतः वही बन्धन का प्रधान हेतु है। किन्तु मुक्ति के लिए भी उसी चित्त की अपेक्षा है। निर्मल चित्त 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति करके अखंडाकार हो जाता है। तभी वह स्थिति आती है कि चित्तवृत्ति अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए तैयार हो। इस अवस्था में पहुंचकर, ब्रह्म का दर्शन करके चित्तवृत्ति अज्ञान का नाश कर देती है और चूंकि वह स्वयं अज्ञान की एक कृति थी अतः उसका भी नाश हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति के लिए भी चित्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य उपकरण है। केशव भी यही मानते हैं। स्वर्ग और नरक, बन्धन और मुक्ति सब कुछ मन की ही ग्रन्थि के विभिन्न रूप हैं—

स्वर्ग नर्क बंधन मुकुति, मानो मन की गाथ ॥[3]

इस प्रकार बन्धन-मोक्ष चैतन्य के धर्म नहीं उपाधि-रूप मन के हैं जो माया की प्रसूति है। ज्ञान के द्वारा इसकी निवृत्ति हो जाने पर आत्मरूप की उपलब्धि हो जाती है।

जगत्

अद्वैतवाद की दृष्टि से यह जगत्-प्रपंच उसी ब्रह्म का विवर्त है। शुद्ध चैतन्य अज्ञान की सत्त्वप्रधान समष्टि के सम्पर्क में आकर, ईश्वर-नामधारी होकर, इस जगत् की सृष्टि करता है। अतः ब्रह्म अज्ञानांश की प्रधानता से इस जगत् का उपादान-कारण भी है और स्वकीय चैतन्य अंश की प्रधानता से निमित्त-कारण भी। इसी प्रकार इस जगत् का लय भी उसी अपने कारणरूप ईश्वर में हो जाता है। यह जगत्-प्रपंच हमारे सामने तीन रूपों में आता है। प्रथम कारणरूप में जबकि इसमें कोई सूक्ष्म-स्थूल अवयवों का विकास नहीं हुआ। दूसरा सूक्ष्मावस्था में, यह अवस्था स्थूलभूतों के पूर्व की है। तीसरा स्थूल पांच भौतिक जगत्, यह इसकी स्थूलतम अवस्था है। इस प्रकार हम तीनों दशाओं को अव्यक्त और व्यक्त या दृश्य और अदृश्य के भीतर ले सकते हैं जिनकी उत्पत्ति और रूप का स्थान अज्ञान की समष्टि से उपहित ईश्वर-चैतन्य है। केशव जगत् की इसी दार्शनिक स्थिति को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

दृश्यादृश्य सुब्रह्म है, यहै मुक्ति जिय जान।
जाते उपज्यौ ताहि मिलि, अनल ज्वाल परिमान ॥[४]

---

१. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द २०
२. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ४३
३. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द २३
४. विज्ञानगीता, चौदहवां प्रभाव, छन्द ४८-४९

इस जगत् का मिथ्यात्व उन्होंने ठीक अद्वैती पदावली में अनेकत्र स्पष्ट किया है। रज्जु-सर्प के, शुक्ति-रजत के तथा स्वप्न आदि के अनेक उदाहरण यत्र-तत्र देकर उन्होंने इसकी असारता नहीं, मिथ्यात्व सिद्ध किया--

माया दरशन तुम कह्यौ, ताके सबै विलास।
पुत्र कलत्रनि आदि दै, झूठो सब संसार।
जाको देखो स्वप्न सो, साँचो ब्रह्मविचार॥[१]

यह समस्त नामरूपात्मक जगत् जिसमें जीवों की विभिन्न योनियां श्वपच-कीट और राजा-रंक के नाना वेष सब ही तो माया की कृति है--

जन्म मरण तेरो मृषा श्वपच कीर नृपवेष।
झूठो सिगरो नाउँ है माया कर्म अलेख॥[२]

यह जगत् झूठा है--

झूँठो है रे झूँठो जग राम की दोहाई।
काहू साँचे को बनायो ताते साँचो सो लगतु है॥[3]

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसकी स्थिति माननी पड़ेगी और इस अवस्था में, तत्त्वज्ञान से पूर्व, इससे छुटकारा मिलना बड़ा कठिन है।

मरनहिं जीव न तजहीं, मरि मरि जन्म न भजहीं॥[४]

और इस अवस्था में यह जग दुःख-जाल है--

जग माँझ है दुखजाल, सुख है कहाँ यहि काल।[५]

इस दुःखजालवाले जग में जीव एक मन के वशीभूत होकर ही पड़ता है—

जग को कारण एक मन।
मन को जीति अजीति॥[६]

माया

तब यह प्रश्न उठता है कि इस तमाम बखेड़े की जड़ माया का क्या स्वरूप है? केशव ने इसे माया, अज्ञान, महामोह, संसृति आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया है। जिसके सम्पर्क से अविकारी ब्रह्म जगदीश बनकर विकारग्रस्त हो गया है, वह प्रेम या माया है। काली रात्रि के अंधकार में रस्सी प्रतीत होनेवाला सर्प विकार है--

---

१. विज्ञानगीता, तेरहवां प्रभाव, छन्द ८३-८४
२. विज्ञानगीता, तेरहवां प्रभाव, छन्द ८५
३. विज्ञानगीता, चौदहवां प्रभाव, छन्द ६
४. रामचन्द्रिका, चौबीसवां प्रकाश, छन्द १
५. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द १२
६. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द १९

अविकारी जगदीस है भ्रमही ते सविकार।
केसव कारी रजनि में सूझत सर्प विकार ॥[1]

यह स्वप्न रूप भी है--

संसृति नाम कहावति माया,
जानहु ताकहँ मोह की जाया।
संभ्रम विभ्रम संतति जाकी।
स्वप्न समान कथा सब ताकी ॥[2]

यह माया अनिर्वचनीय भी है, क्योंकि न तो इसे सत् ही कहा जा सकता है न असत्। सत् इसलिए नही कि ज्ञान द्वारा इसका नाश हो जाता है--'ज्ञाननिर्वर्त्य'। असत् इसलिए नहीं कि जब तक इसकी व्यावहारिक सत्ता है यह इसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। शुक्ति में शुक्ति का ज्ञान न होने तक, रस्सी में रस्सी को न जानने तक रजत और सर्प को कौन झूठा कहे। अतः इस दशा में 'भावरूप' है, 'अनिर्वचनीय' है।

माया सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों से युक्त है। जिसके द्वारा हम देख चुके हैं, विष्णु, ब्रह्मा और महेश की सृष्टि होती है। अद्वैतवाद ने भी माया का यही रूप स्वीकृत किया है। 'वेदान्तसार' के अनुसार माया का स्वरूप है--

सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किंचिदिति।[3]

केशव ने भी माया का यही स्वरूप माना है। यह बड़ी दुरन्त है--

सबही सबको सर्वदा माया परम दुरन्त ॥[4]

बस, यदि इसका नाश सम्भव है तो विवेक के द्वारा। ज्ञान के द्वारा माया की निवृत्ति होकर आत्मस्वरूपीय मुक्ति ही तो मुक्ति है।

मुक्ति

विवेक से परिशुद्ध चित्त ही बढ़कर ब्रह्म-साक्षात्कार करके अज्ञान की समाप्ति में सहायक होता है। चित्त स्वयं अज्ञान की ही एक कृति है और अपने कारण-रूप अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उसका भी नाश होकर केवल शुद्ध ब्रह्म-मात्र शेष रह जाता है। यही अवस्था मुक्ति की है। यह अवस्था सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शनों के अनुसार इस शरीर के रहते-रहते भी प्राप्त हो सकती है, क्योंकि जब तत्त्व-ज्ञान हो गया तो फिर शरीर के बन्धन उस मुक्त जीव के लिए बन्धन नहीं रह जाते। इस अवस्था को जीवन-मुक्ति कहा गया है और शरीर-त्याग के पश्चात् की अवस्था को 'विदेहमुक्ति'[5]

---

१. विज्ञानगीता, सत्रहवां प्रभाव, छन्द ३४
२. विज्ञानगीता, तेरहवां प्रभाव, छन्द २८
३. वेदान्तसार, पृ० २
४. विज्ञानगीता, तेरहवां प्रभाव, छन्द २६
५. तुर्यावस्था सातई जाते जीवन्मुक्त।
ताते ऊपर होति है अति विदेहतायुक्त ॥ —विज्ञानगीता, सत्रहवां प्रभाव, छन्द ६०

'विदेह' शब्द का प्रयोग हमें जो जनकादि के लिए मिलता है वह औपचारिक रूप में जीवन-मुक्त के लिए ही है। केशव ने जीवन्मुक्त का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है—

डारे उपारि समूल अहंतरु कंचन काँच न जो पहिचाने।
बालक ज्यों भवँ भूतल में भव आपुन से जड़ जंगम जाने॥[1]

'उपदेशसहस्री' में जीवन्मुक्त की दशा का इस प्रकार चित्रण है—

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति,
द्वयञ्च पश्यन्नपि चाद्वयत्व तः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः,
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥[2]

केशव भी इसी प्रकार इस दशा का वर्णन करते हैं—

बाहिर हूँ अति सुद्ध हिए हूँ,
जाहि न लागत कर्म किए हूँ।
बाहिर मूढ़ सु अन्त सयानौ।
ताकहँ जीवनमुक्त बखानौ॥[3]

क्रम-मुक्ति

यह जीवन्मुक्ति दीर्घकालीन साधना से प्राप्त होती है। सहस्रों वर्षों में, दीपक की ज्योति के समान क्रमपूर्वक जीव मुक्त होता है अतः यह क्रम-मुक्ति भी कही गई है—

क्रम क्रम सबको छाँड़िये, ममता प्रभुमति युक्त,
अहंकार परिहार कै, हूजै जीवन्मुक्त॥[4]

इस साधना में जप, तप, योग, समाधि सबका उपयोग है।[5] प्राणायाम भी इसमें अभिप्रेत है।[6]

वासना का उच्छेद, राग-द्वेष का नाश, क्रोधादि से छुटकारा प्राप्त कर विवेक होना भी आवश्यक है—

हृदय वृक्ष सों वासना लता न लपटति जाहि।
राग दोष फल ना फलै, मृत्यु न मारै ताहि॥
उरसि विवेक समुद्र को डसै न बाड़व कोपु।
ताको तन को मृत्यु पै, होइ न कबहूँ लोपु॥[7]

---

१. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ३२
२. उपदेशसाहस्री, ८५।१०, १३
३. रामचन्द्रिका, पच्चीसवां प्रकाश, छन्द १०
४. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ३०
५. विज्ञानगीता, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३९-४०
६. विज्ञानगीता, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ९
७. विज्ञानगीता, पंद्रहवां प्रभाव, छन्द ६-७

यह ज्ञान-मार्ग, यह साधना-पक्ष बड़ा कठिन है, तब सामान्य जीव क्या करें। भावुक लोगों ने ऐसे मनुष्यों के लिए एक सरलतम कर्म निकाला है 'भक्ति' का। अतः भगवान के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण का मार्ग केशव को भी मान्य है और उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों के समान ही भक्ति के सिद्धान्तों का भी बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। और हम यह पूर्व में ही दिखा चुके हैं कि व्यावहारिक सत्ता की स्वीकृति में भक्तिगत द्वैत अद्वैतवाद के मूल सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं डालता।

भक्ति

'भागवत' एवं 'अध्यात्मरामायण' के समान केशव भी नवधा भक्ति[१] मानते हैं।[२] उन्होंने नवधा भक्ति के प्रत्येक प्रकार में एक-एक रस की स्थिति मानी है। श्रवण में अद्भुत, स्मरण में करुण, दास्य में बीभत्स, पादसेवन में भयानक, वन्दन में वीर, अर्चन में शृंगार, सख्य में हास्य, कीर्तन में रौद्र और आत्मनिवेदन में शान्तरस का आविर्भाव होता है।[3]

महत्त्वानुभूति

भक्ति के क्षेत्र में पर और अपर ब्रह्म का भेद मिट जाता है, अतः केशव के राम और परब्रह्म में अन्तर नहीं रहता। भक्ति में यह आराध्य के महत्त्व की अनुभूति बड़ी उपयोगी होती है —

पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान,
परिपूरन बतावें न बतावें और उक्ति कौं,
दरसन देत जिन्हें दरसन समुझैं न,
नेति नेति कहै वेद छांड़ि भेद जुक्ति कौं॥[४]

सम्पूर्ण संसार में उसकी ज्योति प्रकाशित है।[५] यद्यपि वे मूलतः रूप-रंग से परे हैं —

रूप न रंग न रेख विशेष अनादि अनन्त जु बेदन गाई।[६]

और उस पूर्ण ब्रह्म-ज्योति का न दर्शन सम्भव है न वर्णन।

---

१. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—भागवत, अध्याय ७, श्लोक ५।२३

२. नवरस मिश्रित साधि नृप नवधा भक्ति प्रमानु, दानव मानव देवगण भक्तकमल हरिभानु।
—विज्ञानगीता, उन्नीसवां प्रभाव, छन्द ३८

३. जीतहुँ अदभुत श्रवण सों सुमिरण करुणा जानि, सहित जुगुप्सा दासता पाद भजनमय मानि,
वन्दन वीर शृंगार सों अर्चन सख्य सहास, रौद्र कीर्तन सम सहित आत्मनिवेद प्रकास।
—विज्ञानगीता, उन्नीसवां प्रभाव, छन्द ३९-४०

४. रामचन्द्रिका, प्रकाश १, छन्द ३

५. जागत जाकी ज्योति जग एक रूप स्वच्छन्द। —रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २१

६. रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, छन्द १८

निश्छल आराधना

राम के सगुण रूप का निश्छल ध्यान ही पूजा की विधि है, यह विधि केशवदास-जी ने शंकरजी के मुख से कहलाई है—

पूजा यहै उर आनु, निर्व्याज धरियै ध्यानु।
यों पूजि घटिका एक, मनु किये जज्ञ अनेक ॥[1]

अनन्यता

बस आराध्य का ध्यान ही भक्तों के लिए सब कुछ है। उनका योग, धर्म, कर्म सब कुछ यही है। अनन्यता भक्ति की प्रथम और अन्तिम आवश्यकता है।

जिय जान यहई जोग। सब धर्म कर्म प्रयोग।
सम रूप पूजि प्रकास। तब भए हम से दास।[2]

यह भक्ति की व्यक्तिगत साधना की स्थिति है। इस भक्तिरस की भागीरथी में दुःख बह जाते हैं।[3]

नाम-आधार

तुलसीदासजी ने 'कलि में केवल नाम अधारा' कहकर नाम-महत्त्व का प्रतिपादन किया था। केशव ने भी भक्ति के इस सम्बल का महत्त्व दिखाया है।[4]

भक्तों का यही सर्वस्व है, उन्हें और से क्या काम—

राम नाम सत्य धाम
और नाम कौन काम ॥[5]

जब प्राणी को वेद, पुराण, जप, तप, तीर्थ, ब्राह्मण-पूजा, गोसेवा किसी धर्मरूप का सहारा न रहे तब संसार से उद्धार का एकमात्र उपाय है 'राम नाम'।[6]

वर्णाश्रम-निरपेक्षता

इस भक्ति पर पुरुष और स्त्री, ब्राह्मण और शूद्र सभीका अधिकार है—

रामचन्द्र-चरित्र कों जो सुनै सदा चित लाय।
ताहि पुत्र कलत्र संपति देत श्रीरघुराय।
जज्ञ दान अनेक तीरथ न्हान कौ फल होइ।
नारि का नर विप्र क्षत्रिय वैस्य सूद्र जु कोइ ॥[7]

---

१. रामचन्द्रिका, पच्चीसवां प्रकाश, छन्द ३०
२. रामचन्द्रिका, पच्चीसवां प्रकाश, छन्द ३१
३. रामचन्द्रिका, पच्चीसवां प्रकाश, छन्द ३४
४. रामचन्द्रिका, छब्बीसवां प्रकाश, छन्द ६-९
५. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द, ९-१०
६. रामचन्द्रिका, छब्बीसवां प्रकाश, छन्द ८
७. रामचन्द्रिका, उन्तालीसवां प्रकाश छन्द, ३८

धर्म

यह भक्ति निष्काम हो तब तो कहना ही क्या ! किन्तु जनसामान्य प्रवृत्ति-मार्गी होता है। उसे निवृत्ति-मार्ग पर लाने का एक उपाय तो है उसकी प्रवृत्ति को जला डालना, दूसरा है उसकी प्रवृत्ति को उदात्त करके निवृत्ति पर लाना। हमारे यहां भक्ति का यह पौराणिक धरातल है जिसमें अनेक फलों की प्राप्ति द्वारा लोक की प्रवृत्ति को सत्यपथ पर डाला गया है। केशव की भी यही स्वीकृति है—

असेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाइ,
विदेह राज क्यों सदेह भक्त राम को कहाइ,
लहै सुभक्ति लोक लोक अन्त मुक्ति होहि ताहि।
पढ़ै कहै सुनै गुनै जु रामचन्द्र-चन्द्रिकाहि ॥[1]

यह आश्वासन भक्तशिरोमणि तुलसी ने भी दिया था।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव की भक्ति लोक-पक्ष-समन्वित है। लोक-समन्वित शक्ति ही सच्चे अर्थों में धर्म कहलाती है।

बाह्याधार

इस प्रकार की भक्ति में धर्म की अनेक बाह्य मान्यताएं स्थान पा लेती हैं। पूजा-पाठ, स्थान-तीर्थ, कर्मकाण्ड की विविध मान्यताएं, देवी-देवता, गीता-गाय, गंगा-गोदावरी सभी समाविष्ट हो जाती हैं। इस सबका चाहे कोई दार्शनिक उपयोग न हो किन्तु ये अभ्यास-मार्ग के पड़ाव हैं। इसी कारण तुलसी के व्यापक हृदय ने इन मान्यताओं को अपने भक्ति-मार्ग में स्थान दिया था और यही कारण है कि केशव ने भी अपने भक्ति-पंथ को असंकुचित रखते हुए सभी लोक-मान्यताओं को समाविष्ट कर लिया है। कुछ न सही तो चित्त-शुद्धि में इनका योगदान रहता है। वे वीरसिंह को उपदेश देते हुए 'विज्ञानगीता' में कहते हैं—

आदि देव पूजि पुंज राम नाम लीजई,
न्हान दान धर्म कर्म छद्म छाँड़ि कीजई।
सत्य बोलियै सदा विपत्ति संपदानि सो।
राज राज वीरसिंह चित्त शुद्ध होइ सो ॥[3]

ब्राह्मण-पूजा

केशव के अनुसार हरिभक्ति में ब्राह्मण-भक्ति साधन बनकर उपयोगिनी सिद्ध होती है—

---

१. रामचन्द्रिका, उन्तालीसवां प्रकाश, छन्द ३९
२. रामचरितमानस, नवलकिशोर प्रेस, नवम संस्करण १९४७, उत्तरकाण्ड, पृ० १०५१
३. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ४५

ब्रह्मभक्ति कीन्हे नृपति, उपजि परै हरिभक्ति
ताते पहिले ही तुम्हें हौं सिख ऊँ द्विजभक्ति ॥[१]

ब्राह्मणों के साथ गोपूजा भी हिन्दूधर्म का एक प्रधान अंग बन चुकी है—

बहु दान अनाथनि दे जु डरै द्विज गाइनि के दिन पाँइ परै ॥[२]

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने भक्ति-स्तोत्र लिखे हैं उसी प्रकार केशवदासजी ने भी भक्ति-स्तोत्र लिखे हैं, जिनमें केशव का भक्त-हृदय मुखरित हो उठा है। गंगा-सम्बन्धी स्तोत्र देखिए—

शिरश्चन्द्र की चन्द्रिका चारु हाशे,
महापातकी ध्वांत धाम प्रणाशे।
फणी दुग्धभावे अनंगादि अंगे,
नमो देवि गंगे नमो देवि गंगे ॥[3]

गंगा-महत्त्व भी इसी प्रकार कहा गया है।[४] इसी स्तोत्र-पद्धति पर विन्दुमाधव की स्तुति भी की गई है।[५]

शालिग्राम की पूजा पर भी बल दिया गया है—

पूजा शालिगराम की करि षोडष उपचार,
बन्दन आठहुँ अंग ते करत हुती तिहि काल ॥[६]

अवतारवाद

धर्म में सभी अवतारों की भी मान्यता है। गीता के अनुसार अवतार का हेतु है 'धर्म-संस्थापना'।[७]

केशव के आराध्य भी इसी हेतु से नाना अवतार धारण करते हैं—

मरजादहिं छोड़त जानत जाकों। तबहीं अवतार धरौ तुम ताकों।
तुम मीन ह्वै बेदन कों उधरो जू। तुमहीं धर कच्छप वेष धरो जू।
यहि भाँति अनेक सरूप तिहारे। अपनी मरजाद के काज सँवारे।[८]

कृष्णभक्ति

केशव की भक्ति में तुलसी के लोकमंगल-विधायक राम को तो पूर्ण स्थान मिला ही है, सूर के लोकरंजक कृष्ण का भी समावेश हुआ है। केशव के 'कविप्रिया' एवं 'रसिक-

---

१. विज्ञानगीता, उन्नीसवां प्रभाव छन्द २२
२. विज्ञानगीता, छठवां प्रभाव, छन्द २३
३. विज्ञानगीता, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ४०
४. विज्ञानगीता, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ४८
५. विज्ञानगीता, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २३
६. विज्ञानगीता, आठवां प्रभाव, छन्द ४६
७. श्रीमद्भगवत्गीता, चतुर्थ अध्याय, श्लोक ७
८. रामचन्द्रिका, बीसवां प्रभाव, छन्द १६, २३

प्रिया' के उदाहरणों में गोपी-कृष्ण के भावुक शृंगारी रूप को ही विस्तृत रूप में दिखाया गया है। यद्यपि वहां उनका चित्रण किसी भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा के लिए नहीं हुआ, शुद्ध काव्यात्मक रूप में ही हुआ है। यह ठीक है कि राधाकृष्ण का यह रूप लोक-बाह्य ही है, किन्तु इस लोक-बाह्य रूप की प्रतिष्ठा, हम देखते हैं, केशव से पहले सूर द्वारा ही हो चुकी थी। कृष्ण के शृंगारी रूप के दूसरे भक्ति-सम्बन्धी पक्ष को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशवदासजी ने भक्ति को बड़े व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है, जिसमें विशाल हिन्दूधर्म अपनी समस्त मान्यताओं के साथ प्रतिफलित हुआ है। एक ओर योग की प्रक्रियाएं चित्त-शुद्धि के लिए साधन रूप में स्वीकार की गई हैं तो दूसरी ओर पूजा, जप, स्नान, दान, कर्मकाण्ड सभी कुछ चित-शुद्धि में सहायक समझा गया है। भक्ति द्वारा विवेक और विवेक द्वारा भक्ति का पोषण होता है। भक्ति सरस एवं सरलतम पथ है, जिसकी कृपा से जीव मुक्ति-पथ की ओर सहज ही बढ़ सकता है।[1] इस प्रकार वे भक्ति को स्पष्ट ही साधन कोटि ही मे मानते हैं।[2]

यहां हमें सूर, तुलसी और केशव के दृष्टिकोण का अन्तर मिल जाता है। केशव के वर्णन में भक्ति को यद्यपि पूर्ण स्थान मिला है, किन्तु उससे अधिक उन्होंने ज्ञान और विवेक को महत्त्व दिया है, जबकि सूर-तुलसी में ज्ञान-विवेक के महत्त्व की स्वीकृति होते हुए भी उनकी कठिनता और अपनी अवशता के आधार पर भक्ति को प्रमुखता दी गई है। अतः सूर-तुलसी भक्त-ज्ञानी हैं, केशव ज्ञानी-भक्त। सूर-तुलसी भक्त कवि हैं, केशव कवि-भक्त। सूर-तुलसी भक्ति के कवि हैं, केशव भक्ति के आचार्य।

फिर भी हम देखते हैं कि केशव का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक है। उसमें दर्शन, भक्ति एवं धर्म का बड़ा व्यवस्थित एवं सुन्दर सामंजस्य दिखाई पड़ता है। उनके धर्म को भक्ति ने हृदय दिया है, दर्शन ने ज्ञान और इस सामंजस्य में हिन्दूधर्म के 'सब कुछ' को अपने अनुरूप 'उचित' स्थान प्राप्त हुआ है। केशव का यह जीवन-दर्शन वस्तुतः सुदीर्घकालीन भारतीय संस्कृति का जीवन-दर्शन है।

---

१. वीरसिंह नृपसिंह मणि, मैं बरणी हरिभक्ति,
जाहि सुने सहसा सुमति, ह्वै है पाप विरक्ति।
जीत्यो मोह विवेक ज्यों, पाइ बोध को भेव।
त्यों तुम जीतौ शत्रु सब, राजवीरसिंहदेव॥
—विज्ञानगीता, प्रभाव इक्कीसवां, छन्द, ५२–५३

२. भक्तियोग की भूमिका इहि विधि साधन साधु।
होत पार संसार के यदपि अनंत अगाधु॥
—विज्ञानगीता, बीसवां प्रभाव, छन्द ५१

पंचम परिच्छेद

केशव का आचार्यत्व

आचार्यत्व का क्षेत्र

यों तो केशव के पूर्व ही हिन्दी में साहित्यशास्त्र के कई अंगों रस, नायिका-भेद, अलंकार पर अलग-अलग कुछ कार्य हुआ था, किन्तु उसके सभी अंगों को लेकर सांगोपांग निरूपण हिन्दीसाहित्य में सर्वप्रथम आचार्य केशवदास द्वारा ही हुआ। वे इस दृष्टि से हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। आचार्यत्व-सम्बन्धी उनकी तीन रचनाएं हैं—रसिकप्रिया, कविप्रिया एवं छन्दमाला। 'रसिकप्रिया' रस-सम्बन्धी, 'कविप्रिया' अलंकार-सम्बन्धी एवं 'छन्दमाला' छन्द-सम्बन्धी रचना है। इन ग्रन्थों के विषय-विवेचन से ही केशव के व्यापक आचार्यत्व के क्षेत्र का अनुमान हो सकेगा।

रसिकप्रिया

इसमें सोलह प्रभाव हैं, जिनके नाम तथा विषय-विवेचन का क्रम इस प्रकार है—

प्रभाव	नाम	विषय
१.	प्रच्छन्नप्रकाशसंयोगवियोगवर्णनम्	'रसिकप्रिया' की रचना का उद्देश्य। नवरस में शृंगार का नायकत्व। शृंगार के दो भेद—संयोग, वियोग। दोनों के दो प्रकार प्रच्छन्न एवं प्रकाश।
२.	चतुर्विधनायकप्रच्छन्नप्रकाशवर्णनम्	नायक के चार प्रकार—अनुरूप, दक्षिण, शठ और धृष्ट, उनके प्रच्छन्न-प्रकाश एवं भेद।
३.	स्वकीया-परकीयादिभेदवर्णनम्	नायिका-जाति-वर्णनम्, जिसमें पद्मिनी चित्रणी, शंखिनी, हस्तिनी आदि नायिकाओं के भेद किए गए हैं।
४.	चतुर्विधदर्शनप्रच्छन्नप्रकाशवर्णनम्	साक्षात् दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, श्रवण दर्शन। नायक एवं नायिकागत प्रच्छन्न-प्रकाश रूप से दर्शन-भेद।
५.	श्रीराधाकृष्णचेष्टादर्शनमिलनवर्णनम्	नायक-नायिका की विभिन्न चेष्टाएं एवं उनके विभिन्न मिलन-स्थान।

प्रभाव	नाम	विषय
६.	राधिकाकृष्ण-हावभाववर्णनम्	भाव का सामान्य लक्षण एवं भेद; विभाव–आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव–स्थायी, सात्त्विक, व्यभिचारी, आदि रस-सामग्री तथा हावों के लक्षण तथा भेद।
७.	अष्टनायिकासंयोगशृंगारवर्णनम	नाट्यशास्त्र की प्रणाली पर नायिका की अवस्था के आधार पर स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद व उनके प्रच्छन्न एवं प्रकाश रूप। गुणों के आधार पर उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा नामक तीन भेद।
८.	विप्रलम्भशृंगारपूर्वानुरागवर्णनम्	विप्रलम्भ के चार भेद––पूर्वानुराग, करुण, मान एवं प्रवास। पूर्वानुराग का सविस्तार वर्णन एवं तद्भव अभिलाषा चिन्ता दश दशाएं।
९.	विप्रलम्भशृंगारमानवर्णनम्	मान के तीन भेद—गुरु, लघु, मध्यम; नायक-नायिकागत प्रच्छन्न-प्रकाश रूप।
१०.	विप्रलम्भशृंगारमानमोचनवर्णनम्	मान-मोचन के उपाय––साम, दान, भेद, प्रणीत, उपेक्षा, प्रसंग विध्वंस। इनके नायक-नायिकागत तथा प्रच्छन्न-प्रकाशगत भेद।
११.	विप्रलम्भशृंगारकरुणप्रवासवर्णनम्	करुण रस, प्रवास विरह, उसके भेदोपभेद।
१२.	सखीजनवर्णनम्	धाई आदि सखियों का वर्णन।
१३.	सखीजनकर्मवर्णनम्	शिक्षा, विनय आदि कर्म।
१४.	नवरसवर्णनम्	शृंगारेतर रसों के शास्त्रीय लक्षण एवं शृंगार में उनका अन्तर्भाव।
१५.	चतुर्विधकवित्ववृत्तिवर्णनम्	केशिकी, भारती, आरमरी एवं सारवती।
१६.	अनरसवर्णनम्	प्रत्यनीक, नीरस आदि रसदोष।

कविप्रिया

इसमें भी सोलह प्रभाव हैं जिनका विषय-क्रम इस प्रकार है—

प्रभाव	नाम	विषय
१.	राजवंशवर्णनम्	कविप्रिया की रचना-तिथि, राजा इन्द्रजीत सिंह का वंशवर्णनम्, कविप्रिया का रचना-उद्देश्य।

प्रभाव	नाम	विषय
२.	कविवंशवर्णनम्	केशव का वंश-वृक्ष
३.	कवित्तदूषणवर्णनम्	काव्य में निदाषता की अनिवार्यता, अंध, बधिर, पंगु, नाग, मृतक आदि काव्य-दोष, अगण, हीन-रस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, क्रमहीन, कर्णकटु, पुनरुक्त, देशविरोध, कालविरोध, निगम-विरोध, न्याय-आगम-विरोध वर्णन।
४.	कविव्यवस्थावर्णनम्	उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के कवि, कवि-रीतियां एवं कवि-प्रसिद्धियां।
५.	श्वेतादिवर्णवर्णनम्	काव्य में अलंकार का स्थान, अलंकार के दो भेद––सामान्य, विशेष। सामान्य के चार भेद––वर्ण, वर्ण्य, भूश्री, राजश्री। वर्णालंकार के सात भेद–श्वेत, पीत, कृष्ण, अरुण, धूमर, नील एवं मिश्र।
६.	वर्ण्यालंकारवर्णनम्	सम्पूर्ण आवर्त आदि अट्ठाईस प्रकार के वर्ण्य-विषयों जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यात्मक की तालिका।
७.	भूश्रीवर्णनम्	देश, नगर, वन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, सरोवर, षड्ऋतु आदि प्राकृतिक वर्ण्य विषय।
८.	राज्यश्री वर्णनम्	राजा, रानी, मंत्री, संग्राम, आखेट आदि राज-सम्बन्धी वर्ण्य-विषय।
९.	विशिष्टालंकारवर्णनम्	स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा।
१०.	विशिष्टालंकारवर्णनम्	आक्षेप एवं उसके भेद, शिक्षाक्षेप, बारह-मासे की शैली पर।
११.	विशिष्टालंकारवर्णनम्	क्रम, गणना। एक से दस तक गणना के भेद। आशिष, प्रेमाश्लेष, उसके भेद, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, रसवत्, उसके भेद अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति।
१२.	विशिष्टालंकारवर्णनम्	वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, सहोक्ति, व्याजस्तुति, निन्दा, अमित, पर्यायोक्ति एवं युक्त।

प्रभाव	नाम	विषय
१३.	विशिष्टालंकारवर्णनम्	समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, प्रहेलिका एवं परिवृत्त।
१४.	विशिष्टालंकारवर्णनम्	उपमा एवं उसके भेद।
१५.	नखशिखवर्णनम्	समस्त वनिताओं का विभिन्न उपमाओं के साथ निरूपण। यमक और उसके भेद।
१६.	चित्रकाव्यवर्णनम्	चित्रकाव्य एवं उसके भेद।

छन्दमाला

वैसे तो केशवदासजी ने अपने काव्यों में स्वयं अनेक प्रकार के मात्रिक एवं वार्णिक छन्दों का प्रयोग किया है। किन्तु भाषा-कवियों को शिक्षा देने की दृष्टि से उन्होंने 'छन्दमाला' में एकाक्षर से लेकर २६ अक्षर पादवाले ७६ वार्णिक छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किए है। मात्रिक छन्दों की रचना में सामान्य विद्यार्थी को बड़ी कठिनता होती है। उनके गण-नियम अलग हैं तथा उन गणों में परस्पर शत्रु, मित्र, उदासीन का, मंगल-अमंगल का झगड़ा है। अपनी छंदमाला में आचार्य केशव ने वह सब बचाकर कालिक आवश्यकता को समझा था। वार्णिक छन्दों में भी उन्होंने षडक्षर से लेकर षोडशाक्षर पादिक छन्दों के ही अधिक भेद दिखाए हैं या फिर कुछ बड़े छन्दों के। २६ अक्षरों से अधिक पादवाले छन्दों का सामान्य नाम दण्डक देकर उदाहरण-स्वरूप केवल एक ३२ अक्षर के अनंगशेखर को दिखा दिया है। इन समस्त छन्दों के लक्षण दोहों में तथा उदाहरण अपने-अपने छन्दों में दिए गए हैं। इन छन्दों को हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते है—

१. एकाक्षर	१. श्री
२. द्वयक्षर	२. नारायण
३. त्र्यक्षर	३. रमण
४. चतुरक्षर	४. तरणिजा, ५ मदन
५. पंचाक्षर	६. माया
६. षडक्षर	७. मालती, ८. सोमराजी, ९. शंकर, १०. बिज्जोहा, ११. मंथान, १२. सुखदा।
२. सप्ताक्षर	१३. कुमारललिता, १४. प्रमाणिका
५. अष्टाक्षर	१५. मल्लिका, १६. नगस्वरूपिणी, १७. मदनमोहिनी, १८. बोधक, १९. तुरगम
२. नवाक्षर	२०. नागस्वरूपिणी, २१. तोमर
४. दशाक्षर	२२. हरिणी, २३. अमृतगति, २४. तोमर, २५. संयुक्ता
४. एकादशाक्षर	२६. अनुकूला, २७. सुपर्णप्रयात, २८. इंद्रवज्रा, २९. उपेन्द्रवज्रा

१३.	द्वादशाक्षर	३०. मोतियदाम, ३१. तोटक, ३२. सुंदरी, ३३. मोदक, ३४. भुजंगप्रयात, ३५. तामरस, ३६. द्रुतविलम्बित, ३७. कुसुमविचित्रा, ३८. चन्द्रब्रह्म, ३९. मालती, ४०. वंशस्वनित, ४१. प्रमिताक्षरा, ४२. स्रग्विणी
३.	त्रयोदशाक्षर	४३. पंकजवटिका, ४४. तारक, ४५. कलहंस
३.	चतुर्दशाक्षर	४६. हरिलीला, ४७. वसन्ततिलका, ४८. मनोरमा
४.	पंचदशाक्षर	४९. मालती, ५०. सुप्रिय, ५१. निशिपालिका, ५२. चामर
३.	षोडशाक्षर	५३. नाराच, ५४. मनहरण, ५५. ब्रह्मरूपक
२.	सप्तदशाक्षर	५६. रूपमाला, ५७. पृथ्वी
१.	अष्टदशाक्षर	५८. चंचरी
२.	एकोनविंशाक्षर	५९. करुणा, ६०. मूल
१.	विंशाक्षर	६१. गीतिका
१.	एकविंशाक्षर	६२. धर्म
१.	द्वाविंशाक्षर	६३. मदिरा
३.	त्रयोविंशाक्षर	६४. विजय, ६५. सुधा, ६६. वसुधा
६.	चतुर्विंशाक्षर,	६७. माधवी, ६८. चन्द्रकला, ६९. अमल-कमल, ७०. मकरन्द, ७१. गंगोदक, ७२. तन्वी
३.	पंचविंशाक्षर	७३. विजया, ७४. मदन मनोहर, ७५. मानिनी
१.	विंशाक्षर	७६. हार
१.	२६ अक्षरों से अधिक के पदोंवाले छन्द का सामान्य नाम	७७. दण्डक
	३२ अक्षर	अनंगशेखर

रसिकप्रिया

केशव की इन तीनों रचनाओं के संक्षिप्त विषय-विवेचन से उनके आचार्यत्व के क्षेत्र का सहज अनुमान हो सकता है। इनमें उन्होंने विभिन्न काव्यांगों पर प्रकाश डाला है। भाषा का कार्य और कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उसका उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्य-दोष, अलंकार, रस, विभिन्न वृत्तियां आदि[1] काव्यांगों का समावेश उनके विवेचन में मिलता है। 'रसिक-प्रिया' काव्य-रसिकों के लिए रची गई है[2] जिससे सामान्य रसिक पाठक भी कविता के शास्त्रीय सौंदर्य का आनन्द उठा सकें, किन्तु 'कविप्रिया' की रचना कवि-शिक्षा के लिए हुई

---

१. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ५५

२. रसिकन को रसिकप्रिया कीनी केसवदास। —रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १२

है और प्रवीणराय जैसे काव्य-शिक्षार्थियों की प्रतीक है।[१] 'कविप्रिया' में केशव ने नौसिखिये कवियों के लिए वर्णन-पक्ष बताया है।[२] और 'रसिकप्रिया' द्वारा रसिकों को रस-रीति का परिचय,[३] फिर भी 'रसिकप्रिया' के काव्य-सिद्धान्तों का उपयोग कवियों के लिए भी है।[४] केवल 'वर्णन पथ दिखाने' तथा रस-रीति का परिचय कराने के उद्देश्यों से रची गई इन पुस्तकों में विश्लेषणात्मक एवं मीमांसात्मक आचार्यत्व नहीं पाया जाता। उसकी आवश्यकता ही नहीं थी और उसके लिए संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों का द्वार खुला था। किन्तु इन सिद्धान्तों का शिक्षक कितने गहरे में है और उसका अध्ययन कितना व्यापक एवं गहरा है, इन बातों का पता हम अवश्य चला सकते हैं। केशव के काव्य-सिद्धान्त संस्कृत-काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि से ही अवतरित हुए हैं। अतः डॉ० भगीरथ मिश्र का यह कथन यथार्थ है कि उनके मत से सहमति और विरोध की बात नहीं उठती।[५] किन्तु बात इतनी ही नहीं है। केशव ने केवल प्राचीन मतों की उद्धरणी ही नहीं की, उनके विषय में निजी दृष्टिकोणों से हेरफेर भी किए है। अतः जहां केशव प्राचीन मान्यताओं से मेल नहीं खाते, एक आलोचक की दृष्टि में उन स्थलों का अधिक महत्त्व होना चाहिए।

'रसिकप्रिया' में केशव शृंगार की रसराजता प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। अतः समस्त लक्ष्य-पदार्थो के लक्षणों में उन्होंने आवश्यकतानुसार एक हलकी मोड़ देकर अपने उद्देश्य की सिद्धि की है। इस दृष्टिकोण के कारण केशव के लक्षण परम्परा-प्राप्त लक्षणों से कहीं-कहीं भिन्न हो गए हैं। केशव अपने इस उद्देश्य को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देते हैं। रस विषय में आचार्यो की अनेक बौद्धिक स्फुरणाएं है, 'विविध विवेक विलास'[६] हैं, अनेक रस-भेद, नाना स्थायी संचारियों की योजना तथा विभिन्न रीति-वृत्तियां। केशवदासजी अपनी बुद्धि के अनुरूप उन सभी विवेक-विलासों को शृंगार की स्थायी वृत्ति रीति की गति के अन्तर्भूत करके प्रदर्शित करना चाहते है। इसी कारण 'रसिकप्रिया' रीतिकालीन शृंगारी रसिकों की गीता है।[७]

---

१. सबिता जू कविता दई ताकहँ परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया कीन्ही केसवदास॥
—कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ६१

२. बरनन पंथ बताय मै दीन्हों बुधि-अनुसार। —कविप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द ८८

३. बाढै रति मति अति परै, जाने सब रस रीति। —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १६

४. जैसे रसिक प्रिया बिना देखिय दिन दिन दीन।
त्यों ही भाषा-कवि सबै, रसिकप्रिया बिन हीन॥
—रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १५

५. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ५४

६. अति रति गति, मति एक करि, विविध विवेक विलास'
रसिकन कों रसिकप्रिया, कीनो केसवदास॥ —रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १२

७. स्वारथ परमारथ लहै, रसिकप्रिया की प्रीति। —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द, १६

केशव को सभी रसों की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत है।[1] वे इस विषय में भरत-परम्परा के पूर्ण अनुयायी हैं। चौदहवें प्रभाव में भी केशव ने सभी रसों का शृंगार में अन्तर्भाव दिखाकर प्रसंग-प्राप्त शम का एक स्वतन्त्र उदाहरण उपलक्षण-पद्धति पर देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि वे भोज की भांति सभी रसों का मूल शृंगार को नहीं मानते। हां, शृंगार की उस व्यापक क्षमता की वे घोषणा करते हैं, जिसमें सभी रसों की समाई है। यही शृंगार का रसराजत्व है, जिसके लिए 'रसिकप्रिया' का निर्माण हुआ है।[2]

केशव रस-ध्वनिवादियों के समान ही काव्य में इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। रस काव्य का आत्मभूत तत्त्व है।

ज्यों बिनु डीठि न सोभिजै, लोचन लोल विसाल।
त्योंही केसव सकल कवि, बिनु वानी न रसाल॥[3]

काव्य-रचना में सर्वप्रथम आवश्यकता है वर्ण्य-भाव में तल्लीन होने की, उसकी भावना की। इसीसे केशव को कवि से रस के प्रति तीव्र रुचि अपेक्षित है। केशव काव्य-रचना-पथ-पथिकों से साग्रह मांग करते हैं—

तातें रुचि सों सोचि पचि कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को, सुनत होइ वस चित्त॥[4]

केशव विश्वनाथ जैसे शुद्ध रसवादियों के समान "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" के समर्थक नहीं। ध्वनिवादियों के अनुरूप रस को सर्वोपरि स्थान देते हुए भी विशिष्ट अर्थ को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी कारण नीरस चित्रकाव्य को भी वे काव्य कह सके हैं। वे अर्थहीन काव्य को ही मृतक कहते हैं।[5] रस को भी वे विभावानुभावसंचारी के संयोग से व्यंजित स्थायी मानते हैं।[6] यह मान्यता भी अभिनवगुप्त के आधार पर है। उनकी दृष्टि में काव्य शब्द और अर्थ के सामंजस्य में है, कोरे शब्दों में नहीं। इसीलिए अर्थरहित शब्द-काव्य को उन्होंने मृतक कहा है। यह मान्यता मम्मट के नितान्त समीप है।[7] इस प्रकार उनके समय तक जो ध्वनिवादी मान्यताएं स्थिर हो चुकी

---

१. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १५

२. नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार, सबको 'केसवदास' हरि नायक है शृंगार॥
—रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १६

३. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १३

४. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १४

५. मृतक कहावै अर्थ बिनु 'केसव' सुनहु प्रवीन। —कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ७

६. मिल विभाव अनुभाव पुनि संचारी सु अनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो सोई रस सुख रूप॥
—आचार्य कवि केशव, प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा, पृ० १३६

केशव ने रसिकप्रिया में रस को विभाव, अनुभाव, संचारीभावों द्वारा प्रकाशित स्थायीभाव कहा है। —हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १७

७. तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सूत्र १

हैं, उनका वे आदर करते हैं।

शृंगार के परम्परा-प्राप्त संयोग एवं वियोग दो भेद केशव को मान्य हैं।[१] इसके साथ ही वे लगभग प्रत्येक को प्रच्छन्न और प्रकाश दो भागों में बांटते हैं। नायक-नायिका एवं अन्तरंग सखियों तक ही जिसकी जानकारी सीमित रहे, उसे प्रच्छन्न-शृंगार तथा जो जनसाधारण की जानकारी में आ जाए वह प्रकाश शृंगार कहा गया है।[२] हमारे विचार से सामग्री द्वारा स्थायीभाव की अनभिव्यक्ति अथवा अभिव्यक्ति से इन भेदों का कोई सम्बन्ध नहीं, जैसाकि कुछ विद्वानों ने समझा है।[3] इन भेदों का आधार कोई मनोवैज्ञानिक नहीं।

नायक-भेद

दूसरे प्रभाव से पांचवें प्रभाव तक शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका-भेद का विस्तार है। नायिका-भेद रीतिकालीन आचार्यत्व एवं कविता का एक विशिष्ट अंग बन गया था। केशव के पूर्व से ही उसपर अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। केशव ने नायक को प्राचीन आचार्यों के समान ही उदात्त एवं ललित गुणों से युक्त माना है। उनके अनुसार नायक अभिमानी, त्यागी, तरुण, कोककला-प्रवीण, भव्य, क्षमावान, सुन्दर, धनी, शुचि-रुचि, कुलीन होना चाहिए।[४] नायक के इन सामान्य गुणों में केशव ने किसी आचार्य का अनुवाद नहीं किया। यत्र-तत्र धनंजय[५] तथा विश्वनाथ[६] को आधार अवश्य माना है।

---

१. सुभ संजोग वियोग पुनि द्वै सिंगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि, दोऊ द्वै-द्वै भाँति ॥
—रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १८

२. सो प्रच्छन्न सँजोग अरु, कहैं वियोग प्रमान।
जानैं पीउ प्रिया कि सखि होइ जु तिनहिं समान ॥
—रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १९

सो प्रकास संजोग अरु कहैं प्रकास वियोग।
अपने-अपने चित्त में जानैं सिगरे लोग ॥
—रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द २१

३. यथार्थ में प्रच्छन्न को तो रस की संज्ञा ही प्राप्त नही होती, क्योंकि स्थायीभाव जब विभाव अनुभाव एवं संचारीभावों द्वारा व्यक्त होता है तभी रस-दशा तक पहुंचता है।
—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ६८

४. अभिमानी त्यागी तरुन कोककलानि-प्रवीन, भव्य छमी सुन्दर धनी सुचि-रुचि सदा कुलीन
ये गुन केसव जासु में सोई नायक जानि, अनुकुल दछ सठ धृष्ट पुनि चौविधि ताहि बखानि।
—रसिकप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १, २

५. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ —दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, श्लोक १, २

६. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्य शीलवान् नेता ॥ —साहित्यदर्पण, ३।५

नायिका-सम्बन्ध से उन्होंने भी अनुकूल, दक्ष, शठ और धृष्ट चार प्रकार के नायक माने हैं। उन्होंने धीरोदात्त आदि के अलग भेद नहीं किए।

नायिका-भेद

तीसरे प्रभाव से नायिका-भेद प्रारम्भ होता है। केशव ने नायिका-भेद चार आधारों पर किया है जाति, कर्म, अवस्था तथा प्रकृति। नायिका-भेद के विषय में केशव ने भरत के 'नाटचशास्त्र', धनंजय के 'दशरूपक', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा भानुदत्त के 'रसमंजरी' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से ही सहायता नहीं ली अपितु वात्स्यायन के 'कामसूत्र' को भी आधार बनाया है। 'कामसूत्र' के उपयोग के कारण केशव का नायिका-भेद अधिक कामशास्त्रीय एवं पूर्ण हो गया है। जाति के आधार पर उन्होंने पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी एवं हस्तिनी नामक चार भेद किए हैं। इनका उल्लेख कल्याणमल्ल के अनंगरंग में भी पाया जाता है। केशव के लक्षण शास्त्रीय हैं[1] एवं उदाहरणों में सामंजस्य है। इसके अनन्तर केशव नायिका के सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर तीन भेद करते हैं—स्वकीया, परकीया एवं सामान्या।[2] उनमें सामान्या का विवेचन अनुचित समझकर केशव ने छोड़ दिया है। रीतिकाल का प्रारम्भ ही तो था, आगे चलकर इसका भी सविस्तार विवेचन होने लगा था। स्वकीया मुग्धा, मध्या एवं प्रौढ़ा तीन प्रकार की होती हैं।[3] मुग्धा के नववधू, नवयौवना, नवल-अनंगा एवं लज्जाप्राया चार भेद किए

---

१. अ—स्थूला पिंगल कुन्तला च बहु भुक् क्रूरात्र या वर्जिता,
गौरांगी कुटिलांगुली चरणयोर्ह्रस्वोन्नमत्कन्धरा।
विभ्रत्यैभ मदाम्बुगन्धिभग निजं तोयं भृशं मन्दगा।
दुःसाध्या सरतेति गद्गदरवा स्थूलौष्ठिका हस्तिनी॥ —अनंगरंग, पृ० सं० ४।१७

आ—थूल अंगुरी चरन मुख अधर भृकुटि कटि बोल।
मदन सदन रद कंधरा मंद चालि चित लोल॥
स्वेद मदन-जल द्विरद-मद गंधित भूरे केस।
अति तीछन बहु लोम तन, मनि हस्तिनि इम भेस॥
—रसिकप्रिया, तीसरा प्रभाव, छन्द ११, १२

इ—सब देह भई दुरगंधमई मति अंध दई सुख पावत कैसे।
कछु साल तें लोम बिसाल से हैं श्रुति ताड़न केसव बोल अनैसे॥
अलि ज्यों मलिनी नलिनी तजि कै करिनी के कपोलनि मंडित तैसे।
छिति छोड़ि कै राजिसिरी बस पाप निरै-पद राज बिराजत जैसे॥
—रसिकप्रिया, प्रभाव ३, छन्द १३

२. ता नायक की नायिका ग्रंथनि तीन प्रमान। स्वीया परकीया अवर, स्वीया परकीया न॥
—रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १४

३. संपति विपति जो मरत हू सदा एक अनुहारि।
ताहि सुकीया जानिये मन-क्रम-बचन विचारि॥
मुग्धा मध्या प्रौढ़ गति, तिनकी तीनि विचारि।
एक एक की जानियहु, चारि चारि अनुहारि॥—रसिकप्रिया, तोय प्रभाव, छन्द १५, १६

हैं।[१] मध्या के भी आरूढ़-यौवना, प्रगल्भ-वचना, प्रादुर्भूत-मनोवेग एवं सुरति-विचित्रा[२] तथा प्रौढ़ा के समस्तरस-कोविदा, चित्र-विभ्रमा, अत्याक्रान्ता-नायका एवं लुब्धा-पति भेद होते हैं।[3] मध्या नायिका के धीरा, अधीरा एवं धीरा-अधीरा[४] तीन भेद किए गए हैं। इसके साथ ही सात बहिःरतियां[५]—आलिंगन, चुम्बन आदि तथा सात अन्तर रतियां[६]—स्थिति, तिर्यक् आदि, षोडश शृंगारों[७] तथा सुरतान्त का भी सांकेतिक वर्णन है, जिसमें 'कामसूत्र' एवं कोकशास्त्रों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर केशव ने अपने नायक में 'कोककला-प्रवीण' गुण होना बताया है। यह सब जंजाल स्वकीया का है। इसके उपरान्त परकीया के दो भेद, ऊढ़ा एवं अनूढ़ा, किए गए हैं।

सातवें प्रभाव में 'नाट्यशास्त्र' की प्रणाली पर नायक-संबंध से अवस्थानुसार नायिकाओं के आठ भेद—स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसज्जा, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषितप्रेयसी, विप्रलब्धा एवं अभिसारिका किए हैं। ये भेद और इनके लक्षण संस्कृत-आचार्यों से परम्परागत प्राप्त हैं। इनके प्रच्छन्न-प्रकाशगत भेद दिखाए गए हैं। केशव ने अभिसारिका के प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका, कामाभिसारिका तीन भेद किए हैं जो उनके अपने हैं। अभिसार को उन्होंने स्वकीया एवं परकीयागत भी दिखाया है।

चौथा आधार प्रकृति का है। केशव ने इस आधार पर उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा तीन प्रकार की नायिकाएं और दिखाई हैं। यह वर्गीकरण नायिका की मानिनी प्रकृति के आधार पर है जो उसके स्वभाव से सम्बन्ध रखता है।

इन नामों एवं लक्षणों में से अनेक विभिन्न आचार्यों से ज्यों के त्यों मिल जाते हैं, कुछ में यत्किंचित् अन्तर पाया जाता है, जिसे केशव ने कहीं तो एक से अधिक आचार्यों के लक्षणों को मिलाकर और कहीं अपनी कल्पना से किया है। किन्तु इनके विषय में डॉ० भगीरथ मिश्र की सम्मति ठीक ही है कि काव्यशास्त्र की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व

---

१. नवलबधू नवयौवना, नवलअनंगा नाम।
लज्जा लियें जु रति करै, लज्जाप्राय सुबाम ॥ —रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १७

२. मध्या आरुढ़ यौवना, प्रगलभवचना जानि।
प्रादुर्भूत-मनोभवा, सुरति-विचित्रा आनि ॥ —रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ३२

३. सुनि समस्तरस-कोविदा, चित्र-विभ्रमा जाति।
अति आक्रामित-नायका लुब्धापति सुभ भाँति ॥ —रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ५०

४. सिगरी मध्या तीन बिधि धीरा और अधीर।
धीराधीरा तीसरी, बरनत हैं कबि धीर ॥ —रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४५

५. आलिंगन, चुम्बन, परस, मर्दन, नख-रद-दान।
अधर-पान सो जानिये बहिरति सात सुजान ॥ —रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४१

६. थिति, तिर्यक, सनमुख, विमुख, अध, ऊरध, उत्तान।
सात अंतररति समुझिये 'केसवराइ' सुजान ॥ —रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४२

७. देखिए रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४३

नहीं।[१] कुल मिलाकर केशव ने तीन सौ आठ प्रकार की नायिकाएं दिखाई हैं। प्रच्छन्न-प्रकाशगत भेद से केशव सर्वत्र विस्तार करते चले हैं।[२] द्रष्टव्य यह है कि केशव ने सामान्या को तो नितान्त छोड़ा ही है, साथ ही साथ परकीया के भी अधिक भेदोपभेद नहीं किए। स्वकीया पर ही पूर्ण रूप से विचार किया है। नायिका-भेद के प्रसंग में ही चतुर्थ एवं पंचम प्रभाव में दर्शन-चेष्टा एवं मिलन-स्थान का प्रसंग आता है। दर्शन चार प्रकार के बताए गए हैं—प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, श्रवण दर्शन। एक-दूसरे को देखकर 'सकाम शरीर' होने में इन दर्शनों का उपयोग है।[3] अतः ये विभाव-पक्ष के ही अंग हैं। नायकगत एवं प्रच्छन्न तथा प्रकाश-भेद से इनके उपभेद किए गए हैं। इनका उल्लेख भी संस्कृत-आचार्यों ने किया है।[४] दर्शन-श्रवण के फलस्वरूप संरूढ़राग नायिकाओं में रति-प्रकाशनात्मक[५] चेष्टाओं का उदय होता है। नायिका के आश्रयत्व को ध्यान में रखकर इन चेष्टाओं का स्थान अनुभाव का है, और प्रतिक्रियास्वरूप नायक में जो रति जागरित होनेवाली है उसकी दृष्टि से ये चेष्टाएं विभाव के अंगभूत उद्दीपन कहलाएंगी। जब इन सामान्य उपायों से मिलन सफल नहीं होता तो नायक-नायिका स्वयं-दूतत्व पर उतर आते हैं।[६] किन्तु यह उपाय नायिकाओं में से केवल ऊढ़ा द्वारा ही होता है,[७] अनूढ़ा के लिए तो सखियां ही उपाय हैं।[८] फिर प्रथम मिलन के स्थान बताए गए हैं। दासी, सखी, दाई का घर, कोई अन्य सूना घर, रात्रि, अत्यन्त भय, उत्सव, व्याधि के बहाने निमन्त्रण या वन-विहार में नायक-नायिका को मिलन-अवसर

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ६८

२. देखिए रसिकप्रिया, सप्तम प्रभाव

३. ये दोऊ दरसें दरस होहिं सकाम सरीर।
दरसन चारि प्रकार को बरनत हैं कबि धीर॥
एक जु नीकें देखिए दूजे दरसन चित्र।
तीजे सपनें देखिये चौथे श्रवननि मित्र॥ —रसिकप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द १, २

४. श्रवणाद्दर्शनाद्वापिमिथः संरूढरागयोः,
दशाविशेषों योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते।
श्रवणन्तु भवेत्तत्र दूतवन्दिसखीमुखात्,
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात् स्वप्ने च दर्शनम्॥ —साहित्यदर्पण, ३।१९२, ९३

५. पिय सों प्रगटन प्रीति कहं जितने करैं उपाइ।
ते सब 'केसोदास' अब बरने सबनि सुनाइ॥ —रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द ४

६. जो क्यों हू न मिलें कहूँ 'केसव' दोऊ ईठ।
तो तब अपने आपहीं बुधिबल होत बसीठ॥ —रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द १३

७. ऊढ़ा पुनि यहि भांति करि बहु विधि हितनि जनाइ।
आपुन ही तें लाज तजि पियहिं मिले अकुलाइ॥ —रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द १९

८. अधिक अनूढ़ा लाज तैं पिय पे जाइ न आप।
क्यों हू करि सखियै कहैं ताके उर को ताप॥ —रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द २२

मिलता है।[1]

केशव के इस सांगोपांग नायिका-भेद-वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने 'रसिकप्रिया' में श्रृंगार को किस प्रकार विस्तार देने का प्रयत्न किया है। आज के युग में चाहे इन श्रृंगारिक अंगों का कोई महत्त्व न हो, किन्तु रीतिकाल की वीणा की झंकृतियां यही थे। उनका गम्भीर विश्लेषण करनेवाला बड़ा आचार्य नहीं था, उनका सांगोपांग भेद करनेवाला अधिक प्रतिष्ठा-भाजन था। केशव का आचार्यत्व इस कसौटी पर भी खरा है।

श्रृंगार के दो भेदों, संयोग एवं वियोग, में प्रायः आचार्य लोग संयोग के भेदों में नहीं पड़े। वास्तव में उसके परस्पर अवलोकन-आलिंगन आदि के आधार पर न जाने कितने भेद किए जा सकते हैं। अतः वे उसका एक भेद गिनना पसन्द करते हैं।[2] केशवदासजी ने भी संयोग के भेद नहीं किए किन्तु उसका व्यापक विस्तार नायिका-भेद के माध्यम से अवश्य प्रस्तुत कर दिया है।

प्रियतम एवं प्रियतमा के बिछुड़ने पर विप्रलम्भ श्रृंगार होता है।[3] यह लक्षण परिचयात्मक-मात्र है। विप्रलम्भ केशव के अनुसार चार प्रकार का होता है। पूर्वानुराग, मान, करुण एवं प्रवास। नायक-नायिका के परस्पर दर्शन होने पर अनुराग तो उत्पन्न हो जाता है किन्तु फिर न मिलने पर पूर्वराग विप्रलम्भ होता है।[4] इसी पूर्वराग के प्रसंग में केशव ने अभिलाष, चिन्ता, गुण-कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता एवं मरण—दस विरह-दशाएं गिनाई हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी इनका उल्लेख पूर्वराग के ही प्रसंग में किया है। इनके भी नायक एवं नायिकागत प्रच्छन्न-प्रकाशरूप से एक-एक के चार भेद किए गए हैं किन्तु अजर-अमर नायक की मरण दशा का उदाहरण उन्होंने नहीं दिया।[5] सामान्यतः भी उसका निषेध है।[6]

---

१. जनी सहेली धाइ घर सूने घर निसि चार।
अति भय उत्सव व्याधि मिस न्योते सु बन-विहार॥
इन ठौरनि ही होतु है प्रथम मिलन संसार।
केसव राजा रंक कौ रचि राखे करतार॥

—रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द २४-२५

२. तत्र श्रृंगारस्य द्वौ भेदौ। संयोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते। —का० प्र०, पृ० १००

३. बिछुरत प्रीतम प्रीतमा होत जु रस तिहिं ठौर।
विप्रलम्भ सिंगार कहि, बरनत कवि सिरमौर॥

—रसिकप्रिया, आठवां प्रभाव, छन्द १

४. देखिए साहित्यदर्पण, ३।१८३

५. मरन सु 'केसवदास' पै बरन्यो जाइ न मित्र।
अजर अमर जस कहि कहौं कैसें प्रेत चरित्र॥

—रसिकप्रिया, आठवां प्रभाव, छन्द ५४

६. देखिए साहित्यदर्पण, ३।१८६

विप्रलम्भ का दूसरा भेद है मान। स्नेहाधिक्य से अभिमान का जन्म होता है, और उससे मान होता है।[1] यह गुरु, लघु, मध्यम तीन प्रकार का होता है जोकि नायक-नायिका के प्रच्छन्न-प्रकाश-भेद से प्रत्येक चतुर्विध हो जाता है। दसवें प्रभाव में इस मान को छुड़ाने के उपाय बताए गए हैं। साम, दाम, भेद, प्रणति, उपेक्षा एवं प्रसंग-विध्वंस मान-मोचन के उपाय हैं। दण्ड से रस-हानि होती है।[2] विश्वनाथ ने भी छः उपायों का उल्लेख किया है।[3]

तृतीय करुणा-विरह है। सामान्यतः करुण विप्रलम्भ तब होता है जब नायक-नायिका में से एक की मृत्यु हो जाती है, किन्तु मिलन की आशा बनी रहती है और दैव-योग से मिलन हो जाता है।[4] किन्तु राधा-राधारमण के विषय में केशव इस प्रकार के करुण विप्रलम्भ की कल्पना नहीं कर सकते थे। अतः वे अपने करुणा-विरह का लक्षण इस प्रकार देते हैं कि जब सुख के सभी उपाय छूट जाएं, उस निराशा में करुणा का उद्रेक स्वभावतः ही हो जाता है, वही करुण विप्रलम्भ है।[5] द्रष्टव्य है कि यह करुण विप्रलम्भ सुख-उपायों के अभाव में आया है न कि प्रिय-नाश से जो कि करुणरस का क्षेत्र है। 'रसिकप्रिया' का एक विशिष्ट उद्देश्य होने के कारण ऐसे ही स्थलों में केशव के लक्षण संस्कृत-आचार्यों से भिन्न हो गए हैं और यही उनकी मौलिकता है।

चतुर्थ प्रवास-विरह है जो प्रिय के परदेशगमन पर होता है।[6] इसकी चार अवस्थाएं होती हैं—विभ्रम, अनिद्रा, भय एवं विरह-निवेदन।[7] बारहवें प्रभाव में केशव ने सखी-जनों का वर्णन किया है, जिसमें धाइजनी, नाइन, नटी, पड़ौसिन, मालिन आदि

---

१. पूरन प्रेम प्रताप तें, उपजि परतु अभिमान।
ताकी छबि के लोभ तें 'केसव' कहियत मान॥
—रसिकप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १

२. साम दान भनि भेद पुनि, प्रनति उपेच्छा मानि।
पुनि प्रसंग-बिध्वंस अरु, दण्ड होइ रस-हानि॥
—रसिकप्रिया, दसवां प्रभाव, छन्द २

३. देखिए साहित्यदर्पण, ३।२०५

४. देखिए साहित्यदर्पण, ३।२११

५. छूटि जात 'केसव' जहां सुख के सबै उपाय।
करुना रस उपजत तहां, आपुन तें अकुलाय॥
—रसिकप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द १

६. 'केसव' कौनहु काज तें पिय परदेसहिं जाइ।
तासों कहत प्रवास सब कवि-कोविद समुझाइ॥
—रसिकप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द १

७. रसिकप्रिया, ११।१३

हैं,[1] जिनमें रीतिकाल की कुटिनियों का केशव ने अच्छा दिग्दर्शन कराया है। तेरहवें प्रभाव में भी यही विषय चलता है, जिसमें दिखाया गया है कि ये सखियां किस प्रकार अपने काम बनाती हैं—

सिक्षा विनय मनाइबो, मिलिवो करि सिंगार।
झुकि अरु देइ उराहनो, यह तिनके व्यवहार ।।[2]

इस प्रकार शृंगार के स्थूल अंगों का वर्णन समाप्त होता है। चौदहवें प्रभाव में शृंगार की व्यापकता एवं रसराज की प्रतिष्ठा है, जिसे हम आगे देखेंगे।

पन्द्रहवें प्रभाव में वृत्तियों का वर्णन है। वृत्तियां चार होती हैं—केशिकी, भारती, आरभटी एवं सात्वती। केशव के अनुसार वृत्ति रस-वर्णन की शैली है। इन वृत्तियों का मूल भी भरत का 'नाट्यशास्त्र है', किन्तु वहां इनकी व्याख्या अभिनय के सम्बन्ध से ही हुई है। दशरूपककार ने भी विभिन्न रसों के विभिन्न प्रकार के अभिनयों से वृत्तियों का सम्बन्ध जोड़ा है और नायक के व्यापार को वृत्ति कहा है।[3] परन्तु केशव का दृष्टि-कोण पाठ्य-काव्यपरक है, अतः उन्होंने इन वृत्तियों का सम्बन्ध रसाभिनय के स्थान पर रस-वर्णन से जोड़ दिया है। संस्कृत-आचार्यों ने ऐसा नहीं किया। केशव के अनुसार हास्य, करुण एवं शृंगार कोमल रसों का सम्बन्ध केशिकी से है, जिसमें सरल वर्ण होते हैं। वीर, अद्भुत, हास्य, मध्यम कोटि के रसों का सम्बन्ध भारती से है। रौद्र, भय, बीभत्स, कठोर रस यमकादि के शब्दाडम्बर के साथ आरभटी में आते हैं तथा अद्भुत, वीर, शृंगार, (शान्त अर्थ-स्पष्टताप्रसादगुण) के साथ सात्वती में।[4] केशव ने इन वृत्तियों के जो उदाहरण दिए हैं उन सबमें भी शृंगार अंगी रखा गया है।

सोलहवें प्रभाव में प्रत्यनीक[5], नीरस[6], विरस[7], दुःसंधान[8] एवं पात्रा-

---

१. धाइ जनी, नाइन, नटी प्रगट परोसिनि नारि।
मालिनि, बरइनि, सिल्पिनी, चुरिहेरनी, सुनारि ।।
रामजनी, संन्यासिनी, पटु पटुवा की बाल।
'केसव' नायक-नायिका, सखी करहिं सब काल ।।
—रसिकप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १

२. रसिकप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १

३. तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा। —दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, छन्द ४७

४. रसिकप्रिया, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द १, २, ४, ६, ८

५. जहँ सिंगार बीभत्स भय, बीरहि बरनै कोइ।
रौद्र सु करुना मिलत ही प्रत्यनीक रस होइ ।। —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द २

६. जहां दम्पती मुँह मिलै सदा रहै यह रीति।
कपट करै लपटाय तन, नीरस रस की प्रीति ।। —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द ४

७. जहाँ सोक महिं भोग को बरनतु है कबि कोइ।
'केसवदास' हुलास सों तहीं बिरस रसु होइ ।। —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द ६

८. एक होइ अनुकूल जहँ दूजौ है प्रतिकूल।
'केसव' दुःसंधान रस, सोभित तहाँ समूल ।। —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द ८

दुष्ट[१] नामक पांच रसदोष बतलाए गए हैं। जहां परस्पर विरोधी रसों का वर्णन हो वहां प्रत्यनीक, मन में कपट के साथ प्रेम-प्रकाशन में नीरस, शोक के प्रसंग में भोग के वर्णन पर विरस, रीति के लिए नायक-नायिकाओं में से एक के अनुकूल दूसरे के प्रतिकूल होने पर दुःसंधान, पोष्य के विरोधी पक्ष के पोषण में पात्रादुष्ट दोष होता है। करुण एवं हास्य, बीभत्स से भय, शृंगार, वीर, भयानक में संतत वैर होता है।[२] बीभत्स से भय, शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, क्रोध से करुणरस की उत्पत्ति होती है।[3] ये मान्यताएं भरत के अनुकूल ही हैं।[४]

कविप्रिया

प्रथम तथा द्वितीय प्रभावों में वन्दना एवं वंश-परिचय के पश्चात् तृतीय प्रभाव से 'कविप्रिया' का वास्तविक प्रारम्भ होता है। 'कविप्रिया' की रचना केशव सामान्य शिक्षार्थियों के लिए कर रहे हैं। इस विषय में प्रारम्भ से ही उनका मौलिकता का दावा नहीं, सामान्य हेर-फेर की बात दूसरी है।[५] वैसे काव्यपथ के पथिकों के लिए इसका उपयोग महान है।[६] शेष प्रभाव में काव्य-दोषों पर विचार किया गया है।

काव्य में दोष

केशव दोषों के प्रति अत्यन्त सतर्क हैं। थोड़े-से दोष से भी काव्य इस प्रकार दूषित हो जाता है, जैसे एक बूंद मदिरा से गंगाजल का पूर्ण घट दूषित हो जाता है।[७] केशव पांच

---

१. जैसो जहाँ न बूझिए, तैसो करिए पुष्ट।
बिनु बिचार जो बरनिए सो रस पात्रादुष्ट॥
—रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १०

२. 'केसव' करुना हास्य कहुँ अरु बीभत्स सिंगार।
बरनत वीर भयानकहि संतत वैर विचार॥ —रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १२

३. भय उपजे बीभत्स तें अरु सिंगार तें हासु।
'केसव' अद्भुत वीर तें करुना कोप प्रकासु॥
—रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १३

४. शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥
—नाट्यशास्त्र, छठवां अध्याय, छन्द ४०

५. समुझैं बाला बालकनि बरनत पंथ अगाध।
कविप्रिया 'केसव' करी, छमिजौ बुध अपराध॥
—कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १

६. कंठमाल ज्यों कविप्रिया कंठ करहु कविराज।
—कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ३

७. राजत रंच न दोषजुत, कविता बनिता मित्र।
बन्दक हाला होत ज्यों, गंगाघट अपवित्र॥
—कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४

काव्य-दोष गिनाते हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न तथा मृतक। काव्य-पथ के विरुद्ध वर्णन करने में अंध दोष होता है। शब्द-विरोधी बधिर, छंद-भंगवाला पंगु, अलंकार-हीन नग्न एवं अर्थहीन काव्य मृतक होता है।[1] काव्य की पुरुष-रूप में कल्पना करके रीति, अलंकार, गुण एवं दोषों का सम्बन्ध उसके साथ स्थापित करता कोई नई बात नहीं। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इस प्रकार का आलंकारिक विवेचन किया है।[2] राजशेखर ने भी काव्य की पुरुष-रूप में कल्पना बड़ी सुन्दरता से निभाई है। किन्तु इस आधार पर दोषों का वर्गीकरण करना केशव की मौलिकता है। दोषों का यह स्थूल वर्गीकरण है। पंथ-विरोधी अंध दोष में देश-विरोध, काल-विरोध, लोकन्याय-आगम-विरोध, कवि-प्रसिद्धि-विरोध जैसे दोषों को समझना चाहिए। शब्द-विरोधी पंगु के अन्तर्गत हीनक्रम, कर्णकटु, पद, पदांश एवं शब्ददोष आदि आते हैं। छन्द-विरोधी पंगु में यतिभंग, अगण आदि सभी दोष कहे जा सकते हैं। नग्न दोष के केशव ने दो भेद किए हैं—हीनालंकार एवं हीनरस। तात्पर्य यह है कि अलंकार-सम्बन्धी एवं रस-सम्बन्धी दोषों के होने पर काव्य को नग्न कहना चाहिए। यह द्रष्टव्य है कि केशव ने रस-दोष एवं अलंकार-दोष दोनों को एक कोटि में रखकर 'नग्न' कहा है। इसका यह तात्पर्य निकालना भूल होगी कि केशव रस और अलंकार को एक ही दर्जे का समझते हैं। वे रसवादियों के समान केवल रस को काव्य की आत्मा नहीं कहते अपितु ध्वनिवादियों के समान विशिष्ट अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं, अतः अर्थरहित काव्य को मृत कहते हैं। हीनरसवाला काव्य मृतक तो नहीं कहा जा सकता, नग्न शरीर की भांति वह गर्हित हो सकता है। उसकी उपादेयता ही कम हो सकती है।[3] इधर केशव अलंकार का बहुत व्यापक अर्थ लेते हैं जिसमें वर्ण्य एवं वर्णन-शैली दोनों आते हैं। इस दृष्टि से अलंकार-दोष एवं रस-दोष दोनों को एक कोटि में रखना समीचीन कहा जा सकता है। प्रचलित अलंकारों की दृष्टि से काव्य को नग्न कहना तो ठीक लगता है किन्तु रस-दोषों की दृष्टि से नहीं। दूसरी बात 'मृत' दोष के विषय में है। अर्थहीन को ही मृतक कहना ठीक है, हीन-अर्थ को नहीं।

---

१. अन्ध बधिर अरु पंगु तजि, नग्न मृतक मतिसुद्ध।
अन्ध बिरोधी पंथ को, बधिर सु सबदबिरुद्ध॥
छन्दविरोधी पंगु गनि, नग्न जु भूषनहीन।
मृतक कहावै अर्थ बिनु, केसव सुनहु प्रबीन॥

—कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ६, ७

२. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं रसश्चात्मा गुणाः शौर्यादिवद्दोषाः काणत्वादिवद् रीतयोऽवयव-संस्थानादिवत् अलङ्काराश्चकटक कुण्डलादिवत्। —साहित्यदर्पण १।१३

३. नहि कीटानुवेधादयोरत्नस्यरत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः
किन्तु उपादेयतारतम्यमेवकर्तुम्॥

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद

भोज[1] आदि ने अलंकार-दोषों को मान्यता दी है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने अलंकार-दोष नहीं माने जैसे मम्मट, विश्वनाथ[2] इत्यदि। उन्होंने उनका अन्तर्भाव अन्य दोषों में ही करके दिखाया है। उनके अनुसार दोष पांच प्रकार के होते हैं—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत एवं रसगत। केशव ने प्राचीन तथा नवीन सभी आचार्यों के दोषों को लेकर नया वर्गीकरण उपस्थित किया है।

आलोचक केशव के इस दृष्टिकोण को ठीक न समझ सकने के कारण इन दोषों की संख्या अगले दोषों से जोड़ते हैं। केशव ने तो यह सामान्य वर्गीकरण किया है, जिसमें सभी दोषों का समावेश किया गया है। यों तो दोष अनेक हैं, किन्तु परिचयार्थ केशव कुछ दोषों को दिखाते हैं। उन्होंने अगण, हीन-रस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, हीन-क्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देश-विरोध, काल-विरोध, लोकन्याय-आगम-विरोध—ग्यारह दोष दिखाए हैं।[3] इस प्रकार आदर्श के रूप में केशव ने सब प्रकार के दोष ले लिए हैं। अगण दोष के जानने के लिए वार्णिक छन्दों के गुणों को जानने की आवश्यकता है। केशव उनका परिचय देते हैं, उनके देवता, उनकी जाति, फलाफल आदि का विचार दिखाते हैं जोकि 'पिंगल' एवं 'वृत्त रत्नाकर' के आधार पर होने के कारण शास्त्रीय है। 'रसिकप्रिया'[4] की भांति 'कविप्रिया' में पांच रस-दोषों का उल्लेख है।[5] केशव के वर्गीकरण का ठीक आधार न समझने के कारण पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र, प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा आदि आलोचकों ने सब मिलाकर केशवी दोषों की संख्या अठारह मानी है और

---

१. हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च।
भिन्नलिङ्गोपमं भिन्नवचनोपमेव च॥

—शृंगारप्रकार द्वारा भोज

२. एभ्यः पृथगलंकारदोषाणां नैव संभवः॥

—साहित्यदर्पण, ७।७

३. अगन न कीजै हीनरस, अरु केसव जतिभंग।
व्यर्थ अपारथ हीनक्रम, कबिकुल तजहु प्रसंग।
बर्नप्रयोग न कर्नकटु सुनहु सकल कबिराज।
सबै अर्थ पुनरुक्ति के छोंड़हु सिगरे साज।
देसबिरोध न बरनियै कालबिरोध निहारि।
लोकन्याय आगमन के, तजो बिरोध बिचारि॥

—कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १४, १५, १६

४. प्रत्यनीक नीरस बिरस केसव दुःसंधान।
पात्रादुष्ट कबित्त बहु, करहिं न सुकबि बखान॥

—रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १

५. केसव नीरस बिरस अरु, दुस्संधान बिधानु।
पात्र जु दुष्टादिकन को, रसिकप्रिया तें जानु॥

—कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ५९

उलटी-सीधी आलोचना भी की है।[1]

कवि-भेद

चौथे प्रभाव में केशव तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख करते हैं—उत्तम, मध्यम एवं अधम। गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर उनकी मतियां भी तीन प्रकार की होती हैं।[2] अपने उदाहरण में केशव ने भक्त-कवियों को उत्तम, मानव-कवियों को मध्यम एवं सदोष काव्य-कर्ताओं को अधम कहा है।

कवि-रीतियां

सत् को असत् एवं असत् को सत् मानकर कवि वर्णन करते हैं। न होने पर भी उसका वर्णन करते हैं[3] और होने पर भी उसकी उपेक्षा। जैसे प्रत्येक सागर के वर्णन में रत्नों का उल्लेख, साधारण-से सरोवर में भी हंस एवं कमलों का वर्णन आदि। सारे कृष्णपक्ष में अंधेरा ही मानना तथा समस्त शुक्लपक्ष में चन्द्रिका की ही कल्पना करना।[4] इसके अतिरिक्त अनेक कवि-नियम हैं जैसे चन्दन का मलय पर ही वर्णन और भोजपत्रों का हिमालय पर ही वर्णन[5] करना इत्यादि। ये कवि-शिक्षा एवं व्यवस्था के विषय हैं, जिन्हें केशव ने 'काव्यकल्पलतावृत्ति एवं अलंकारशेखर'[6] से लिया है।

अलंकार-वर्णन

काव्य में अलंकारप्रियता के कारण केशव को प्रायः अलंकारवादी कहा जाता है। रस-विवेचन के प्रसंग में हम दिखा चुके हैं कि किस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों के साथ रहकर काव्य में रस की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करते हैं। काव्य में अलंकारों का

---

१. केशव की काव्यकला, कृष्णशंकर शुक्ल
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ५८, ५९
आचार्य कवि केशव, कृष्णचन्द्र वर्मा, पृष्ठ १५१
केशव एक अध्ययन, डा० सरनामसिंह 'अरुण'

२. केशव तीनिहु लोक में, त्रिविध कबिनि के तात।
मति पुनि तीनि प्रकार की बरनत मति अवदात॥
उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि-रसलीन।
मध्यम मानत मानसनि दोषनि अधम प्रबीन॥
—कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द १, २

३. साँची बात न बरनहीं झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनत नियम करि, कवि-मत विविध बखानि॥
—कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द ४

४. केसवदास प्रकास सब चंदन के फल फूल।
कृसनपच्छ की जोन्ह ज्यों, सुक्लपच्छ तम तूल॥
—कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द ५

५. देखिए कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द ११ से १६ तक
६. देखिए अलंकारशेखर, मरीचि १५, पृष्ठ सं० ५६

स्थान क्या है ? वे कहते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजहीं, कबिता बनिता मित्त ।।[1]

केशव को अलंकारों से कुछ विशेष मोह है किन्तु उनका अलंकार-मोह अलंकारवाद जैसी वादग्रस्तता का नहीं। केशव की 'रसिकप्रिया' के विवेचन के रहते हुए उन्हें घोर अलंकारवादी कहना उचित नहीं। वे काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए अलंकारों को अनिवार्य न मानकर विशेष सज्जा के लिए ही अनिवार्य मानते हैं।

जिन आचार्यों को अलंकारवादी कहा जाता है, रस की सत्ता से वे भी परिचित हैं, जैसे दण्डी। परन्तु वे रस को रसवदलंकार के अन्तर्गत मानते हैं। केशव ने भी इसी परिपाटी का पालन करते हुए 'कविप्रिया' में रसवदलंकार के अन्तर्गत सभी रसों का उल्लेख किया है। अतः यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि केशव भी दण्डी आदि के समान अलंकारवादी हैं। किन्तु रसवत् का विवेचन करते समय हम देखेंगे कि वहां केशव ने केवल अलंकारवादियों की ही नहीं, प्रायः प्रचलित सभी सिद्धान्तवादियों की मान्यताओं के अनुसार एक शिक्षक के रूप में रसवत् का परिचय कराया है।

केशव अलंकार के अन्तर्गत वर्ण्य-विषय एवं वर्णन-शैली दोनों को लेते हैं। वामन में भी अलंकार शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है।[2] एक तो 'भाव' में और दूसरा 'करण' में प्रत्यय मानकर। यद्यपि केशव के समय तक अलंकार शब्द का अर्थ आधुनिक प्रचलित अर्थ तक ही सीमित रह गया था, किन्तु केशव ने उसे प्राचीन अर्थ में ही ग्रहण किया। आज हम जिस अर्थ में साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं उसका प्राचीन नाम अलंकारशास्त्र ही था।[3] उन्होंने अलंकारों को दो भागों में विभाजित किया है—एक तो सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य में वर्ण्य-विषय हैं और विशिष्ट में प्रचलित अलंकार। सामान्यालंकार के चार भेद हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री एवं राजश्री।[4]

१. वर्ण के अन्तर्गत सात रंगों का वर्णन है। प्रत्येक रंग की अनेक वर्ण्य-वस्तुओं

---

१. कविप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द १

२. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। काव्यालंकार सूत्र, प्र० प्र० १
सौंदर्यमलङ्कार : करणव्युत्पत्याः पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ॥
Here अलंकार means a thing of beauty. He also explains that Alankar applies to figures of speech because this beautifies Kavya. —Kane.

३. दी हिस्ट्री आव अलङ्कार, द्वारा काणे, पृष्ठ ३२८–३३
कबिनि कहे कबितानि के अलङ्कार द्वै रूप।
एक कहै साधारने, एक बिसिष्ट सरूप।। —कविप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द २

४. सामान्यालङ्कार को चारि प्रकार प्रकास।
बर्न बर्न्य भू-राज-श्री, भूषन केसवदास ।।
—कविप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द ३

का पंचम प्रभाव में उल्लेख किया गया है।

२. छठे प्रभाव में वर्ण्यालंकारों का वर्णन है। इनमें विभिन्न गुणवाली वस्तुओं की तालिकाएं हैं, जैसे सम्पूर्ण, आवर्त और कुटिल आदि।

३. सातवें प्रभाव में देश, नगर, बन-बाग, सरित, सरोवर, सूर्य, चन्द्र, षड्ऋतु आदि प्राकृतिक उपादानों का निरूपण है।

४. आठवें प्रभाव में राजा, रानी, भंगी, सेनांग आदि राजश्री सामग्री का वर्णन है।

इस प्रकार केशव ने वर्ण्य-वस्तुओं के चार भाग कर दिए हैं। इन वस्तुओं का संबंध काव्य-शिक्षा से है और इनका आधार 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा 'अलंकार-शेखर' हैं। वैसे कहीं कुछ वस्तुएं छोड़ दी गई हैं और कहीं बढ़ा दी गई हैं। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में भूश्री और राजश्री का उल्लेख नहीं था, किन्तु केशव ने उनके वर्गीकरण में इनको स्थान दिया है। क्योंकि यह तो सामान्य शिक्षा का विषय है, आचार्यत्व का नहीं। विशिष्टालंकार हमारे प्रचलित अलंकार हैं, जिनके लक्षण एवं उदाहरण नवें प्रभाव से लेकर चौदहवें प्रभाव तक दिए गए हैं। केशव ने कुल सैंतीस अलंकारों पर विचार किया है। प्रायः केशव ने दण्डी, भामह, उद्भट एवं रुय्यक को ही आधार बनाया है। उन्होंने प्राचीनों का अन्धानुकरण नहीं किया तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किए हैं। उनके सभी हेरफेर गंभीर शास्त्रीय विवेचन के द्योतक हैं।

पन्द्रहवें प्रभाव में नख-शिख-वर्णन एवं यमकालंकार का निरूपण हुआ है। चौदहवें प्रभाव में केशव ने उपमा के बाईस भेदों का निरूपण किया है। अतः पन्द्रहवें प्रभाव में उन्होंने प्रसंगवश नख-शिख के माध्यम से प्रत्येक अंग के अनेक उपमान जुटाए हैं। वास्तव में इस वर्णन को उपमा का ही वर्णन समझना चाहिए। यमक के भी अनेक भेद दिखाए गए हैं। सोलहवें प्रभाव में चित्र-काव्य के भेद हैं।[1]

'कविप्रिया' की उपयोगिता पर स्वयं केशवदास का विश्वास है—

सुबरन-जटित पदारथनि भूषन-भूषित मान।
कबिप्रिया है कबिप्रिया कबि की जीवन प्रान॥[2]

आचार्यत्व की पृष्ठभूमि

केशव के इस व्यापक काव्यशास्त्रीय क्षेत्र पर दृष्टिपात करने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वे हिन्दी-साहित्य के प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र पर सर्वांगीण

१. केसव चित्र समुद्र में बूड़त परम विचित्र।
ताके बूँदक के कनै बरनत हौं सुनि मित्र॥
अघ ऊरघ बिन बिंदजुत, जति रसहीन अपार।
बधिर अंध गन अगन के गनिजत अगन विचार॥
—कविप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द १-२

२. कविप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द ८६

विचार किया। किन्तु उनके आचार्यत्व के स्थान के विषय में आज मतभेद है। डाक्टर भगीरथ मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि—

"अपने समय में और सम्पूर्ण रीतिकाल में केशव का स्थान एक आचार्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। न केवल आचार्य वरन् कवि के रूप में भी केशव की प्रसिद्धि हिन्दी-साहित्य के रसिकों के बीच आधुनिककाल के प्रारम्भ तक रही। अतः उसी प्रभाव और प्रसिद्धि की परम्परा को स्थापित रखनेवाली जानता के लिए यह एक आश्चर्य की बात हुई कि हिन्दी-साहित्य के आचार्य की ख्याति में वर्तमान समय की आलोचना द्वारा इतना बट्टा लगेगा।"[1]

केशव की प्रतिष्ठा का पादप आचार्य शुक्ल की लौह-लेखनी के आघात से फिर नहीं पनप सका। इसका कारण इस युग का बदलता हुआ दृष्टिकोण ही है। मध्यकाल में आलोचना के मानदण्ड संस्कृत-साहित्य के थे, अतः मध्यकाल आलोचना एवं मान्यता के लिए संस्कृत-साहित्यशास्त्र का परिशीलन करता था। आज आलोचना के मानदण्ड बहुत बदल गए हैं। अतः आज का आलोचक उन शास्त्रीय मान्यताओं की उपेक्षा कर स्वयं ही अध्ययन करता है। वह करता केवल इसलिए है कि उसे मध्यकालीन साहित्य की आलोचना करनी है। किन्तु उसका गंभीर अध्ययन न होने के कारण उसकी आलोचना उथली रह जाती है। दूसरा आलोचक भी प्रथम की आलोचना के आधार पर आलोचना कर देता है। यही क्रम चलता रहता है। यही बात केशव के लिए हुई। शुक्लजी के उपरान्त अधिकांश आलोचक केशव के दोष देखने में ही प्रवृत्त रहे हैं। वस्तुतः सत्य तो यह है कि प्रायः आलोचकों ने केशव के आचार्यत्व को गंभीरता से समझने का प्रयत्न नहीं किया। आज युग बदल रहा है। युग स्वयं शंकालु होकर अपने हृदय से पूछने लगा है कि संस्कृत के अनुशीलनकाल में तो केशव की मान्यता उच्च शिखर पर थी और आज उसके विपरीत क्यों है? केशव में खोट है या आलोचना में, इसका आज निर्णय होना चाहिए। आज आवश्यकता इस बात की है कि केशव के आचार्यत्व के लिए उनके एक-एक शब्द को लेकर परखा जाए, संस्कृत-साहित्यशास्त्र की सभी स्थापनाओं के समक्ष उन्हें रखकर तोला जाए और तब कुछ उनके विषय में निर्णय दिया जाए। इस प्रबन्ध के कलेवर में इतना न तो सम्भव है और न हमारे विषय के अनुरूप इसकी यहां अपेक्षा है; फिर भी, हम आचार्यत्व के दो प्रधान अंगों—रस एवं अलंकार के विषय में केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे। 'निर्णय स्थालीपुलाकन्याय' से इन दो काव्यांगों का आचार्यत्व हमें उनके समस्त आचार्यत्व की प्रौढ़ता-अप्रौढ़ता का अनुमान करा सकता है।

रस-निरूपण

अब हम अपनी योजना के अनुसार प्रथम 'रसिकप्रिया' के रस-विवेचन-सम्बन्धी छठे तथा चौदहवें प्रभावों को लेते हैं। इसमें निम्न विषय आते हैं: भाव का लक्षण, भावों

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ५३

के प्रकार, विभाव-लक्षण एवं भेद, अनुभाव, सात्त्विक भाव, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव, शृंगारेतररस (हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त)।

भाव

केशव के अनुसार भाव का लक्षण इस प्रकार है—

आनन लोचन बचन मग, प्रगटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कबिनि के तात ॥[1]

मुख, नेत्र, वचन आदि साधन मनोदशा या चित्तवृत्ति को प्रकट करते हैं। काव्य-क्षेत्र में उसी चित्तवृत्ति को भाव कहते हैं।

इस लक्षण में मुख, नेत्र, वचन आदि का कथन उपलक्षण-रूप में ही समझना चाहिए। मुख विभिन्न भ्रूविकारादि चेष्टाओं एवं आकृतियों के द्वारा; लोचन-अरुणिमा, सजलता आदि विकारों के द्वारा; एवं वाणी विभिन्न रूप धारण करके किस प्रकार मानव के मनोगत भावों को प्रकट करती है, यह सर्वविदित है। संक्षेप में शरीर-चेष्टादि, जिन्हें शास्त्रीय पदावली में अनुभाव कह सकते हैं, भाव-प्रकटन के मार्ग ही तो हैं। इन्हीं मार्गों से जिन मनोदशाओं का प्रकटन होता है, वे ही केशव की वाणी में 'भाव' हैं। शास्त्रीय भाषा में इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि अनुभावों के माध्यम से जिन मनोविकारों का वर्णन किया जाता है, वे भाव कहलाते हैं। भाव की यह व्याख्या अनुभावों के माध्यम से है, रसों के सम्बन्ध से नहीं।

केशव के इस भाव-लक्षण को कई आलोचकों ने अस्पष्ट, विलक्षण आदि विशेषणों से विभूषित किया है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ प्रमुख आचार्यों के भाव-लक्षणों को लेकर केशव के इस लक्षण की परीक्षा की जाए। रस-सम्बन्धी विषयों के निर्णय के लिए रसवाद के प्रमुख आचार्यों को लेना ही उचित होगा, यों तो संस्कृत-साहित्यशास्त्र आचार्य-परम्परा से भरा पड़ा है।

यहां प्रश्न उठता है कि किसके भावों का लक्षण किया जाए। भाव वास्तविक रामादि आश्रय-पात्रों के हो सकते हैं, कवि के हो सकते हैं, अनुकर्ता नट आदि के हो सकते हैं तथा सामाजिक (दर्शक, पाठक, श्रोता) गत हो सकते हैं। इस दशा में व्यवस्थापक आचार्य किसके भावों का लक्षण करें! लक्षण-विधान के लिए वास्तविक रामादि मूल पात्रों के भावों को तथा नटगत भावों को छोड़ा जा सकता है, क्योंकि मूल पात्रों के भाव वास्तविक रूप में चाहे कुछ भी रहे हों, परन्तु काव्य में अब तो उनका यही रूप है जो कवि द्वारा अनुभूत या कल्पित है अथवा प्रस्तुत काव्य में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार कविगत एवं काव्यगत भावों में भी अन्तर नहीं रहता, क्योंकि कविगत भावों का मूर्तरूप ही तो काव्यगत भाव है। इसी प्रकार नटगत भावों का भी कोई अलग महत्त्व नहीं, क्योंकि नटगत भावों की तीन दशाएं हो सकती हैं। प्रथम तो नट की अपनी निजी भाव-

१. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द १

स्थिति जिससे काव्य-नाटक का कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरी, अभिनय के क्षणों में काव्यगत भावों के प्रस्तावन की स्थिति। इस दशा में भी वे कविगत अथवा काव्यगत भावों से भिन्न नहीं होते, तद्रूप ही होते हैं। तीसरी, प्रस्तुत भावों की वैसी ही अनुभूत्यात्मक स्थिति जैसीकि सामाजिक की होती है—इस दशा में वह सामाजिक से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार लक्षण-विधान के लिए प्रमुखतया दो व्यक्ति सामने आते हैं—कवि एवं सामाजिक। कविगत तथा काव्यगत भावों को अलग-अलग करके भी देखा जा सकता है, क्योंकि कवि कभी तो निरपेक्ष दृष्टि से भाव-विधान करता है, कभी सापेक्ष दृष्टि से। उसकी सापेक्ष दृष्टि ही किसी पात्र के शील या चरित्र के विषय में प्रायः सामाजिक की सम्मति स्थापित कराती है। हम देखेंगे कि स्वयं संस्कृत-आचार्यों के भाव-लक्षणों में जो यत्किंचित् अन्तर पाया जाता है, उसमें इन दृष्टिकोणों का पर्याप्त हाथ है। एक दूसरा दृष्टिकोण और है जो भाव-लक्षणों में अन्तर प्रस्तुत करता है। किसी आचार्य की दृष्टि काव्य के व्यापक रूप पर है तो किसीकी दृश्य-मात्र पर। इनके अतिरिक्त कोई पाठ्य-मात्र पर दृष्टि जमाकर भावादि के लक्षण करता है। इसी कारण एक की दृष्टि अभिनयात्मक उपादान पर अधिक होगी तो दूसरे की वर्णनात्मक सामग्री पर अधिक। अब हम विभिन्न आचार्यों के भाव-लक्षणों की ओर सुविधा से बढ़ सकते हैं।

भरतमुनि

भरतमुनि ने भाव का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

वागंगसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति।[1]

अर्थात् वाचिक, आंगिक, सात्त्विक विभिन्न साधनों से उपस्थित किए जानेवाले काव्यार्थों को भावन[2] करानेवाले उपादान भाव कहलाते हैं—भाव की यह व्याख्या उस विभावन-शक्ति के माध्यम से की गई है जिसके द्वारा काव्यार्थीभूत रसादि सामाजिक की अनुभूति का विषय बनते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो विभावन-शक्ति का सम्बन्ध काव्यार्थों से जोड़ा गया है। अतः काव्यगत भावों पर विचार करते हुए अभिनय के उपादानों पर दृष्टि रखी गई है।

भरत ने आनुवंश्य श्लोकों के रूप में दूसरे प्रकार से भी भाव का लक्षण किया है—

वागंगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते॥[3]

---

१. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, पृष्ठ १०४

२. भावन शब्द का अर्थ भरत इस प्रकार करते हैं—

भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्।
लोकेपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति।

—नाट्यशास्त्र, पृष्ठ १०४-१०५

तात्पर्य यह कि भावन का अर्थ है करना या वासित करना।

३. नाट्यशास्त्र, पृष्ठ १०५

वाचिक, आंगिक, सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्गत भावों का भावन करानेवाले तत्त्व भाव हैं। स्पष्ट है यहां सब कुछ वही रखते हुए दृष्टि काव्यगत भावों की अपेक्षा 'कविगत' भावों पर रखी गई है। फिर भी भरत काव्यगत और कविगत भावों को अलग-अलग करके नहीं देखते। एक ही बात को दोनों दृष्टियों से कहकर वे दोनों की एकता ही दिखाते हैं। आनुवंश्य श्लोकों के मिले-जुले वर्णन से यही बात स्पष्ट होती है।[1] हां, उनकी दृष्टि शुद्ध अभिनेय काव्य पर ही है।

धनंजय

प्रायः भरत का ही अनुगमन करनेवाले धनंजय का दृष्टिकोण भाव के सम्बन्ध में कुछ बदल गया है। उन्होंने भाव-लक्षण में कविगत या काव्यगत भावों पर ही ध्यान नहीं रखा, अपितु भावक सहृदय के भावों पर भी रखा है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।[2]

इसपर धनिक की टीका इस प्रकार है—

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः।[3]

अर्थात् काव्य में मूल पात्र रामादि का सहारा पकड़कर सुख-दुःखादि भावों का संविधान किया जाता है। अभिनय-कौशल से या काव्यशक्ति के प्रभाव से भावक सहृदय का चित्त 'सद्भाव' या 'तदकेतान' हो जाता है और वैसे ही भावों की अनुभूति करने लगता है। क्योंकि काव्य के माध्यम से आए हुए भाव भावक के हृदय को अपने ही रूप में भावित या वासित कर देते हैं। इसी भावन की क्रिया के कारण इन्हें भाव कहते हैं।

धनंजय और धनिक के भाव-लक्षण का मूल तात्पर्य वही है जो भरत का। किन्तु दृष्टिकोण-भेद से उनकी परिभाषा भिन्न हो गई है। काव्य में वर्णित मूल पात्रों के भाव हैं जिनकी कल्पना कवि ने की है, वे सहृदय की भाव-स्थिति अपने रूप में ही कर देते हैं। इस 'तद्भाव भावने' की शक्ति जिनमें है वे 'भाव' संज्ञा के अधिकारी हैं। धनिक को आशंका हुई कि कहीं भरत की शब्दावली से भिन्न शब्दावली होने के कारण कोई आक्षेप न करे। अतः उन्हें स्पष्ट कहना पड़ा कि यह भेद कोई मौलिक नहीं दृष्टिकोण-मात्र का

---

१. विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागंगसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥
वागंगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते॥
नानाभिनयसंबद्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

—नाट्यशास्त्र, पृष्ठ १०५

२. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, छन्द ४

३. दशरूपक, टीकाकार धनिक, चतुर्थ प्रकाश, छन्द ४ की टीका

है।[1] धनंजय की दृष्टि सहृदय पर है तथा उसकी व्याख्या के लिए उन्होंने काव्यगत सुख-दुःखादि भाव-वर्णन को पकड़ा है। जबकि भरत ने अपने लक्षण के स्पष्टीकरण के लिए आंगिक, वाचिक आदि अभिनय के उपादानों को अपनाया था। वैसे अन्यत्र देखने से यह स्पष्ट है कि धनंजय की परिभाषाएं भी अभिनेय काव्य को लक्ष्य बनाकर ही चली हैं।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने भाव का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः। भावः प्रोक्तः॥[2]

अर्थात् देवादि-विषयक रति और विभावादि सामग्री से अभिव्यंजित संचारी (भाव) कहलाते हैं।

वास्तव में मम्मट का यह 'भाव-सामान्य' का लक्षण नहीं। यह 'भाव-ध्वनि' का लक्षण है एवं पारिभाषिक है जिसे कि उन्होंने सूत्र बयालीस 'रसभावतदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः'[3] की कारिका में क्रम-प्राप्त व्याख्या के प्रसंग में दिया है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने लक्षण इस प्रकार किया है—

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्मात् भावा अमी प्रोक्ताः स्थायि संचारि सात्त्विकाः॥[4]

यह भाव-लक्षण भरत के आनुवंश्य श्लोक का ही रूपान्तर है। भरत के लक्षण में भाव-क्षेत्र की परिधि स्पष्ट नहीं की गई थी। विश्वनाथ ने उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। स्थायी, संचारी, सात्त्विक सभी, जोकि विभिन्न अभिनय-सम्बद्ध रसों का भावन कराते हैं, 'भाव' कहलाने के अधिकारी हैं। विश्वनाथ की दृष्टि यहां स्वतन्त्र एवं मौलिक नहीं। उन्होंने भरत की अभिनेय काव्यपरक दृष्टि को ही अपना लिया है। यह ठीक है

---

१. यत्तु रसान्भावयतीतिभाव इति, कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव इति च, तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्।

—दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, छन्द ४ की टीका

इसपर पंडित सुदर्शनाचार्यजी की व्याख्या है—

ननु त्वया हि भावकचेतसो भावनाद् भावत्वं भावस्योक्तं प्राचीनैस्तु रसान् भावयन् भावः, कवेरन्तर्गतंवाभावयान्भावाः—कविहृदयाभावकत्वे च भावस्य भावत्वमयुक्तमिति प्राचीने विरोधः प्राप्तः इत्याशङ्क्याह मयाति रसिकसमवेत भावपदार्थस्यार्थ उक्तः प्राचीनानां तद्भाव पदार्थाभिध्वनयितृ भावात्मकं काव्यम् भावात्मकोभिनयः इत्येवं काव्याभिनययोः प्रवर्तमानस्य (बोधकस्य) भावस्यास्तीति विषयभेदान्त विरोधः। काव्यस्य रसभावकत्वं अभिनयस्य च कविहृदयभाव भावकत्वं सुस्पष्टमेव।

—दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, छन्द ४ की टीका

२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४८

३. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४२

४. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १८६

कि विश्वनाथ के काव्य की परिधि में दृश्य एवं श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य आते हैं और उन्होंने अपने 'साहित्यदर्पण' में विभिन्न अभिनयांगों को लिया भी है, परन्तु शुद्ध पाठ्य-काव्यगत भावों के ऊपर इस लक्षण को ठीक-ठीक लगाने के लिए कुछ न कुछ ऊपर से जोड़ना ही पड़ेगा।

उपर्युक्त सभी लक्षणों में भरत का ही अनुकरण किया गया है। भरत का लक्षण यद्यपि पर्याप्त रूप से व्यापक है तथापि उसकी अपनी सीमा है। एक तो उसमें दृष्टि की अभिनयपरकता प्रधान है तथा अपेक्षित पूर्ण विस्तार नहीं है, क्योंकि रस-मात्र के सम्बन्ध से उनकी व्याख्या हुई है। उन्होंने अपनी दूसरी परिभाषा 'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' के काव्यार्थ को भी रसों तक सीमित कर दिया है। 'रसान् भावयन्तीति भावा' को यदि मान लिया जाए तो जो रस का भावन कराते हैं वे तो भाव हुए, परन्तु जहां भाव स्वतन्त्र रूप से ध्वनित होकर भाव-ध्वनि के रूप में आता है, वहां तो वह रसों का भावन करानेवाला नहीं स्वयं भावित होनेवाला है। तब उसे भाव कैसे कहेंगे! इस सीमा-संकोच का कारण यही कहा जा सकता है कि लक्षण-निर्माण में भरत की दृष्टि स्थूल रस-व्यंजनाओं पर ही अधिक थी। सूक्ष्म भाव-ध्वनियों पर दृष्टिपात तो ध्वनि-सिद्धान्त की व्यापक एवं सुदृढ़ प्रतिष्ठा के उपरान्त ही हो सका।

जगन्नाथ

पंडितराज जगन्नाथ ने पूर्वपक्ष के रूप में दो भाव-लक्षण उपस्थित किए हैं—

१. विभावनुभावाभिन्नत्वे सति रसव्यंजकत्वम्।[1]

अर्थात् विभाव अनुभाव को छोड़ रस-व्यंजक उपादान भाव हैं।

२. रसाभिव्यंजकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वम् तत्त्वम्।[2]

रस को अभिव्यंजक चर्वणा का विषय बनानेवाली चित्तवृत्ति भाव हैं।

प्रथम लक्षण में उन्होंने दोष दिखाया है, प्रधान रूप से ध्वन्यमान भाव में अव्याप्ति। उपर्युक्त भरत आदि के लक्षण इसी कोटि के हैं। दूसरे में यह दोष है कि कहीं-कहीं भाव भी अनुभाव रूप में आ जाता है तो उसमें इस लक्षण की सभी बातें घट जाएंगी। क्योंकि अनुभाव रसाभिव्यंजक चर्वणा के विषय होते हैं और चित्तवृत्ति रूप वे हैं ही। अतः इस अतिव्याप्ति से यह लक्षण समीचीन नहीं। इस प्रकार उन्होंने अपना भाव-लक्षण इस प्रकार दिया है—

३. विभावादिव्यज्यमान हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्॥[3]

विभावादि से व्यज्यमान हर्षादि तेतीस या चौंतीस भावों में से कोई एक। पंडित-राज के विवेचन की सूक्ष्मता में कोई सन्देह नहीं किन्तु उनके दृष्टिकोण में भेद है। उनकी

---

१. रसगंगाधर, पृष्ठ ७४

२. रसगंगाधर, पृष्ठ ७५

३. रसगंगाधर, पृष्ठ ७५

दृष्टि शुद्ध काव्यात्मक भावों पर है । वे भाव का लक्षण भाव-ध्वनि के प्रसंग में कर रहे हैं। कोई भी भाववृत्ति काव्य में विभावादि किसी न किसी सामग्री से सदा व्यज्यमान ही होकर आती है । शब्दों द्वारा उसके कथन से तो वह बोध-क्षेत्र की वस्तु हो जाती है, अनुभूति-क्षेत्र की नहीं। इस प्रकार विभावादि सामग्री से व्यज्यमान हर्ष आदि चित्तवृत्तियां भाव कहलाने की अधिकारिणी हैं। यह उनकी व्यवस्था पर निर्भर है कि वे स्थायी बनती हैं या संचारी, स्वयं प्रधान रहती हैं या गौण, पुनः व्यंजक बनती हैं या ध्वनित । मम्मट ने व्यंजित भाव को सामने रखा था, किन्तु उनका भाव व्यंजित-संचारी-मात्र था। अतः उनका 'व्यभिचारी तथांजितः' पारिभाषिक बन गया था । किन्तु पंडितराज ने भाव की व्यज्यमानता-मात्र पर दृष्टि जमाई । अतः उनकी सीमा खुली रही। इसी खुले दृष्टिकोण के कारण वे भावों को स्थायी, संचारी, सात्त्विक रूप में ही नहीं अनुभाव और विभाव के रूप में भी दिखा सके; यह हम आगे देखेगे ।

केशव ने भावों के विषय में अपना दृष्टिकोण पंडितराज के समान ही व्यापक रखा है। उन्होंने भी आचार्य जगन्नाथ के समान शुद्ध पाठ्य-काव्यगत भावों को ही लक्ष्य बनाया है। 'मन की बात' या चित्तवृत्ति प्रकाश्य या व्यंज्य हैं और उसकी व्यंजक सामग्री है—'आनन लोचन वचन मग ।'[1] यहां देखना यह है कि पंडितराज ने व्यंजक सामग्री के लिए विभावादि शब्द रखकर उसकी सीमा बहुत खोल दी थी, जबकि भरतादि ने अनुभावों तक को ही लिया था । किन्तु भरत, विश्वनाथ आदि ने भी जिन अनुभावों को लिया वे अभिनय के अंग बन गए । केशव ने उन्हें अपनाकर उनकी अभिनयांगता को दूर कर वर्णनात्मकता का परिधान पहना दिया । लोक में भी हम किसीके भावों का ज्ञान उसकी मुखाकृति, उसकी चेष्टा अथवा नेत्र-विकार एवं उसकी वाणी से ही करते हैं। काव्य में भी यह भावावबोध इन्हीं अनुभावात्मक विकारों से होता है और बोधवृत्ति 'तदेकतानता' अथवा 'तद्भाव भावन' की प्रथम सीढ़ी है। अतः अभिनेय काव्य का ध्यान छोड़कर यदि विचार करें तो मनोगत भावों के प्रकाशक ये बाह्य विकार ही ठहरते हैं, जिन्हें केशव ने 'आनन लोचन वचन मग' कहा है। जब इनके विधान से काव्य में मनोगत दशा अथवा चित्तवृत्तियों की व्यंजना होती है तो लक्षण के लिए इनका सहारा लेना उचित ही था। यह पूछा जा सकता है कि केशव ने इन्हें सीधे-सीधे अनुभाव नाम से क्यों नहीं कह दिया ? बात यह थी अनुभाव शब्द से प्रायः बाह्य चेष्टाओं का ही ग्रहण किया जाने लगा है, किन्तु केशव को अनुभाव शब्द से बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के इन्द्रिय-विकार ग्राह्य हैं, जैसाकि हम अनुभावों पर विचार करते हुए आगे देखेंगे। वे भावों को भी अनुभाव-रूप में मानते हैं। अतः उन्होंने अनुभाव जैसे व्यापक शब्द का प्रयोग न करके उलझन से बचाया ही है। काव्य में विभिन्न मुखादि के विकारों के वर्णन से प्रकटित होनेवाली चित्तवृत्तियां भाव हैं। केशव के इस लक्षण में भरत, धनंजय, विश्वनाथ, मम्मट एवं स्वयं पंडितराज जगन्नाथ

१. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द १

से अधिक व्यापकता है। भरत एवं विश्वनाथ भावों के व्यंजक स्वरूप को देखते हैं, मम्मट पारिभाषिक व्यंजित रूप को, जगन्नाथ व्यज्यमान रूप को। किन्तु केशव के भाव-लक्षण में व्यंजित, व्यंजक एवं व्यज्यमान सभी भाव आ जाते हैं। केशव के लक्षण की शिथिलता में ही उसकी गहराई का रहस्य है। सामान्यतया देखने पर भी वह लक्षण सीधा एवं सरल है। काव्य में कवि-वर्णित चित्तवृत्तियां भाव हैं। उनका वचन से कथन नहीं होता, अनुभावों से प्रकाशन होता है। ऊपरी सरलता एवं परिचायकता शिक्षक की है। अन्तर की गहराई एक प्रौढ़ आचार्य की।

भावों के प्रकार

केशव ने भावों को पांच प्रकार का माना है—

भाव सु पंच प्रकार के, सुनि विभाव अनुभाव।
थाई सात्त्विक कहत हैं, व्यभिचारी कविराव॥[1]

अर्थात् कवि लोग भावों का पांच प्रकार से विधान करते हैं। विभाव-रूप में, अनु-भाव-रूप में, स्थायी-रूप में, सात्त्विक-रूप में एवं व्यभिचारी के रूप में। केशव की यह मान्यता भी हिन्दी के प्रौढ़ आलोचकों को बड़ी अटपटी प्रतीत हुई है। स्थायी और व्यभि-चारी तो भाव कहे जाते हैं। 'सात्त्विक' भी 'सात्त्विक भाव' के नाम से पुकारे जाते हैं। किन्तु विभाव और अनुभावों को भाव कहना एक विचित्र बात है। और विशेष रूप से उस समय जबकि आचार्य विश्वनाथ भी तीन प्रकार के ही भाव मानते हैं।[2] अतः विभाव और अनुभाव रूप में भी भाव आते हैं या नहीं, इसपर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। इसके निर्णय में पंडितराज जगन्नाथ का विवेचन अत्यन्त सहायक होगा।

पहले तो इस विषय में विभाव शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। यहां विभाव का अर्थ यह नहीं कि आलम्बन एवं उद्दीपन-रूप में जैसी रस-निष्पत्ति के लिए स्थिति अपेक्षित है, वैसी स्थिति हो। केवल किसी भाव के जागरण के निमित्त कारण हो जाना भी 'विभाव' कहला सकता है। हां, यदि आलम्बन अथवा उद्दीपन-रूप में भी स्थिति पाई जाए तो कोई रोक थोड़े ही है।[3]

आचार्य जगन्नाथ ने भाव-ध्वनियों के प्रसंग में अनेक ऐसे उदाहरण दिए हैं जहां एक भाव कारण-रूप होकर दूसरे भाव को जन्म देता है। वह कार्य-रूप भाव तो व्यंजित

---

१. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द २

२. नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद् भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः॥

—साहित्यदर्पण, ३। १८६

३. विभावत्वत्रव्यभिचारिणो निमित्तकारण सामान्यम्। न तु रसस्येव सर्वथैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते। यदि तु क्वचित् सम्भवस्तदा न वार्येते॥

—रसगंगाधर, पृष्ठ ७६

होकर भाव-ध्वनि कहलाएगा, किन्तु कारण-रूप जन्मदाता भावशास्त्रीय दृष्टि से विभाव ही कहा जाएगा। प्रमाण-रूप से हम उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

तन्मंजु मन्दहसितं श्वसितानि तानि,
सा वै कलंकविधुरा मधुराननश्रीः।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त,
सायंतनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ।[१]

इसमें एक विरही का चित्र है। अपनी प्रियतमा के विषय में वह चिन्तित है, उसी चिन्ता के फलस्वरूप उसे अपनी प्रियतमा की मधुर स्मृति उठ रही है। "संध्याकालीन कमल के समान (लज्जा के कारण) संकुचित नेत्रवाली उस रमणी का वह मंजुल मन्द हास, वियोग-भीरुता से होनेवाले वे दीर्घ निःश्वास, वह निष्कलंक मुखच्छवि, हां ! सब कुछ तो मेरे हृदय को अब भी उन्मत्त किए डालता है।"

इसपर पंडितराज की टिप्पणी है, कि यहां प्रियतमा-विषयक चिन्ता-विशेष विभाव है, अनुभावों का वर्णन नहीं। किन्तु भौंहों का उठना, शरीर का निश्चल होना आदि नायक के अनुभाव आक्षेप से जाने जा सकते हैं। प्रियस्मृति में चमत्कार है और स्मृति का जन्म चिन्ता से हुआ है, अतः स्मृति की 'ध्वनि' है तथा चिन्ता 'विभाव' है।[२]

अन्य उदाहरण भी इस प्रकार के मिलते हैं।

इसी प्रकार एक भाव का अनुभावन करानेवाले अन्य भाव की संज्ञा अनुभाव भी हो सकती है, जैसे असूया नामक संचारी की व्यंजना में—

कुत्र शैवं धनुरिदं क्वचायं प्राकृतः शिशुः ।
भंगस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः ॥[३]

राम ने शिव-धनुष को भंग किया है। उनके पराक्रम को न सह सकनेवाले राजा लोग असूयावश कह उठते हैं—

"कहां यह शिव का धनुष और कहां यह प्राकृत (गंवेला) शिशु, इस धनुष का नाश तो सब कुछ विनाशक भगवान काल ने पहले ही कर दिया था। अन्यथा इस प्राकृत शिशु की क्या मजाल थी।" यहां असूया भी व्यंजना है, राम के सर्वोत्कृष्ट बल का दर्शन उस असूया का कारण है, अतः विभाव है। 'प्राकृत शिशु' कहकर जो राम की निन्दा की जा रही है वह असूयाजन्य अनुभाव है। यहां निन्दा-भाव को अनुभाव-रूप में उपस्थित किया है। अनुभाव-रूप में एक और उदाहरण लीजिए—

---

१. रसगंगाधर, पृष्ठ ७७

२. चिन्ताविशेषोऽत्रविभावः। भ्रून्नतिगात्रनिश्चलत्वादय आक्षेपगम्या अनुभावाः।
स्मृतेरेवात्रपुरः स्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तद्ध्वनित्वं युक्तम्।
—रसगंगाधर, पृष्ठ ७७

३. रसगंगाधर, पृष्ठ ९५

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां, बाला व्यालावलिं किलामनुते ।।[१]

विरहिणी सखी द्वारा दाह-शान्ति के लिए दिए हुए कालागुरु के द्रव को विष और नीलकमलों की माला को व्यालावलि समझ रही है। यहां भ्रम-रूप जो चित्तवृत्ति है, वह विरह के फलस्वरूप हुई है। अतः कार्य-रूप है, साथ ही उसके विरह का अनुभावन भी कराती है, अतः भ्रम अनुभाव है।[२] अन्त में पंडितराज जगन्नाथ निष्कर्ष-रूप में स्पष्ट कहते हैं[3] कि इन परिगणित संचारीभावों में कोई भाव किसीका विभाव होता है, किसीका अनुभाव। जैसे ईर्ष्या, निर्वेद का विभाव बन जाती है और असूया का अनुभाव भी। चिन्ता, निद्रा को जन्म देकर उसका विभाव बनती है तो कहीं औत्सुक्य का अनुभाव[४]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव विभाव एवं अनुभावों के रूप में भी आ सकता है, यह कितना तर्कयुक्त तथा शास्त्र-सम्मत है। केशव के इस वर्गीकरण का महत्त्व आलाचक के नेत्रों में तब और बढ़ जाता है जबकि यह ध्यान जाता है कि पंडितराज जगन्नाथ केशव के परवर्ती हैं। अतः केशव के ऊपर जगन्नाथ का प्रभाव पड़ सकने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह दृष्टिकोण केशव के अध्ययनशील चिन्तन का परिणाम है, जिसको उन्होंने साहित्य एवं साहित्यशास्त्र के गंभीर अनुशीलन के उपरान्त स्थिर किया होगा। साथ ही भावों के इस व्यापक वर्गीकरण को ध्यान में रखकर केशव के भाव-सामान्य के लक्षण का महत्त्व और स्पष्ट हो जाता है।

विभाव-लक्षण एवं भेद

केशव विभाव का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

जिन तें जगत अनेक रस प्रगट होत अनयास।
तिन सों विमति विभाव कहि बरनत केसवदास ।।[५]

जिनसे अनेक रस उद्बुद्ध होकर अनायास प्रकट हो जाते हैं उन्हें विद्वान् विभाव कहते हैं[६]।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ७५

२. अत्र च श्रीमद्दाशरथिवलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः। प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दानुभावः। —रसगंगाधर, पृष्ठ ७५

३. देखिए रसगंगाधर, पृष्ठ ७५

४. एषु च संचारिभावेषु मध्ये केचन केषांचन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति। तथाहि ईर्ष्याया निर्वेदं प्रति विभावत्वं असूयां प्रति चानुभावत्वम्। चिन्ताया निद्रांप्रति विभावत्वं, औत्सुक्यं प्रति चानुभावत्वमित्यादि स्वयमह्यम्॥ —रसगंगाधर, पृ० ६८

५. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ३

६. जगत् शब्द का अर्थ संसार करके अर्थ इस प्रकार होगा—लोक में जिनसे अनेक रस इत्यादि विभिन्न भाव उद्बुद्ध होते हैं उन्हें काव्य-क्षेत्र में विद्वान कविगण विभाव कहते हैं। यह लक्षण भी साहित्यदर्पणकार के लक्षण से बिलकुल मिलता है। रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाःकाव्यनाट्ययोः॥ —साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३२

विभाव का यह लक्षण विभावों की विभावन या रस है जो क्रोध की शक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है। मम्मट ने भी यह स्वीकार किया है—

विभावयन्ति वासनारूपतयाऽति सूक्ष्मान् रत्यादीन् स्थायिनः ग्रास्वादयोग्यतामानयन्तीति विभावाः ॥[१]

केशव का रस शब्द भी विभिन्न भावों का ही वाचक है। भाव सामान्यतः सुप्त दशा में रहते हैं, विभावों के ग्राश्रय से ये जागरित या उद्बुद्ध हो जाते हैं। उद्बुद्ध हुए उन भावों का प्रकट होना यही है कि वे सहृदय के द्वारा ग्रास्वादित किए जा सकें।

विभाव्यन्ते ग्रास्वादांकुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकै रत्यादिभावा एभिः ॥[२]

ग्रतः विभिन्न भावों को ग्रास्वाद-योग्यता प्राप्त करानेवाले विभाव कहलाते हैं। यद्यपि केशव का यह लक्षण सर्वथा शास्त्र-सम्मत है परन्तु भरत एवं धनंजय के लक्षण से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। उसका कारण है उनका ग्रभिनयपरक दृष्टिकोण।

भरत का लक्षण

विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इति विभावः। विभावो नाम विज्ञानार्थः।[३]

वाचिक, ग्रांगिक, सात्त्विक ग्रभिनय जिनके द्वारा जनाए जाते हैं वे विभाव हैं। धनंजय का लक्षण भी भरत का ही ग्रनुगामी है।

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।[४]

इसपर धनिक का भी कथन है कि हम नट को रामादि, नटी को सीतादि के रूप में समझ लेते हैं। यद्यपि वे वास्तव में तो रामादि नहीं हैं। यह ढंग ग्रतिशयोक्ति का है। इस ढंग से जो विज्ञायमान हैं उन्हें विभाव कहते हैं। स्पष्ट है कि इन परिभाषाग्रों एवं व्याख्याग्रों का दृष्टिकोण ग्रत्यन्त ग्रभिनयपरक है। ये विभाव दो प्रकार के होते हैं—ग्रालम्बन एवं उद्दीपन।[५] ये भेद भी परम्परा-प्राप्त एवं शास्त्र-सम्मत हैं।[६]

किन्तु इनमें दो की परिधि एवं स्वरूप में केशव का दृष्टिकोण सर्वथा स्वतन्त्र एवं मौलिक है। ग्रालम्बन का लक्षण भी इस प्रकार करते हैं—

जिन्हें ग्रतन ग्रवलम्बई, ते ग्रालम्बन जानि ॥[७]

---

१. काव्यप्रकाश, वामन झलकीकर टीका, पृष्ठ ८६
२. साहित्यदर्पण, पृष्ठ ८६, परिच्छेद तृतीय
३. नाट्यशास्त्र, ग्रध्याय ७, पृष्ठ १०५
४. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक २
५. सब विभाव द्वै भांति के केसवदास बखानि।
   ग्रालम्बन इक दूसरो उद्दीपन मन ग्रानि ॥
   —रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ४
६. ग्रालम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ ॥ —साहित्यदर्पण
७. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ५

इस लक्षण की व्याप्ति द्विविध है। एक ओर तो केशव आलम्बन सामान्य का लक्षण कर रहे हैं जोकि सभी रसों के सम्बन्ध में निभ सके। 'अतन' शब्द का अर्थ इस प्रसंग में जैसाकि प्राचीन टीकाकारों ने किया भी है निःशरीर रस है। रस जिनका अवलम्ब लेता है वे आलम्बन हैं किन्तु जैसाकि हम पीछे दिखा चुके हैं, 'रसिकप्रिया' के कवि का उद्देश्य है शृंगार की रसराज-प्रतिष्ठा और 'रसिकप्रिया' का आचार्य अपने सामान्य आचार्यत्व को अक्षत बनाए रखकर कवि के सम्मान की पूरी रक्षा करता चलता है। 'अतन' शब्द का सीधा-सीधा साहित्यिक अर्थ है 'काम'। कामवृत्ति अपने जागरण या उद्बोध के लिए जिनका सहारा पकड़ती है वे सब आलम्बन हैं। केशव ने अपने व्यापक शृंगार के अनुरूप उसके स्थायीभाव रति को भी अत्यन्त व्यापक कामवृत्ति के रूप में ही लिया है। यह उनके शृंगाररस के लक्षण से और स्पष्ट हो जाता है—

रति-मति की अति चातुरी, रतिपति मंत्र विचार।
ताही सों सब कहत हैं, कवि कोविद शृंगार॥[1]

यहां भी 'रति-मति' एवं 'रतिपति' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इस प्रकार शृंगार के स्थायी रति को व्यापक 'कामवृत्ति' के रूप में ग्रहण करने से केशव का शृंगार-क्षेत्र बहुत फैल जाता है। और उसके आलम्बनों का क्षेत्र भी एक नायक-नायिका तक ही सीमित नहीं रह जाता।

यह रत्यात्मक अथवा कामवृत्त्यात्मक चित्तवृत्ति विशेष (व्यक्ति-विशेषपरक) तो होती है, सामान्य या निर्विशेष भी हो सकती है। यद्यपि मीमांसक 'निर्विशेषं न सामान्यम्' की दुहाई देता है परन्तु उसे यह भी स्वीकार करना होता है कि सामान्यगत विशेष सापेक्ष एवं सामान्यतः ही विशेष होता है। यहां विशेषपरक से हमारा तात्पर्य है किसी पुरुष-विशेष की रति किसी नारी-विशेष के प्रति अथवा किसी नारी-विशेष की रति किसी पुरुष-विशेष के प्रति। जैसे दुष्यन्त एवं शकुन्तला की पारस्परिक रति। साहित्यशास्त्र इसी एक में रति-रूप का विवेचन करता है, किन्तु लौकिक अनुभव कुछ और भी बतलाता है। किसी रमणीय दृश्य का साक्षात्कार करके, शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर के झोंकों से आन्दोलित होकर स्निग्ध निशीथ के आंचल को माधवी चन्द्रिका अपने मधु से भिगो जाती है, तो हमारा चित्त भी अनायास ही द्रवित होकर एक अज्ञात मधुरिमा से भर उठता है। यह मधुर आस्वाद क्या है ? यह एक प्रश्न उठता है। यह हमारे जन्मान्तरीय संस्कारों से संचित कोष में स्थित रत्यात्मक चित्तवृत्ति ही है जो अनुकूल संस्पर्श पाकर उद्बुद्ध हो उठी है। किन्तु अभी यह व्यष्टि सम्बद्ध नहीं हो पाई।

काव्यशास्त्र के आचार्य प्रकृति की शक्ति को संभवतः भली प्रकार से नहीं परख पाए थे। विशिष्ट के प्रति जब रति उद्बुद्ध हो जाती है तब प्राकृतिक उपादान उसका उद्दीपन-मात्र कर देते हैं। बस, केवल एक रूप में ही वे प्रकृति को पहचान सके थे। वह

१. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १७

प्रकृति का उद्दीपन-रूप, परन्तु प्राकृतिक रमणीयता की पूर्णिमा किसी 'चतुर्दशी' से धिक आकर्षक ही होती है। इस तथ्य को उन्होंने नहीं समझा था। प्रकृति स्वतन्त्र रूप मानवी भावों का आलम्बन होती है, इस बात को आधुनिक युग के आचार्यों ने डिंडिम-ाष के साथ कहा है परन्तु प्रकृत कवियों से यह तथ्य छिपा नहीं रहा। आचार्य शुक्ल ने ल्मीकि, भवभूति आदि के काव्यों में प्रकृति का यह स्वतन्त्र आकर्षण स्वीकार किया है। ाचार्य केशव भी इस रूप में प्रकृति को नहीं पहचान सके। उन्होंने भी प्रकृति को रति ा कामवृत्ति के सम्बन्ध से ही परखा किन्तु अधिक व्यापक दृष्टि से। हम दिखा चुके हैं ; जब रति विशेषपरक हो चुकी हो तो प्रकृति उद्दीपन-मात्र आती है, किन्तु कवियों ऐसी परिस्थितियों का भी साक्षात्कार किया है जब रति की आलम्बन-सामग्री प्रकृति भिन्न नहीं होती। प्रकृति मानव-मन को प्लावित करके कामवृत्ति को जगाती है और ह् कामवृत्ति या रति किसी व्यक्ति के अभाव में उद्बुद्ध होने के कारण सामान्य ही ही जाएगी विशेष नहीं। यह प्रकृति का स्वतन्त्र आकर्षण तो निस्सन्देह नहीं किन्तु उद्दी-न-रूप भी नहीं क्योंकि उद्दीपन तो पहले से लगी चिनगारी का होता है। अभी वहां ानगारी तो सोई पड़ी थी। सोई हुई भाव-चिनगारी को उठाने का काम आलम्बन का है। तः प्रकृति आलम्बन-रूप में, आधुनिक प्रकृति-विषयक रति के आलम्बन के रूप में नहीं, ानवी अनादि वासना या सामान्य रति के आलम्बन के रूप में ही रखनी पड़ेगी। क्योंकि हां प्रकृति को उद्दीपन से नहीं उद्भावन से कारणतः प्राप्त है जोकि आलम्बन का क्षेत्र । प्रकृति की इस रत्युद्भाविका शक्ति का साक्षात्कार मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक हस्यों से दूर रहनेवाले कोरे आचार्य नहीं कर सके, हिन्दी के आचार्यों से तो यह बात र की थी। परन्तु भावलोक के क्रान्तदर्शी कवि इसे सदा अनुभव करते चले आए हैं। कृति को ही नहीं, संगीत को भी यह शक्ति प्राप्त है। तीर की तरह वह भी आत्मा को छूकर रति-सुप्त तार झंकृत कर देता है। महाकवि कालिदास के दुष्यंत की हृत्तन्त्री के ार एक बार झंकृत हो उठे थे—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥[1]

केशव ने आलम्बन विभाव के अन्तर्गत निम्नलिखित वस्तुएं गिनाई हैं—

दंपति जोवन रूप जाति लच्छन जुत सखि जन,
कोकिल कलित वसंत फूल फल दल अलि उपवन।
जलचर जलजुत अमल कमल कमला कमलाकर,
चातिक मोर सु सब्द तड़ित घन अंबुद अम्बर।

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, पांचवां अंक, श्लोक ६

सुभ सेज दीप सौगन्ध गृह पान गान परिधान मनि।
नव नृत्य-भेद बीनादि रवि आलंबन केसव बरनि॥[1]

युवक-दम्पतियों के आलम्बन होने में किसीको सन्देह नहीं, किन्तु यहां केशव ने अनेक ऐसी वस्तुओं के नाम गिनाए हैं जिन्हें परम्परायुक्त साहित्यशास्त्र आलम्बन नहीं उद्दीपन मानता है। ध्यान से देखने पर प्रथम पंक्ति में शृंगार के आलम्बन-स्वरूप चेतन-सामग्री है जिसमें युवक-दम्पति सपरिकर गिना दिए गए हैं। द्वितीय पंक्ति में वसन्त के उपकरण, तृतीय में शरद् के और चतुर्थ में वर्षा के, पांचवीं पंक्ति में नृत्य, वाद्य, संगीत आदि कलाओं का उल्लेख है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि केशव युवक-युवतियों, प्राकृतिक उपादानों, विलास-सामग्रियों एवं संगीत-नृत्य आदि कलाओं में सभीमें रत्युद्-बोधिका शक्ति मानते हैं, किन्हींमें विशेष रूप से किन्हींमें सामान्य रूप से। शृंगार के आलम्बन की यह बड़ी व्यापक कल्पना है। कई व्याख्याकारों ने इस छप्पय के अर्थ को खींच-तानकर इन उपादानों को उद्दीपन कहने की चेष्टा की है। उदाहरणस्वरूप 'रसिक-प्रिया' के प्राचीनतम टीकाकार सरदार कवि ने ही ऐसा प्रयत्न किया है।[2] परन्तु ऐसा करना व्यर्थ की खींचातानी है, केशव तो डिंडिमघोष के साथ इन सबको आलंबन बना रहे हैं। यह दूसरी बात है कि साहित्यशास्त्र-परम्परा को केशव का मत मान्य न हो, किन्तु निःसन्देह केशव अपने दृष्टिकोण में मौलिक हैं।

केशव इस दृष्टिकोण से निम्न निष्कर्ष निकालते हैं—

१. केशव प्राकृतिक उपादानों में स्वतन्त्रतया रति-सामान्य के उद्बोधन की शक्ति स्वीकार करते हैं।

२. वे विलास-सामग्री में भी जब इस शक्ति को मानते है, तब ललित कलाओं में इस शक्ति के न होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

३. इन उपादनों में यह शक्ति शृंगार के सम्बन्ध में ही मानी गई है। इसी शृंगार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से उनके सभी लक्षण प्रभावित हुए हैं, यद्यपि उनकी शास्त्रीयता अक्षुण्ण बनी रही है, जोकि साभिप्राय 'अतन' जैसे शब्दों के प्रयोग से बची है।

४. केशव का दृष्टिकोण शुद्ध पाठ्य-काव्यपरक है। वे यह मानकर चले हैं कि यदि कवि शृंगार के प्रसंग में इन उपादानों में से किसी एक का भी सांगोपांग वर्णन कर दे, जैसे किसी ऋतु का, तो पाठक में रत्यात्मक चित्तवृत्ति का उदय करा सकता है।

उद्दीपन विभाव

जिनतें दीपति होति है ते उद्दीप बखानि॥[3]

---

१. रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द ६

२. रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द ६

३ रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द ५

केशव का यह लक्षण भी शास्त्रीय परम्परानुकूल है[1] किन्तु इसकी भी व्याप्ति कुछ भिन्न है। उन्होंने उद्दीपन के अन्तर्गत निम्न वस्तुएं गिनाई हैं—

अवलोकनि आलाप परिरम्भन नख-रद-दान।
चुंबनादि उद्दीप ये मर्दन परस प्रमान ।।[2]

ये आलम्बनगत चेष्टाएं हैं और उद्दीपन का काम भी करती हैं। केशव के अनुसार असमय में आलम्बन के प्रति काम या रति-वासना उद्बुद्ध होने पर आलम्बन की चेष्टाएं उस उद्बुद्ध रति को उद्दीप्त करेंगी ही। शृंगार में नायक-नायिका परस्पर एक-दूसरे के आलम्बन-आश्रय हो जाते हैं। अतः केशव ने उनकी मिलीजुली चेष्टाओं का ही वर्णन किया है। इतना तो ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि केशव ने शास्त्रों में गिनाए प्राकृतिक उपादानों को उद्दीपन-रूप में क्यों नहीं गिनाया ? यदि उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं तो उनकी उद्दीपनात्मक शक्ति को भी तो अस्वीकार नहीं कर सकते। इस दृष्टि से केशव के उद्दीपन लक्षण की व्याप्ति संकुचित है। सम्भवतः केशव ने यह मान लिया कि प्राकृतिक उपादानों की उद्दीपन-रूप में मान्यता तो सर्वप्रसिद्ध है। अतः अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को दिखाना ही उन्होंने उचित समझा।

अनुभाव तथा सात्त्विक भाव

अनुभाव का लक्षण भी संस्कृत-आचार्यों में दृष्टि-भेद से यत्किंचित् भिन्न पदावली में मिलता है। आचार्य भरत का लक्षण इस प्रकार है—

अथानुभाव इति कस्मात्। उच्यते। अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वकृतोऽभिनय इति ।।[3]

अर्थात् वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय जिसके द्वारा (सामाजिक को) अनुभावित कराया जाता है। 'दशरूपककार' का लक्षण निम्न प्रकार है—

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।।[4]

(सामाजिक को) भावों की सूचना देनेवाले पात्रगत विकार अनुभाव कहलाते हैं। धनिक इस लक्षण की संगति दो प्रकार से लगाते हैं :[5]

१. जो भ्रू-विक्षेप, कटाक्षादि सामाजिकों को स्थायीभावों का अनुभव कराते हुए रस की पुष्टि करते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। ये सहृदय को अनुभव-क्रिया के कर्म बनते

---

१. उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।।

—साहित्यदर्पण, ३।१३८

२. रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द ७

३. नाट्यशास्त्र, पृष्ठ १०५

४. दशरूपक, ४।३

५. स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान्सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः। एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षादभावकानुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। —दशरूपकम्, धनिक, प्रकाश ४, श्लोक ३

हैं अर्थात् सामाजिक द्वारा इनका अनुभव किया जाता है। अतः 'अनुभूयन्त इति अनुभावाः' इस व्युत्पत्ति से इनका नाम अनुभाव है।

२. 'अनुभवनमिति अनुभावाः'—अर्थात् आश्रय-पात्र के हृदय में आलम्बनोद्दीपन के प्रभाव के फलस्वरूप रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। उनके अनु अर्थात् पश्चात् कार्य-रूप में होनेवाले विकार अनुभाव कहलाते है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—

उद्बुद्धः कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावःकाव्यनाट्ययोः ।।[1]

"भाव अपने-अपने कारणों से रामादि पात्र के हृदय में उद्बुद्ध होते हैं, उन उद्बुद्ध भावों को बाहर प्रकाशित कर देनेवाले विकार जोकि लौकिक दृष्टि से कार्य-रूप हैं, काव्य-नाटक में अनुभाव कहे जाते हैं।"

आचार्य विश्वनाथ ने भी धनंजय के समान ही आश्रय-पात्रगत भावों के संसूचन अथवा प्रकाशन को ध्यान में रखा है। साथ ही उन्हें कार्य-रूप कहकर उनके अनु (पश्चात्) भाव उत्पन्न होने की भी स्वीकृति दी है।

इन परिभाषाओं में अनुभावों की दो विशेषताओं का परिचय मिलता है। प्रथम तो यह कि अनुभाव पात्र के हृदय में भावोद्बोध के अनन्तर जन्म लेते हैं। दूसरे, वे पात्रगत भाव के प्रकाशन का कार्य करते है। किन्तु एक तीसरी अत्यन्त आवश्यक बात छूट जाती है, वह यह है कि इन अनुभावात्मक विकारों की सीमा कहां तक है। अर्थात् आश्रय-पात्र के कौन-कौन-से विकारों को अनुभाव के अन्तर्गत गिना जाए। उसके बाह्य स्थूल इन्द्रिय-विकारों, जैसे कटाक्ष, भ्रू-विक्षेप, अधर-स्फुरण आदि भाव को अथवा उसके अन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रिय-विकारों को भी। संस्कृत-आचार्यों ने इस बात को जान-बूझकर छोड़ दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। कारण यह हो सकता है कि सभी बाह्येन्द्रिय-विकार मनोविकारों से या भावों से ही परिचालित होते हैं। जब तक उनका बाह्य रूप प्रकाश में नहीं आता तब तक उनमें अनुभावन की शक्ति ही नहीं आती। किन्तु बात फिर भी अधूरी रह जाती है। अनुभावों में दो प्रकार की विशेषताएं दिखाई गई हैं। पहली अनुभावन अर्थात् भाव-प्रकाशन की, दूसरी अनु अर्थात् भावानन्तर उत्पन्न होने की। इस भावानन्तरीय उत्पत्ति में दो प्रकार की स्थिति सामने आती है। आश्रय-पात्र की मानसिक विकारात्मक स्थिति एक तो ऐसी हो सकती है कि वह अपने बाह्य विकारों को बहुत कुछ स्वेच्छा से परिचालित कर सके। दूसरे, बाह्य विकार ऐसे भी हो सकते हैं जिनका प्रकटन उसकी नियंत्रण-शक्ति से बहुत कुछ परे हो। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखकर प्राचीन आचार्यों ने सात्त्विक भावों को अनुभावों से अलग गिनाया है। जहां अनुभावों की संख्या का कोई निर्धारण नहीं वहां सात्त्विक की संख्या आठ निर्धारित की गई है। सात्त्विक भाव मनो-

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१४०

विकारों के अधिक समीप पड़ते हैं और वे स्थूल अनुभावों की अपेक्षा पात्र के नियंत्रण से परे होते हैं; अतः अधिक स्वाभाविक होते हैं। सात्त्विक भावों में दो प्रकार के तत्त्वों की उपलब्धि होती है। एक भावात्मक दूसरी अनुभवात्मक। इसी कारण इन्हें एक ओर तो सात्त्विक (भाव) कहा जाता है, दूसरी ओर अनुभावों में भी गिना जाता है। सत्त्व मन की एक विशेष दशा का नाम है। जब भावोद्रेक के क्षणों में चित्त समाहित या एकतान हो जाता है तब मन की दशा को सात्त्विक कहा जाता है। दार्शनिक दृष्टि से मन के तमस् एवं रजस् के दब जाने पर सत्त्वगुण की प्रधानता होने के कारण इस दशा को सात्त्विक कहा जाता है। आश्रय-पात्र के मन की सात्त्विक स्थिति को इस प्रकार की तमस्-रजस् की दबी हुई सत्त्व-प्रधान स्थिति तो नहीं कह सकते क्योंकि फिर तो रावण आदि गत तमस्जन्य क्रोध भी सात्त्विक कहा जाने लगेगा। हां, उसमें एकतानता एवं प्रकृत भाव में डूबी हुई स्थिति अवश्य पाई जाती है। चित्त की भाव में डूबी हुई ऐसी ही स्थिति में जो बहिरिन्द्रय-विकार होंगे उनमें कुछ ऐसे अवश्य होंगे जिनपर अनुभवकर्ता पात्र का कुछ वश न होगा। अश्रु, स्वेद, कम्प, विवर्णता आदि ऐसे ही विकार हैं और अन्य स्थूल विकारों की अपेक्षा वे मानसिक स्थिति के अधिक समीप हैं। उनकी उत्पत्ति भावदशा की उत्पत्ति के इतनी निकट है कि उनकी अनन्तरोत्पत्ति के क्षणों को अलग करना कठिन है। यह भाव-स्थिति के निकटतम उत्पत्ति उनके 'भाव' नामकरण में सहायक है। किन्तु फिर भी उनकी दो विशेषताओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक तो भावों के कार्य-रूप में उनकी उत्पत्ति तथा उत्पन्न होकर सहृदय के लिए पात्रगत भावों के प्रकाशन का उपयोग। बस, ये दोनों बातें ही उन्हें अनुभाव-वर्ग में परिगणित कराती है। प्राचीन आचार्यों ने इन्हें अलग रखते हुए भी उनके अनुभाव तत्त्व को स्पष्ट स्वीकार किया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभाव कहे जानेवाले विकारों को निश्चित सीमा में बांधनेवाली परिभाषा नहीं बनाई जा सकती। क्योंकि इनका प्रसार सात्त्विक कहे जानेवाले विकारों तक भी है। और न कोई ऐसी परिभाषा ही ठीक होगी जो सात्त्विकों के भावात्मक तत्त्व का तिरस्कार करके उन्हें अनुभावों में समेट ले। इसी

---

१. (अ) विकाराः सत्त्व सम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥

—साहित्यदर्पण, ३।१४२

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी, कश्चनान्तरो धर्मः ।
सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्तेभिन्ना अप्यनुभावतः ॥ —साहित्यदर्पण ३।१४३

(आ) पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तस्य तद्भावभावनम् ॥ —दशरूपकम्, प्रकाश ४, श्लोक ४

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम्। यदाह सत्त्वं नाम मनःसंभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमांचादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निवृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः, भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् ॥

—दशरूपकम्, प्रकाश चतुर्थ, श्लोक ४, टीका धनिक

कारण प्राय: सभी प्राचीन आचार्यों ने उनके लक्षणों को लचीला रखा है और उनके अनन्तरोत्पत्ति एवं अनुभावात्मक तत्त्वों पर ही ज़ोर दिया है। यहां तक तो ठीक था, किन्तु इनका सीमानिर्धारण या इन विकारों का स्थान-निर्देश तो किया जा सकता था। आचार्य केशव ने इस अस्पष्टता को स्पष्टता देने का प्रयास किया है। उनका अनुभाव का लक्षण इस प्रकार है—

आलम्बन उद्दीप के जे अनुकरण बखान।
ते कहियै अनुभाव सब, दंपति प्रीति-विधान॥[1]

दाम्पत्य प्रीति-विधान में आलम्बन एवं उद्दीपन-रूप विभावों के फलस्वरूप होने वाले इन्द्रिय-विकारों का जो वर्णन होता है वह सब अनुभाव के अन्तर्गत आता है।

केशव ने अपने लक्षण में 'अनु' शब्द को संस्कृत-आचार्यों के समान ही 'पश्चात्' अर्थबोधक भी रखा है जिससे वह एक ओर तो 'देहली दीपक न्याय' से आलम्बन-उद्दीप के अनु इस प्रकार अन्वित होकर यह संकेत करता है कि इन विकारों का जन्म विभावों के प्रभाव से आश्रय में जो भावोद्‌बोध देता है उसके फलस्वरूप होता है। दूसरी ओर 'अनु' शब्द में करण का भाव भी अंतर्निहित है। करण शब्द इन्द्रियवाची है और अपने व्यापक अर्थ में लिया गया है। इसकी सीमा में ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां एवं मन अर्थात् एकादश स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियां आ जाती हैं। अत: अनुकरण बखान का अर्थ हुआ इन्द्रियों को लक्ष्य करके उनके विकारों का वर्णन। संक्षेप में, हम केशव के अनुभाव-लक्षण को इस प्रकार रख सकते है—

१. केशव की अनुभावों की परिभाषा लक्षणशास्त्र-सम्मत है। उसमें प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता है। क्योंकि उसमें निम्न बातों का स्पष्ट निर्देश है :

(अ) अनुभाव भावोद्‌बोध के अनन्तर उत्पन्न होते हैं।

(आ) इनकी सीमा सात्त्विक भावरूप विकारों तक भी सहज है। क्योंकि वे भी आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रियों के विकारों के मिश्रित रूप हैं।

(इ) इस लक्षण में केशव ने उनके भावानन्तरोद्‌भवत्व एवं उद्‌भव-स्थान का भी स्पष्ट किया है।

२. केशव ने अनुभावनवाली बात को स्पष्ट नहीं किया।

३. 'बखान' शब्द से केशव का दृष्टिकोण शुद्ध पाठ्य-काव्यपरक प्रतीत होता है। भरत के समान अभिनेयपरक नहीं।

सात्त्विक भाव

प्राचीन आचार्यों के समान ही केशव सात्त्विक भावों के अनुभावात्मक तत्त्व को मानते हुए भी उनकी भावात्मक सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। इस परम्परा

---

१. रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द ८

के अनुसार[1] उन्हें सात्त्विकों के आठ भेद मान्य हैं—

स्तम्भ स्वेद रोमांच सुरभंग कंप वैवन्य।
आँसू प्रलय बखानियै आठौ नाम अनन्य ॥[2]

स्थायीभाव

केशव ने आठ स्थायीभाव माने हैं जो रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, निन्दा, विस्मय हैं।[3] यों तो प्राचीन आचार्यों ने भी आठ ही स्थायीभावों को प्रामाणिक माना है, किन्तु उनके तथा केशव के आठ गिनाने में दृष्टिकोण का अन्तर है। हमें इस बात को स्पष्ट करके देखना होगा।

भरत ने भी स्थायीभावों की संख्या आठ ही मानी है[4] और उसके साथ ही उनके रसों की संख्या भी आठ मानी है।[5] उन्होंने शान्त रस एवं उसके स्थायी शब्द को अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया। इसका समाधान दिया जाता है कि उन्हें शान्त की सत्ता मूलतः स्वीकार्य नहीं; ऐसी बात नहीं, अपितु नाटक में वे शान्त को अनभिनेय मानकर छोड़ देते हैं। अभिनय को ध्यान में रखकर जितने ग्रन्थ तैयार हुए उनमें भरत की इसी मान्यता की प्रतिध्वनि है। धनंजय ने भी इसी मार्ग को अपनाया है।[6] दशरूपक के टीका-

---

१. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, श्लोक २३

स्तम्भप्रलयरोमांचाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू।
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियांगताः ॥

—दशरूपकम्, प्रकाश ४, श्लोक ५, ६

२. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द १०
यह पाठ श्री विश्वनाथप्रसाद द्वारा सम्पादित 'केशव-ग्रन्थावली' खंड प्रथम से लिया गया है। किन्हीं पुस्तकों में प्रलय के स्थान पर 'प्रलाप' पाठ मिलता है, किन्तु इसका प्रमाण नहीं कि वही पाठ शुद्ध है। डा० हीरालाल दीक्षित भी यही मानते हैं कि संभव है कि यह छापे की भूल हो।

—'केशव-ग्रन्थावली', पृष्ठ २७६

३. रति हाँसी अरु सोक पुनि क्रोध उछाह सुजान।
भय निन्दा विस्मय सदा, थाई भाव प्रमान ॥

—रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ६

४. रतिर्हासश्चशोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥

—भरत-नाट्यशास्त्र, ६-१८

५. शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। —नाट्यशास्त्र, ६।१६

६. रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ —दशरूपक, ४।३५

कार धनिक की भी यही मान्यता है।[१] यह तो हुई शुद्ध अभिनय पर विचार करनेवालों की बात। कुछ मिले-जुले दृष्टिकोणवाले हैं, जैसे विश्वनाथ; वे घुमा-फिराकर दोनों बातें कह देते हैं—

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः॥[२]

तीसरे वर्ग में मम्मट जैसे समन्वयवादी है जोकि झगड़े में न पड़कर दोनों मान्यताओं का उल्लेख कर जाते हैं। मम्मट ने पहले तो भरत की कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, फिर आगे चलकर 'निर्वेद स्थायिभावोऽस्मि शान्तोपि नवमो रसः,'[3] कहकर शान्तरस को भी मान्यता दे दी है। चौथे वर्ग में शुद्ध काव्य पर दृष्टि रखनेवाले पंडितराज जैसे लोग हैं जोकि स्पष्टतः नौ स्थायीभाव तथा उनके नौ रस मानते हैं।[४]

केशव ने आठ स्थायी गिनाए हैं, किन्तु वे 'रसिकप्रिया' के प्रथम प्रभाव में ही नौ रसों की स्पष्ट घोषणा करके चले हैं।[५] यही नहीं, रसों की नौ संख्या उन्हें स्थान-स्थान पर मान्य है।[६] यह बात एक साधारण पाठक के लिए विचित्र लगती है कि आचार्य केशव रस-संख्या नौ गिनाते है और स्थायी आठ ही। इसका समाधान खोजना आवश्यक है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि केशव ने पूर्व में जो नौ रस माने हैं वे रस की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हुए, किन्तु छठे प्रभाव में जो भाव-विवेचन है वह केवल श्रृंगार के सम्बन्ध से है। चौदहवें प्रभाव में वे श्रृंगार में अन्य रसों का अन्तर्भाव दिखाने जा रहे है। शम श्रृंगार का अत्यन्त विरोधी है, एक ही आलम्बन और एक ही आश्रय के बीच रखकर शान्त और श्रृंगार का निर्वाह असंभव है। केशवदास उसे यहां इसलिए छोड़ देते हैं। चौदहवें प्रभाव में जब उन्होंने इतर रसों का अन्तर्भाव कर दिया, तदुपरान्त वे शान्त के दो उदाहरण प्रस्तुत करते है। एक तो वह शम है जो संसार की समस्त विभूतियों से निर्वेद लिए हुए है। यह शम स्वतन्त्र है, इसका अन्तर्भाव उन्हें श्रृंगार में न अभीष्ट है और न

---

१. यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्॥

—धनिक टीका, दशरूपकम्, ४।३५

२. साहित्यदर्पण, ३।१८७

३. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४७

४. (अ) रतिःशोकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी। —रसगंगाधर, पृ० ३०
(आ) श्रृंगारः करुणः शान्तः रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हासो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव। —रसगंगाधर, पृ० २९

५. प्रथम सिंगार सुहास्य-रस करुना रुद्र सुबीर।
भय बीभत्स बखानिए अद्भुत सात सुधीर।
नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार॥ —रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १५, १६

६. देखिए रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ४१

संभव है। किन्तु इससे तो शृंगार का रसराजत्व अधूरा ही रहता है; अतः वे शम का अंतर्भावपरक एक और उदाहरण देते हैं और इसके लिए शम का एक हलका रूप उपस्थित करते हैं—

सब तें होय उदास मन, बसे एक ही ठौर।
ताही सों समरस कहत 'केसव' कवि सिरमौर ॥[1]

और इस प्रकार के शम का अन्तर्भाव वे सफलता से करके दिखाते हैं। यह सब तो हम आगे चलकर देखेंगे। यहां केवल इतना देखना है कि केशव ने जो स्थायीभावों की संख्या आठ गिनाई है वह ऊपर से तो उसी प्रकार का कार्य है जैसा भरत, धनंजय अथवा मम्मट, विश्वनाथ आदि का, परन्तु इसमें केशव का मन्तव्य उसी प्रकार भिन्न है जैसाकि हम अन्य आचार्यो का ऊपर देख चुके हैं। केशव ने शुद्ध पाठ्य-काव्य को लिया है, अतः नौ रसों की संख्या उन्हें मान्य है, किन्तु शृंगार के अन्तर्भाव के लिए उन्होंने शुद्ध आठ स्थायीभाव माने हैं। बीभत्स के विषय में भी उन्होंने ऐसा ही किया है। बीभत्स के स्थायीभाव जुगुप्सा को छोड़कर उन्होंने हलके भाव निन्दा को अपनाकर अन्तर्भाव का काम चलाया है। शान्तरस के विषय में तात्त्विक निर्वेद को हटाने पर एक स्वतन्त्र रस की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। शान्तेतर आठ रस लौकिक रस हैं जबकि शान्त लोकैषणा आदि से परे, अलग सत्ता लिए हुए, एक स्वतन्त्र रस है। अतः उसकी सत्ता का तिरस्कार केशव को अभीष्ट न था। इस प्रकार यहां स्थायीभावों की आठ संख्या गिनाने में केशव का अन्तर्भावपरक दृष्टिकोण है।

व्यभिचारीभाव

केशव ने व्यभिचारीभावों के लक्षण एवं नाम-परिगणन में परम्परा-पालन न करके कुछ स्वतन्त्रता दिखाई है। आचार्य भरत का लक्षण इस प्रकार है—

विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।[2]

आभिमुख्य का अर्थ है, कार्योत्पत्ति में सहायक होना।[3] और विविध से तात्पर्य है अनियत सम्बन्ध का। तात्पर्य यह है कि रसानुभूति में सहायक बननेवाले अनियत संबंध से विचरण करते हुए भाव व्यभिचारी कहलाते हैं। इस लक्षण में दो बातें स्पष्ट हैं, किसी व्यभिचारी का किसी स्थायी में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं। दूसरे, उनका कार्य है रस-निष्पत्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण। मम्मट ने कोई लक्षण नहीं किया। किंतु उनके टीकाकारों ने भरतकृत लक्षण की दो प्रकार की व्याख्याएं उपस्थित की हैं—

१. **विशेषेणाभितः। सर्वांगव्यापितया। रत्यादीन् स्थायिनः काव्ये चारयन्ति संचारयन्ति मुहुर्मुहुरभिव्यंजयन्तीति व्यभिचारिणः ॥**[4]

---

१. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३७
२. नाट्यशास्त्र, सातवां अध्याय, पृष्ठ ११२
३. आभिमुख्येन। कार्यजनने आनुकूल्येन। —काव्यप्रकाश, टीका वामन, पृष्ठ ८६
४. काव्यप्रकाश, वामन, पृष्ठ ८६

कार धनिक की भी यही मान्यता है।[1] यह तो हुई शुद्ध अभिनय पर विचार करनेवालों की बात। कुछ मिले-जुले दृष्टिकोणवाले हैं, जैसे विश्वनाथ; वे घुमा-फिराकर दोनों बातें कह देते हैं—

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः॥[2]

तीसरे वर्ग में मम्मट जैसे समन्वयवादी हैं जोकि झगड़े में न पड़कर दोनों मान्यताओं का उल्लेख कर जाते हैं। मम्मट ने पहले तो भरत की कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, फिर आगे चलकर 'निर्वेद स्थायिभावोऽस्मि शान्तोपि नवमो रसः,'[3] कहकर शान्तरस को भी मान्यता दे दी है। चौथे वर्ग में शुद्ध काव्य पर दृष्टि रखनेवाले पंडितराज जैसे लोग हैं जोकि स्पष्टतः नौ स्थायीभाव तथा उनके नौ रस मानते हैं।[4]

केशव ने आठ स्थायी गिनाए है, किन्तु वे 'रसिकप्रिया' के प्रथम प्रभाव में ही नौ रसों की स्पष्ट घोषणा करके चले हैं।[5] यही नहीं, रसों की नौ संख्या उन्हें स्थान-स्थान पर मान्य है।[6] यह बात एक साधारण पाठक के लिए विचित्र लगती है कि आचार्य केशव रस-संख्या नौ गिनाते हैं और स्थायी आठ ही। इसका समाधान खोजना आवश्यक है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि केशव ने पूर्व में जो नौ रस माने हैं वे रस की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हुए, किन्तु छठे प्रभाव में जो भाव-विवेचन है वह केवल शृंगार के सम्बन्ध से है। चौदहवें प्रभाव में वे शृंगार में अन्य रसों का अन्तर्भाव दिखाने जा रहे हैं। शम शृंगार का अत्यन्त विरोधी है, एक ही आलम्बन और एक ही आश्रय के बीच रखकर शान्त और शृगार का निर्वाह असंभव है। केशवदास उसे यहां इसलिए छोड़ देते है। चौदहवें प्रभाव में जब उन्होंने इतर रसों का अन्तर्भाव कर दिया, तदुपरान्त वे शान्त के दो उदाहरण प्रस्तुत करते है। एक तो वह शम है जो संसार की समस्त विभूतियों से निर्वेद लिए हुए है। यह शम स्वतन्त्र है, इसका अन्तर्भाव उन्हें शृंगार में न अभीष्ट है और न

---

१. यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्॥

—धनिक टीका, दशरूपकम्, ४।३५

२. साहित्यदर्पण, ३।१८७

३. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४७

४. (अ) रतिःशोकश्च निर्वेरक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी। —रसगंगाधर, पृ० ३०
(आ) शृंगारः करुणः शान्तः रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हासो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव। —रसगंगाधर, पृ० २९

५. प्रथम सिंगार सुहास्य-रस करुना रुद्र सुबीर।
भय बीभत्स बखानिए अद्भुत सात सुधीर।
नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार॥ —रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १५, १६

६. देखिए रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ४१

संभव है। किन्तु इससे तो शृंगार का रसराजत्व अधूरा ही रहता है; अतः वे शम का अंतर्भावपरक एक और उदाहरण देते हैं और इसके लिए शम का एक हलका रूप उपस्थित करते हैं—

सब तें होय उदास मन, बसे एक ही ठौर।
ताही सौं समरस कहत 'केसव' कवि सिरमौर ॥[1]

और इस प्रकार के शम का अन्तर्भाव वे सफलता से करके दिखाते हैं। यह सब तो हम आगे चलकर देखेंगे। यहां केवल इतना देखना है कि केशव ने जो स्थायीभावों की संख्या आठ गिनाई है वह ऊपर से तो उसी प्रकार का कार्य है जैसा भरत, धनंजय अथवा मम्मट, विश्वनाथ आदि का, परन्तु इसमें केशव का मन्तव्य उसी प्रकार भिन्न है जैसाकि हम अन्य आचार्यों का ऊपर देख चुके हैं। केशव ने शुद्ध पाठ्य-काव्य को लिया है, अतः नौ रसों की संख्या उन्हें मान्य है, किन्तु शृंगार के अन्तर्भाव के लिए उन्होंने शुद्ध आठ स्थायीभाव माने हैं। बीभत्स के विषय में भी उन्होंने ऐसा ही किया है। बीभत्स के स्थायीभाव जुगुप्सा को छोड़कर उन्होंने हलके भाव निन्दा को अपनाकर अन्तर्भाव का काम चलाया है। शान्तरस के विषय में तात्त्विक निर्वेद को हटाने पर एक स्वतन्त्र रस की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। शान्तेतर आठ रस लौकिक रस हैं जबकि शान्त लोकैषणा आदि से परे, अलग सत्ता लिए हुए, एक स्वतन्त्र रस है। अतः उसकी सत्ता का तिरस्कार केशव को अभीष्ट न था। इस प्रकार यहां स्थायीभावों की आठ संख्या गिनाने में केशव का अन्तर्भावपरक दृष्टिकोण है।

व्यभिचारीभाव

केशव ने व्यभिचारीभावों के लक्षण एवं नाम-परिगणन में परम्परा-पालन न करके कुछ स्वतन्त्रता दिखाई है। आचार्य भरत का लक्षण इस प्रकार है—

विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।[2]

आभिमुख्य का अर्थ है, कार्योत्पत्ति में सहायक होना।[3] और विविध से तात्पर्य है अनियत सम्बन्ध का। तात्पर्य यह है कि रसानुभूति में सहायक बननेवाले अनियत संबंध से विचरण करते हुए भाव व्यभिचारी कहलाते हैं। इस लक्षण में दो बातें स्पष्ट हैं, किसी व्यभिचारी का किसी स्थायी में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं। दूसरे, उनका कार्य है रस-निष्पत्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण। मम्मट ने कोई लक्षण नहीं किया। किंतु उनके टीकाकारों ने भरतकृत लक्षण की दो प्रकार की व्याख्याएं उपस्थित की हैं—

१. **विशेषेणाभितः। सर्वांगव्यापितया। रत्यादीन् स्थायिनः काव्ये चारयन्ति संचारयन्ति मुहुर्मुहुरभिव्यंजयन्तीति व्यभिचारिणः ॥[4]**

---

१. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३७
२. नाट्यशास्त्र, सातवां अध्याय, पृष्ठ ११२
३. आभिमुख्येन। कार्यजनने आनुकूल्येन। —काव्यप्रकाश, टीका वामन, पृष्ठ ८६
४. काव्यप्रकाश, वामन, पृष्ठ ८६

जो स्थायीभावों को समस्त शरीर में फैलाकर व्यंजन-समर्थ बना देते हैं।

२. विशेषेणाभितः। आभिमुख्येनकार्यजनने आनुकूल्येन। चरन्तीति व्यभिचारिणः।

इन व्याख्याओं से भी व्यभिचारियों का कार्य अनुकूल परिस्थिति का निर्माण ही ठहरता है। साथ ही उनकी अनियत स्थिति का उल्लेख है—

अतत्स्वानियतत्वादपि व्यभिचारिण इतिज्ञेयम्॥[१]

धनंजय का लक्षण इस प्रकार है—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥[२]

धनंजय ने कार्यानुकूल परिस्थिति-निर्माण के साथ उनकी अचिरकालीन स्थिति का भी संकेत किया है। विश्वनाथ के लक्षण में धनंजय की ही प्रतिध्वनि है।[३] इसकी पृथक् स्थिति का संकेत मम्मट भी प्रसंगवश देते हैं—

चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृंगारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः॥[४]

इन आचार्यों के लक्षणों से व्यभिचारियों की निम्न विशेषताएं स्पष्ट होती हैं—

१. व्यभिचारियों का किसी स्थायी या किसी रस से कोई नियत सम्बन्ध नहीं है, इसी व्यभिचार के कारण उन्हें व्यभिचारी कहा जाता है। इनका सहचार सभी भावों में हो सकता है।[५]

२. इसका काम रसानुकूल परिस्थिति-निर्माण है।

३. विभिन्न आचार्यों के लक्षणों में मूलतः कोई अन्तर नहीं। उनके विभिन्न पदों पर ध्यान रखते हुए लक्षण या व्याख्या में भिन्नता मिलती है।

अब केशव के लक्षण पर आइए—

भाव जु सब ही रसनि में, उपजत केशवराय,
बिना नियम तिनसौं कहें व्यभिचारी कविराय॥[६]

जो भाव सभी रसों (स्थायीभावों) में बिना किसी निश्चित सम्बन्ध के उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। इस लक्षण से निम्न बातें स्पष्ट हैं—

१. व्यभिचारी एक प्रकार के भाव हैं।

२. इनका किसी स्थायी से नियत सम्बन्ध नहीं।

३. केशव ने इनके और स्थायियों के संबंध की व्याख्या की है। रसाभिव्यक्ति

---

१. काव्यप्रकाश, वामन, पृष्ठ ८६

२. दशरूपक, ४।७

३. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। —साहित्यदर्पण, ३।१४६

४. काव्यप्रकाश, तृतीय उल्लास, सूत्र ४, पृष्ठ ९५

५. यानि सहचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन। — रसगंगाधर, पृष्ठ ३३

६. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ११

में इनका क्या उपयोग है तथा इनकी मौलिक स्थिति क्या है, इसका उल्लेख नहीं हुआ।

इस प्रकार केशव का लक्षण सर्वांगीण नहीं। लक्षण केवल सामान्य परिचय के लिए बना हुआ है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि शास्त्रीय है।

उनके नामों एवं भेदों के विषय में केशव ने कुछ स्वतन्त्रता अपनाई है। केशव ने व्यभिचारियों के निम्न पैंतीस भेद गिनाए हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, आलस्य, दैन्य, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, श्रम, मद, चिन्ता, मोह, गर्व, हर्ष, आवेग, निन्दा, निद्रा, विवाद, जड़ता, उत्कंठा, स्वप्न, प्रबोध, विषाद, अपस्मार, मति, उग्रता, त्रास, तर्क, व्याधि, उन्माद, भरण, अवहित्था एवं आधि।[१] भरत-परम्परा से इनके नामों, संख्या एवं स्वरूप में कुछ अन्तर है। भरत ने निम्न तेंतीस व्यभिचारी गिनाए हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निन्दा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, भरण, भास तथा वितर्क।[२]

आचार्य मम्मट तथा रसतरंगिणीकार ने भरत की कारिका को ज्यों की त्यों ले लिया है।[3] 'दशरूपक' में धनंजय ने नाम एवं संख्या तो यही रखी है, केवल उनका छन्द बदला हुआ है।[४] विश्वनाथ ने भी भिन्न छन्द में भिन्न रूप से इन्हींको रखा है। केवल सुप्त के स्थान पर स्वप्न नाम दिया है।[५] पंडितराज जगन्नाथ ने गद्य में इनके नाम गिनाए हैं।[६] साथ ही उन्होंने तेंतीस नाम गिनाकर पीछे से गुरु, देव, नृप, पुत्रादि-विषयक रति को भी संचारियों में गिनाकर संख्या चौंतीस कर दी है।[७] पंडितराज ने एक बड़े मार्के की बात कही है कि यह संख्या तेंतीस से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती, क्योंकि भरतमुनि के वचन का अंकुश रखा हुआ है। किन्तु केशव के ऊपर वह अंकुश अधिक काम नहीं कर सका। उनमें भरत से वैषम्य पाया जाता है। इस वैषम्य को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—

(अ) केवल नाम-भेद—जैसे भरत के औत्सुक्य, सुप्त, विबोध, वितर्क को केशव ने क्रमशः उत्कंठा, स्वप्न, प्रबोध, तर्क कहा है। यह कोई बड़ा वैषम्य नहीं। सुप्त को

---

१. रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द १२ से १४ तक
२. नाट्यशास्त्र, ६।२२
३. काव्यप्रकाश, ४।४६
४. दशरूपक, ४।६
५. साहित्यदर्पण, ३।१४५
६. रसगंगाधर, पृष्ठ ७६
७. इति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः। गुरुदेव नृपपुत्रादि विषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्। एतेन वात्सल्याख्येन पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरंपरास्तं उच्छ्रंखलताया मुनिवचनपराहतत्वात्।।
—रसगंगाधर, पृष्ठ ७६

स्वप्न विश्वनाथ ने भी कहा है और वितर्क को तर्क धनंजय[1] ने भी, औत्सुक्य एवं उत्कंठा पर्याय-मात्र हैं।

(आ) भरत-परम्परा की स्थापना—जैसे अमर्ष, असूया के स्थान पर केशव ने कोह, एवं निन्दा को लिख दिया है।

(इ) नवीन इस प्रकार है—विवाद एवं आधि दो नये नाम जोड़कर संख्या पैंतीस की गई है।

आधि के जोड़ने में तो केशव की ओर से यह तर्क दिया जा सकता है कि जब व्याधि जोकि मूलतः शारीरिक व्यथा है, व्यभिचारियों में गिन ली गई तब आधि तो मानसिक व्यथा होने के कारण भावक्षेत्र के और भी समीप है। 'विवाद' को केशव ने अपनी स्वच्छन्दता प्रकट करने के लिए ही जोड़ा प्रतीत होता है; क्योंकि प्राचीन सभी आचार्यो को यह तथ्य स्वीकार्य है कि संचारी रूपों की अनेक भावभूतियां हो सकती हैं। उनमें से कुछ स्थूल भाववृत्तियों का ही नामकरण कर दिया गया है। तैंतीस संख्या तो उपलक्षण-मात्र है। वास्तव में केशव का मन्तव्य भी यही है। वे अपनी उच्छृंखलता नहीं दिखाना चाहते, अपितु एक-दो नाम घटा-बढ़ाकर काव्योचित रूप में यही दिखाना चाहते हैं कि ये तैंतीस भेद रूढ़ि-मात्र हैं तथा विवेचन-मात्र के लिए हैं, अन्यथा वे अनेक हो सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि केशव ने अमर्ष एवं असूया के स्थान पर कोह एवं निन्दा का नाम क्यों दिया? वास्तव में कोह, क्रोध का पर्याय नहीं परन्तु हिन्दी में बहुत दिनों से अमर्ष के समान ही हलके क्रोध के अर्थ में प्रयोग होने लगा था। तुलसी ने प्रायः इसी हलके क्रोध के अर्थ में 'कोह' शब्द का प्रयोग किया है। अब रही निन्दा की बात। असूया एवं निन्दा एक ही वर्ग के लगभग एक-से ही भाव है। गुणों में दोष निकालना असूया कहलाती है। 'रसिकप्रिया' में केशव के सामने अन्तर्भाववाली योजना प्रतिक्षण घूमती रहती थी। उन्हें ध्यान था कि वे जुगुप्सा के स्थान पर निन्दा की स्थापना करनेवाले हैं। अच्छा रहे यहां 'निन्दा' को संचारियों में गिना दिया जाए। जिस प्रकार मम्मट ने व्यभिचारियों में से निर्वेद को उठाकर शान्त का स्थायीभाव बनाया था उसी प्रकार निन्दा को व्यभिचारियों में से उठाकर आवश्यकतानुसार स्थायीभाव बना लिया जाए। मम्मट का कथन है कि भरत ने भी इसी दृष्टिकोण से निर्वेद को समस्त व्यभिचारियों से पहले रखा क्योंकि उसमें अन्यों की अपेक्षा स्थायित्व-प्राप्ति की शक्ति अधिक है।[2] केशव ने भी निन्दा को ऐसी शक्ति देने का प्रयत्न किया है और मार्ग मम्मट से अपनाया है। जब निन्दा संचारियों में गिन ली गई तब उसकी बहुत कुछ समानार्थक असूया को छोड़ देना ही

---

१. तर्को विचारः संदेहाद्भूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः।

—दशरूपकम्, ४।२९

२. निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम्।

—काव्यप्रकाश, पृष्ठ११६

उचित था। गद्यवृत्ति के अभाव में अपने मन्तव्यों के संकेत का यह काव्योचित ढंग केशव ने अपनाया था।

यह दिखाया जा चुका है कि केशव को काव्य में रस की सर्वोपरि मान्यता स्वीकृत है। 'रसिकप्रिया' में वे शृंगार के रसराजत्व की स्थापना का उद्देश्य लेकर चले हैं। 'रसिकप्रिया' के चौदहवें प्रभाव में उन्होंने अन्य रसों का भी उल्लेख किया है, जिसमें हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत एवं शम के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक लक्षण तत्तद् रस के स्वतन्त्र रूप का विवेचन करता है, किन्तु उसका उदाहरण शृंगार के अंगभूत रूप में ही दिया गया है। लक्षणों की यह विशेषता है कि उनमें अन्तर्भाव के दृष्टिकोण से कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन किए गए हैं। ये परिवर्तन उतने ही हैं जिनसे शास्त्रीय पृष्ठभूमि अक्षुण्ण बनी रहे। उदाहरणों के रखने में भी केशव ने विभिन्न शास्त्रीय विचार-परम्पराओं से अपना परिचय दिया है। इस प्रकार इस प्रभाव में गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान, रागात्मक कवित्व एवं मौलिकता का अनूठा सम्मिश्रण उप-स्थित हुआ है।

शृंगार का विवेचन पीछे हो चुका है। अन्य रसों पर यहां विचार किया जा रहा है—

कह्यो हास्य रस वरनियो अरु रस अगम कवित्त।
करुनादिक सिंगार भय वरने समझहु चित्त ॥[1]

हास्यरस

हास्य का लक्षण इस प्रकार है—

नयन बयन कछु करत जब मन को मोद उदोत।
चतुर चित्त पहिचानियै, तहां हास्यरस होत ॥[2]

"नेत्र, वाणी आदि अनुभाव जब मानसिक उल्लास का प्रकाशन करते हैं तब हास्य-रस का वर्णन समझना चाहिए।" यह सामान्य हास्य का लक्षण है। मम्मट ने तो हास्यादि के लक्षण नहीं किए, उदाहरण-मात्र देकर चलता कर दिया है। विश्वनाथ एवं धनंजय ने हास्य का सीधे-सीधे नहीं किन्तु हास स्थायी के माध्यम से लक्षण किया है। विश्वनाथ के अनुसार विकृत आकार, वाणी, वेश, चेष्टादि से हास्यरस के स्थायी हास की उत्पत्ति होती है।[3] धनंजय के अनुसार भी विकृत आकृति, वाणी, वेशादि के द्वारा हास उत्पन्न

---

१. केशव-ग्रन्थावली, पृ० ८३
२. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १
३. विकृताकारवाग्वेशचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्।
हासो हास्यस्थायिभावः श्वेतः प्रथमदैवतः ॥

—साहित्यदर्पण, ३।२१६

होता है। उसीका परिपोष हास्य कहलाता है।[1] वास्तव में इन लक्षणों में भरत के लक्षण की प्रतिध्वनि है। हास्य में जो हासात्मक चित्तवृत्ति है उसका विश्लेषण इन आचार्यों ने नहीं किया, स्वयं भरत ने भी नहीं। हास एक प्रसिद्ध एवं सर्वानुभूत भाव है। संभवतः यही समझकर किसीने उसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका को स्पर्श नहीं किया अथवा यों कहिए कि उस काल का अध्ययन उस धरातल तक नहीं उतर पाया था। भरत, धनंजय का पूरा तथा विश्वनाथ का मिला-जुला दृष्टिकोण अभिनयपरक है। भरत इतना ही विवेचन करते हैं कि किन विभावों से इसका जन्म होता है, किन अनुभावों से इसका प्रकाशन होता है और कौन-कौन-से इसमें संचारी आते हैं।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने उसके स्वरूप-विधान की ओर कुछ ध्यान अवश्य दिया है। उनके अनुसार वाणी तथा अंगादि के विकारों को देखने से चित्त की जो विकासात्मक दशा होती है, वह हास है।[3] केशव के समय तक लक्षणों में चित्तवृत्ति का भी ध्यान किया जाने लगा था। यह टीकाकार आचार्यों के विवेचन से भी प्रमाणित हो जाता है।[4]

यदि पदावली का ध्यान किया जाए तो केशव ने किसी प्राचीन आचार्य की पदावली नहीं ली। पंडितराज जगन्नाथ की भांति केशव ने भी उसे 'मन का मोद' कहा है। किन्तु केशव विभाव-माध्यम से नहीं, अनुभाव-माध्यम से उसपर विचार करते हैं। भाव-सामान्य के लक्षण में भी उन्होंने अनुभावों का ही सहारा लिया है,[5] यह हम देख चुके हैं। यहां एक शास्त्रीय बात और है। जिस रस को वे शृंगार में अन्तर्भूत करने जा रहे हैं, उसके स्वरूप, परिचय तथा चित्रण के लिए इतना ही बहुत था। प्रत्येक स्थायी अन्य का गुणीभूत होकर संचारी जैसी स्थिति का हो जाता है और उसके निरूपण के लिए विभावादि की योजना की आवश्यकता नहीं रहती। अनुभाव-मात्र के द्वारा ही उसका प्रकाशन पर्याप्त समझा जाता है। यह सभी साहित्यशास्त्रविद् जानते हैं। केशव का लक्षण आचार्य-परम्परा

---

१. विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथापरस्य वा।
हासः स्यात्परितोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः॥

—दशरूपकम् ४।७५

२. अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः..........।
व्यभिचारिणश्चावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः॥ —नाट्यशास्त्र, ६।६७
हासो नाम परचेष्टानुकरणकुहकां समृद्धि..................
..................................ईशितादिभिरनु भावैः॥ —नाट्यशास्त्र, ७।१०८

३. परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः॥ —नाट्यशास्त्र, ७।१०
वागंगादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः॥ —रसगंगाधर, पृ० ३२

४. वागादिवैकृताच्चेतोविकासोहास उच्यते॥

—काव्यप्रकाश, वामन भालकीकर टीका, पृ० ११२

५. आनन लोचन वचन मग, प्रकटत मन की बात॥

—रसिकप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द १

से भी दूर नहीं हटा, न उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष ही दुर्बल है। साथ ही उनके दृष्टिकोण से भी पूर्ण समंजस है।

भेदों के विषय में भी केशव ने मौलिकता दिखाई है। संस्कृत-आचार्यों ने हास्य छः प्रकार का माना है। स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित।[1] आचार्यों की मान्यता है कि उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार की मानवी प्रवृत्तियां हैं। उत्तमों में स्मित एवं हसित मात्रा के हास, मध्यम लोगों में विहसित तथा अवहसित जिनमें कि हंसी के साथ कुछ शब्द भी चलता है तथा निम्न प्रकृतिवालों में अपहसित तथा अतिहसित नामक हास्य होते हैं, जिनमें आंखों में आंसू, अंगों की विकृति एवं अत्यन्त कर्ण-कटु ध्वनि की सीमा तक हास पहुंच जाता है।[2] आचार्यों के इस विवेचन में केशव को दो बातें रुचिकर नहीं लगीं। प्रथम तो मात्रा के आधार पर एक-एक प्रकृति के दो-दो भेद रचना। सीधी बात यह कि जब मानव-प्रकृति को तीन भागों में बांटा गया, तो हास को भी तीन भागों में बांट दिया जाए। दूसरी बात यह है कि स्मित एवं अतिहसित को छोड़ इस वर्गीकरण के चार नाम—हसित, विहसित अवहसित तथा अपहसित नितान्त पारिभाषिक बन गए हैं। इनके उपसर्ग इनकी मात्रा का बोध कराने में सर्वथा असमर्थ हैं। तब क्यों न ऐसे नाम रख दिए जाएं जो यथानाम तथागुण हों। केशव इसी कारण अपना नूतन वर्गीकरण एवं नामकरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम कोटि का मन्दहास, मध्यम कोटि का कुछ शब्द-मिश्रित कलहास एवं अन्तिम का अतिहास। 'कल' शब्द एक ओर ध्वनि, दूसरी ओर मधुरता का संकेत लिए है। मध्यम कोटि का हास भी सध्वनि होते हुए भी अपनी मधुरता को नहीं छोड़ता। अतः केशव इस कोटि के हास को 'कलहास' नाम देते हैं। अन्तिम 'अतिहास' नाम संस्कृत-आचार्यों का ठीक-ठीक मात्रा-परिचायक था, अतः उसे ज्यों का त्यों ले लिया है। और इसीको दृष्टि में रखते हुए उन्होंने प्रथम हास का नाम 'मन्दहास' चुना है।[3]

---

१. ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्।
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः॥
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्तांगञ्च भवत्यतिहसितम्॥

—साहित्यदर्पण, ३।२१८

२. ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितंच षड्भेदाः॥

—साहित्यदर्पण, ३।२१७

३. मंदहास कलहास पुनि, कहि केसव अतिहास।
कोबिद कवि बरनत सबै अरु चौथो परिहास॥ २॥

× × ×

हास्य के भेद हंसनेवाले के दृष्टिकोण से भी केशव ने किए हैं। जैसे परिहास, एवं उपहास। जहां सखियां नायक-नायिका की मर्यादा न रखकर उनके ऊपर हंस पड़ती हैं वहां परिहास होता है।[1]

इस दृष्टिकोण के भेद से संभव होते हुए भी अधिक भेद केशव ने नहीं दिखाए। वास्तव में केशव का लक्ष्य यहां भेदोपभेदों की संख्या बढ़ाना नहीं, दृष्टिकोण-मात्र देना है। उन्होंने केवल नायक एवं नायिकागत हास दिखाकर छोड़ दिया है। यों तो प्रच्छन्न-प्रकाश आदि के आधार पर भी अनेक भेद संभव थे, किन्तु इस प्रकार ग्रन्थ-समाप्ति भी संभव नहीं थी।[2]

केशव का परिहास मौलिक है, एवं उसका मूल दृष्टिकोण भी। केशव ने इन सबके अलग-अलग उदाहरण दिए हैं किन्तु उनमें हास्य सर्वत्र शृंगार का अंगभूत होकर ही आया है। उमे स्वतन्त्र स्थायी की स्थिति कहीं प्राप्त नहीं है। शृंगार एवं हास्य मित्र-रस हैं अतएव उनकी मित्रता में कोई शास्त्रीय बाधा नहीं।

करुणरस

केशव के अनुसार प्रिय के विप्रिय होने से करुणरस होता है।[3] उन्होंने अपने लक्षण की पदावली भरत से ली है। भरत के अनुसार इष्ट-वध-दर्शन अथवा विप्रिय वचन के श्रवण-मात्र से ही करुणरस की उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु दृष्टिकोण-भेद से दोनों का 'करुणरस'-निरूपण भिन्न है। यद्यपि केशव का यह लक्षण करुण स्वतन्त्र पर भी लग सकता है किन्तु यहां केशव करुण को अंग-रूप में उपस्थित करना चाहते हैं। भरत

बिगसहिं नयन, कपोल कछु दसन, दसन के बास।
मंदहास तासों कहत कोबिद 'केसवदास'॥ ३॥

× × ×

जहँ सुनियै कल ध्वनि कछू कोमल बिमल बिलास।
'केसव' तन मन मोहियै, बरनहु कबि कलहास॥ ८॥

× × ×

जहा हँसहि निरसंक ह्‍वै प्रकटहिं सुख मुख-बास।
आधे आधे बरन पद, उपजि परत अतिहास॥ १२॥

—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव

१. जहँ परिजन सब हँस उठें तजि दम्पति की कानि।
केसव कौनहु बुद्धिबल सो परिहास बखानि॥

—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १५

२. बरनत बाढ़े ग्रंथ बहु, कहे न केसवदास।
औरौ रस यों जानियौ सबै प्रछन्न प्रकास॥ —रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ४

३. प्रिय के विप्रिय करन तें आनि करुन रस होत॥

—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १८

का विप्रिय उनके दूसरे विशेषण 'इष्ट-वध' के ही समान है, किन्तु केशव के नायक-नायिका श्रीकृष्ण और राधा के विषय में इस प्रकार के विप्रिय का प्रश्न ही नहीं उठता। शृंगार के अन्तर्गत प्रिय-विनाश-रूप विप्रिय की अनुमति शास्त्र द्वारा नहीं दी गई है।[१] अतः केशव विप्रिय के अत्यन्त हलके रूप को लेते हैं। नायक-नायिका के हलके-से कष्ट या अनिष्ट का श्रवण-मात्र विप्रिय श्रवण के अन्तर्गत आ जाता है। कृष्ण को पशु चराने जैसे कठोर कर्म में नियुक्त किया गया है। स्नेहमयी राधा के हृदय में करुणोद्रेक के लिए इतना पर्याप्त है।[२] उधर राधिकाकुंवरि के गोरस-विक्रय के लिए गोरस लिए जाने पर कृष्ण करुणाप्लावित हो उठते हैं।[3] केशव के शृंगार के अंगभूत करुण की बस यही सीमा है। यद्यपि उसके लक्षण में लचीलेपन के कारण स्वतन्त्र करुण का भी समावेश है।

करुण शृंगार का विरोधी रस है और विरोधी रस के समावेश के लिए शास्त्र पुकार-पुकारकर मना करता है।[४] यदि कोई इस प्रकार का समावेश कराना चाहता है तो उसके लिए कुछ ढंग भी बतलाए गए हैं। ध्वनिकार ने दो मार्ग सामने रखे हैं। एक सामान्य, दूसरा विशेष।[५] सामान्य मार्ग तो यह है कि विरोधी रसों को अधिक पुष्ट न करके इतना हलका रखा जाए कि अंगीरस उससे अभिभूत न हो। विरोधियों की इस दशा को बाध्य दशा कहा गया है।[६] अथवा जिन विरोधों का समावेश किया जा रहा है उन्हें अंग बना दिया जाए। इस प्रकार अंगभूत विरोधी ही नहीं रहते।[७] विरोध दो प्रकार का हो सकता है—एकाधिकरण और नैरन्तर्य। एकाधिकरण के अन्तर्गत दोनों

१. ....उभयथासौ न ज्यायान्, आश्रय विच्छेदे रसस्यानन्त
विच्छेद प्राप्तेः ॥ —आलोक ३।७६, पृ० ३६६ की वृत्ति

२. नंद मतिमंद महा यसुदा से कहाँ कहा।
ऐसे पूत पाइ पसुपाल करियतु है॥ —रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १६

३. कौनें कीनो निपट कुचालि जाति ग्वारि ऐसी।
राधिकाकुंवरि पर गोरस बिचाइयै॥ —रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २०

४. प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥
—ध्वन्यालोक उद्योत ३।७३

५. एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनांगिना रसेन समावेशे साधारणविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानी विरोधि विषयमेव तं प्रतिपादयितुमुच्यते॥
—ध्वन्यालोक ३।८० की अनुक्रमणिका, पृष्ठ ३६८

६. बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति नान्यथा।
—ध्वन्यालोक ३।७६, पृ० ३६५ की वृत्ति

७. विवक्षिते रसे लब्ध प्रतिष्ठं तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामंगभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छता॥ —ध्वन्यालोक ३।७६
अंग भावं प्राप्तानां चैतेषां तावदुक्तावविरोध एव॥ —ध्वन्यालोक ३।७६
ऽंगभावप्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता च॥ —आलोक ३।२०

बातें आ जाती हैं 'एकाश्रयत्व एवं एकालम्बनत्व ।'[1]

तात्पर्य यह है कि कुछ रसों में तो इस प्रकार का विरोध होता है कि वे एक आश्रय में नहीं रह सकते, जैसे भयानक और वीर। कुछ के आलम्बन एक नहीं हो सकते, जैसे शृंगार एवं रौद्र। कुछ का निरन्तर वर्णन दोषपूर्ण होता है, जैसे शृंगार और बीभत्स का। इसके लिए शास्त्रकारों की सलाह है कि एकाधिकरण विरोध दूर करने के लिए आवश्यकतानुसार आश्रय या आलम्बन भिन्न कर देने चाहिए। नैरन्तर्य विरोध में किसी परस्पर मित्र या उदासीन रस को डाल दिया जाए तो विरोध समाप्त हो जाता है। ध्वनिकार की इस व्याख्या का आज तक इसी रूप में सम्मान चला आ रहा है। मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ आदि सभीने इसे अपनाया है। केशव ने सभी रसों को शृंगार के अंगभूत करके दिखाया है। तब हास्य जैसे अविरोधी रसों के विषय में तो कोई बात नहीं, किन्तु करुण, बीभत्स आदि विरोधी रसों के विषय में यह जिज्ञासा उठाना स्वाभाविक है कि केशव ने उपर्युक्त मार्गों में से कौन-सा मार्ग अपनाया है और वह कहां तक शास्त्र-सम्मत है।

आनन्दवर्धन ने विरोधी रसों को बाध्य दशा में या अंगभाव प्राप्त करा देने पर निर्दोषता दिखाई है और इसके लिए विरोधी के परिपोष करने की उन्होंने मनाही की है। उनका उद्देश्य है विरोधी को क्षीण रखना। केशव ने एक नया मार्ग और निकाला है। स्थायी का अनुभावादि के द्वारा परिपोष न करके क्षीण रखने के स्थान पर उन्होंने सीधे-सीधे उसे क्षीण रूप में ही ग्रहण किया है। इस प्रकार कई स्थायी वृत्तियां वास्तव में संचारी वृत्तियां रह गई हैं। संभवतः इसकी प्रेरणा केशव को इस बात से मिली हो कि जब अपरिपुष्ट स्थायी संचारी की कोटि का होता है और परिपुष्ट संचारी भी स्थायी के समान होता है तो अपरिपुष्ट स्थायी की जगह पुष्ट संचारी को भी अंग बनाकर क्यों न देखा जाए। साहित्यशास्त्र में केशव का यह प्रयोग (Experiment) मौलिक है। करुण के अंग-भाव के प्रसंग में उन्होंने इसी मार्ग को अपनाया है, जिसकी पृष्ठभूमि शास्त्रीय है, किन्तु उसके प्रयोग के ढंग में मौलिकता है।

रौद्ररस

क्रोध स्थायीभाववाला रौद्ररस होता है, जिसमें विग्रह (युद्ध) के कारण शरीर उग्र हो जाता है। तात्पर्य यह है कि विग्रहजन्य शरीर की उग्रता से अनुभावित क्रोध-स्थायीमूलक रौद्ररस होता है—

होहि रौद्ररस क्रोधमय, विग्रह उग्र सरीर ॥[2]

---

१. ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधीचेति द्विविधौ विरोधौ ॥

—आलोक ३।८१, पृ० ३६६ की वृत्ति

२. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २१

संस्कृत-आचार्यों के लक्षण भी इसी प्रकार के हैं।[1] किन्तु स्वतन्त्र रौद्र के अंतर्गत विग्रह शब्द का जो युद्ध-रूप अर्थ है वह शृंगार के अन्तर्भूत रौद्र में कुछ दूसरे प्रकार से ही आ सकता है। क्योंकि शृंगार एवं रौद्र में आलम्बनैक्यगत विरोध है, अतः उनके आलम्बन भिन्न करने होंगे। केशव ने इसके दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम में[2] उसे विभाव पक्ष का अंग बनाकर दिखाया गया है। सखी की उक्ति द्वारा राधा के निरुपम सौंदर्य की प्रशंसा की गई है। राधा के अंगों के उपमानभूत प्राणी भयभीत होकर वन में शरण ले रहे हैं। सखी कह उठती है—"राधिकाकुंवरि क्रोध कौन परि कीन्हो है!" यह क्रोध शृंगार के कमनीय स्वरूप-विधान में उपयोगी है। आनन्दवर्धन के वर्गीकरण के अनुसार इसे समारोपित शैली से अंगभूत कह सकते हैं।[3]

द्वितीय उदाहरण में समारोपित शैली का दूसरा ढंग अपनाया गया है।[4] नायक मन्मथ का मन मथ करके रति-रण में विजय पा लेते हैं। यहां आरोप में ही रौद्र दिखाया गया है और तदनुरूप ही अनुभाव दिखाकर क्रोध की योजना की गई है, यद्यपि आरोप में उपमानांश की प्रधानता होती है, परन्तु केवल बाध्य-रूप में ही। पर्यवसित रूप में तो वह उपमेय-पक्ष के प्रति गौण ही है। अतः आरोपित क्रोध शृंगार का अंग ही समझना चाहिए। दोनों उदाहरणों में क्रमशः क्रोध और रोष शब्दों का प्रयोग किया गया है, उसमें भी 'स्वशब्द-वाच्य दोष' नहीं आता, क्योंकि इस प्रकार से अंगभूत भावों को स्वशब्द-वाच्य बनाने से कोई अनुभूति की क्षति नहीं होती। विमर्शिनीकार के उदाहरण से भी यह बात पुष्ट होती है।[5]

---

१. अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः ॥

—नाट्यशास्त्रम्, पृ० ९९

२. केहरी कपोत करि केर मृग मीन फनि,
सुक पिक कंज खंजरीट बन लीनो है।
....
....
केसोदास दास भए कोबिद कुंवर कान्ह
राधिका कुंवरि कोप कौन पर कीनो है॥ —रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २२

३. ध्वन्यालोक, ३।७६ वृत्ति

४. मीडि मार्यो कलह वियोग मार्यो बोरि कै,
मरोरि मार यो अभिमान मार्यो भय मान्यो है।
....
जात्यो रति रन मथ्यो मनमथ हू को मन,
केसोदास कौन कहुं रोष उर आन्यो है॥

—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २३

५. कात्वं रक्तपटावगुण्ठितमुखी मुग्धे तवाहं सखी, किं शून्योकसि केवला निवससि त्वामागतान्वेषितुम्। एतद्वक्तमुदञ्चयेति कथयन्त्यालोक्य कूर्चं ततः पत्युः स्मेरमुखाम्बुजस्य तरुणी जाता विलक्षस्मिता। अत्र वाक्यार्थीभूतः शृंगारः, अंगभूतस्तु हासः।

—अलंकारसर्वस्व (विमर्शिनी टीका), पृष्ठ २३६

वीररस

उत्साह स्थायीभावमूलक वीररस होता है।[१] लक्षण इसका भी भरत-परम्परानुकूल[२] है और इसके उदाहरण में भी आरोपित शैली द्वारा ही शृंगार का अंग बनाया गया है। नायिका बड़ी सजधज से रति-रण में विजय के लिए अभियान कर देती है—

गति गजराज साजि देह की दिपति बाजि,
हाव रथ भाव पत्तिराजि चली चाल सों ॥[३]

इस रति-रण के लिए नायिका में अदम्य उत्साह एवं साहस है—

प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै।
जीत्यो रति-रन आजु मदनगुपाल सों ॥[४]

इसी आरोपित शैली को स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने इसे साम्यमूलक कहा है।[५]

भयानकरस

किसी भयंकर वस्तु के दर्शन से भय की उत्पत्ति होती है, उसीकी व्यंजना भयानकरस होता है।

होइ भयानक रस सदा 'केसव' स्याम सरीर।
जाको देखत सुनत हीं, उपजि परति भय-भीर ॥[६]

शास्त्रीय दृष्टि से शृंगार एवं भयानक आलम्बनैक्य से विरोधी रस है। केशव ने इसीलिए इसके उदाहरण में भिन्न आलम्बनत्व का मार्ग अपनाकर शास्त्रीय मांग की पूर्ति की है। घहराती हुई घन-घटा को देख नायिका के हृदय में भयोत्पत्ति होती है और वह भय उसके हृदय में रति को जन्म देता है—

दसहूँ दिसि केसव दामिनि देखि लगी प्रिय कामिनी कंठ तटी।[७]

भय एवं रति दोनों भावों का आश्रय तो नायिका ही है, किन्तु आलम्बन घन एवं नायक भिन्न हैं। फिर पूर्वोत्पन्न भय विभाव-रूप में आकर रति को व्यंजित करने में उपयोगी हो रहा है। इस प्रकार अंगभूत भय विभाव-पक्ष के अन्तर्गत ही है।

---

१. होहि वीर उत्साहमय गौर वरन दुति अंग।
अति उदार गंभीर कहि केसव पाइ प्रसंग ॥
—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २४

२. अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिः स चोत्साहात्मकः ॥
—भरत-नाट्यशास्त्र, पृष्ठ १००

३. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २५

४. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २५

५. साम्येनाथ विवक्षितः ॥ —साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, २२५

६. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २७

७. भुवमंडल मंडित कै घन घोर उठे दिविमंडल मंडि गटी।
जनु पंथहि पाइ पुरन्दर के बन पावक की लपटै झपटी ॥ —रसिकप्रिया, १४।२८

बीभत्सरस

शृंगार एवं बीभत्स अत्यन्त विरोधी रसों में से हैं। एक ही आलम्बन होने पर उनमें बाध्य-बाधक-भाव दोष आता है।[1] एक ही आलम्बन के प्रति रति के कारण आकर्षण एवं जुगुप्सा के कारण विकर्षण दोनों साथ नहीं बन सकते। फिर इस प्रकार की मनोवृत्तियों में नैरन्तर्य दोष भी है। इस प्रकार के घोर विरोधी रसों के पारस्परिक समावेश के लिए, जैसाकि हम दिखा चुके हैं, ध्वनिकार ने यही मार्ग बताया है कि अंग-भूत होनेवाले रस का परिपोष न करके उसे क्षीण रखा जाए। हम यह भी दिखा चुके हैं कि केशव ने स्थायी को क्षीण रखने का दूसरा उपाय अपनाया है, उसके संचारी समकक्षी क्षीण रूप को ग्रहण करना। वास्तव में आनन्दवर्धन ने उपायों की कोई सीमा नहीं बांधी, उनकी खोज का भार कवि-प्रतिभा पर छोड़ दिया है। उनका तो उद्देश्य यही है कि अंगी-रस की अपेक्षा किसी न किसी प्रकार अंगरस को हीन ही रखा जाए।[2]

केशव ने बीभत्स को शृंगार का अंग बनाने के लिए उसके स्थायी जुगुप्सा के स्थान पर उसकी कोटि के हलके भाव निन्दा को ग्रहण किया है। ध्यान रहे कि वे निन्दा को इसी उद्देश्य से संचारियों में नामतः गिना आए हैं। केशव ने जो वहां साभिप्राय निन्दा को स्थायी बनाया है, 'कविप्रिया' में रसवत् अलंकारों के प्रसंग में भी उसे स्थायी के पद पर आरूढ़ रखते हुए अपने विवेचन में एकरूपता रखने का प्रयत्न किया है। वे बीभत्स का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

निन्दा भय बीभत्स रस, नील बरन बपु तास।
केसव देखत सुनत ही, तन मन होइ उदास॥[3]

उन्होंने अपने उदाहरणों[4] में एक कौशल और अपनाया है। स्थायी को मूलतः क्षीण रूप में ग्रहण कर लेने से अनुभावों द्वारा उसके पुष्ट हो जाने पर भी बाध्य-बाधकता की आशंका नहीं रही थी। अतः उन्होंने जुगुप्सा-व्यंजक रूढ़ सामग्री मांस, रक्त आदि को वाचिक अनुभावों के रूप में ग्रहण कर लिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह निन्दा सखी द्वारा की गई है और पर्यवसित रूप में नायिकागत नायक-विषयक रति को ही तीव्र करने के लिए प्रयुक्त हुई है।

किन्तु बिना इसके शृंगार का रसराजत्व अधूरा रहा जाता था। नायकगत बीभत्स

---

१. ननुयेषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृंगारयोः शृंगारहास्ययो। तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः। तेषां तु स कथं भवेत् येषां परस्परं बाध्यबाधक भावो यथा शृंगारबीभत्सयोः वीरभयानकयोः।
—ध्वन्यालोक, ३।२३, पृष्ठ ३९३ की वृत्ति

२. विरोधिनस्तु रसस्याङ्गि रसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया। यथा शान्तेङ्गिनिशृङ्गारस्य शृंगारेवा शान्तस्य। —ध्वन्यालोक, ३।७९, पृ० ३९५ की वृत्ति

३. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३०

४. देखिए, रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३१

के दूसरे उदाहरण में जो श्रीकृष्ण का चौकड़ी भरना दिखाया गया है, वह आदर्श के तो सर्वथा प्रतिकूल ही है।[1] संभव है उसमें रीतिकाल के गर्हित जीवन की झांकी हो।

अद्भुतरस

किसी अद्भुत वस्तु के देखने या सुनने से जो आश्चर्य (विस्मय) होता है, उसीकी व्यंजना अद्भुतरस है।[2] शृंगार एवं अद्भुत अविरोधी रस हैं। नायिका का अलोक-सामान्य सौन्दर्य द्रष्टा के हृदय को विस्मयाभिभूत कर देता है। अतः शृंगार में इसका बड़ा उपयोग है। केशव ने इसकी शक्ति के कारण इसे 'विलासनिधि' कहा है।[3] केशव ने इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। दो में तो नायिका के निरुपम सौंदर्य का विधान करके अद्भुत के द्वारा शृंगार का आलम्बन सजाया गया है। तीसरे में नायकगत अद्भुत सौन्दर्य एवं शक्ति का विधान है। इन उदाहरणों में विभावना, विशेषोक्ति, विरोध आदि चमत्कारमूलक अलंकारों का भी उपयोग हुआ है, जो काव्य के दोनों पक्षों का सामंजस्य स्थापित करता है।[4]

शमरस

शम अथवा शान्तरस के विषय में भी केशव के सामने वही समस्या थी। शम संसार की समस्त आसक्तियों से निवृत्तिमूलक भाव है, जबकि संसार घोर प्रवृत्तिमूलक है। किन्तु भक्त आचार्यों एवं भक्त कवियों, विशेषकर राधाकृष्ण के भक्तों की कृपा से शान्तरस योगियों का शान्तरस नहीं रह गया था। वह घोर निवृत्तिमूलक न रहकर लौकिक शृंगार का ही परिमार्जित कहा जानेवाला रूप माना जाने लगा। लौकिक आलम्बनों से हटकर प्रवृत्ति जब आध्यात्मिक आलम्बनों की ओर उन्मुख हुई तो लौकिक आसक्तियों के प्रति जो निर्वेद था वह भी शृंगार का ही एक अंग बन गया। इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गी भक्तों के शृंगार और शान्त के मिश्रण से मधुररस का एक अलोकसामान्य पेय तैयार किया, जिसमें अलौकिक आलम्बन के प्रति पूर्ण आसक्ति थी जोकि पार्थिव आलम्बन की समस्त सज्जा को लिए हुए थी और लौकिक ऐषणाओं से पूर्ण विरक्ति भी जोकि शान्त का एक अंग थी। उसका निर्वेद विरक्तिमूलक ही रहा। इस प्रकार की निवृत्ति प्रवृत्युन्मुखी बनी थी।

---

१. टूटे टाट घुन घुने धूमि धूरि सों जु सने।
झींगुर छगौड़ी सांप बीछिन की घात जू।
....
पर घरनीनि पहं जात न घिनात जू।
—देखिए, रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३२

२. होइ अचम्भो देखि सुनि सो अद्भुत रस जानि।

३. केसोदास बिलासनिधि, पीत बरन बपु मानि। —रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३३

४. एते मान ढीठ ईठ तेरो को अदीठ मन।
पीठ दै दै मारती पै चूकती न कोऊ ताहि॥ —रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३५-३६

भक्तिकाल जब चार डग पीछे छूट गया तथा पारमार्थिक आलम्बन का छोर भी काव्य के हाथ से छूटने लगा उस समय रीतिकाल का निर्वेद भी विरक्तिमूलक नहीं रह सका। युवक को युवती के अतिरिक्त और युवती को युवक के अतिरिक्त शेष सबसे निर्वेद था। बस, यह इसी कोटि की विरक्ति थी। भक्तिकाल की प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक थी, रीतिकाल की विरक्ति नितान्त प्रवृत्तिमूलक। केशव ने जो शान्त का शृंगार में अन्तर्भाव किया है, वह इसी प्रकार की विरक्तिवाले शम का समझना चाहिए।

सभी ओर से मन उदास होकर एक ही स्थान पर बस जाए उसे केशव 'शम' कहते हैं।[1] इस शमरस में एक ओर से उदास होकर 'एक ही ठौर' बस जाने की कैद लगी हुई थी। यह ठीक है कि यहां केशव ने अपना साहित्यिक दृष्टिकोण पूरा किया है। परन्तु साहित्यिक दृष्टिकोण के पीछे सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी होता है, इसे कौन अस्वीकार करेगा। शृंगार में अन्तर्भूत शम का उदाहरण केशव ने इस प्रकार दिया है—

देखें नहीं अरबिंदनि त्यों चित चंद की आनँद-कंद निकाई।
कामिनि काम-कथा करे कान न ताकै त्रिधाम की सुंदरताई।
देखि गई जब तें तुमकों तब तें कुछ वाहि न देख्यौ सुहाई।
छांड़ैगी देह जु देखें बिना अहो देहु न कान्ह कहूँ ह्वै दिखाई।[2]

नायकगत अन्तर्भूत शमरस का उदाहरण भी इसी प्रकार का है।[3] चौदहवें प्रभाव के अन्त में प्रसंग-प्राप्त शमरस का एक स्वतन्त्र उदाहरण केशव ने दिया है।[4] यह केशव की उपलक्षण-पद्धति का ही उदाहरण समझना चाहिए। शृंगार से स्वतन्त्र शम जिस प्रकार दिखाया गया है, उसी प्रकार अन्य रस भी समझने चाहिए। यही उनका उद्देश्य था।

इस प्रकार केशव के शृंगारेतर आठ रसों को क्रमशः लेकर शृंगार में उनका अन्त-

---

१. सबतें होय उदास मन, बसै एक ही ठौर।
ताही सों समरस कहत 'केसव' कवि-सिरमौर॥
—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३७

२. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३८

३. खारिक खात न दारयोइ दाख न माखन हूं सहुँ मेटी इठाई।
'केसव' ऊख महूखहु दूखत आई हौं तो पइ छाड़ि जिठाई।
तौ रदनच्छद को रस रंचक चाखि गए करि केहूँ ढिठाई।
ता दिन तैं उनि राखि उठाय समेत-सुधा बसधा की मिठाई॥
—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३९

४. दनुज मनुज जीव जल थल जननि को, परयोई रहत जहां काल सौ समरु है।
अजर अनंत अज अमरौ मरत परि, केसव निकसि जानै सोई तो अमरु है।
बाजत स्रवन सुनि समुझि सबद करि, वेदनि को बाद नाहिं सिव को डमरु है।
भागहु रे भागौ भैया भागनि ज्यों भाग्यो परै, भव के भवन मांझ भय को भमरु है।
—रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ४०

र्भाव दिखाया है। विवेचन में गृहीत रसों का क्रम भरत के अनुकूल है, यह हम पहले कह चुके हैं। रौद्र, भयानक, अद्भुत आदि रसों के भरत के समान ही स्थायी के माध्यम से लक्षण किए गए हैं। कहीं-कहीं, जैसे हास्य में, उनके स्वरूप-विश्लेषण पर भी ध्यान चला गया है। वास्तव में इन लक्षणों में शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा परिचयात्मकता ही उद्देश्य है। केशव ने इन रसों के जो वर्ण दिखाए हैं, वे भी भरत के ही अनुरूप हैं।[1]

भरत ने रसों के लक्षण अलग-अलग और वर्ण अलग बताए हैं। विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने वर्णों को लक्षणों के साथ ही बतला दिया है। केशव ने इसी परवर्ती परम्परा का पालन किया है।[2] यद्यपि बीभत्स के स्थायी जुगुप्सा के स्थान पर निन्दा को परिवर्तित कर दिया है तथापि उसका वर्ण परम्परा-प्राप्त नील ही रखा है। उन्होंने शांत का वर्ण नहीं दिया। हास्य का वर्ण भी अलग से नहीं दिया गया है। केशव को आचार्यत्व की दृष्टि से इस अन्तर्भाव में दुहरी सफलता मिली है। एक ओर तो उनके लक्षणों की पृष्ठभूमि में सुदृढ़ शास्त्र-परम्परा है, साथ ही साथ उनके परिवर्तन सकारण हैं। प्रायः उनके लक्षण लचीले हैं, जो एक ओर स्वतन्त्र रसों पर लागू होते हैं तो दूसरी ओर अन्तर्भाव का ध्यान रखकर चलते हैं। उदाहरणों में उन्होंने अन्तर्भाव दिखाया है, जिसमें रस-विरोध का परिहार करनेवाले शास्त्रीय नियमों का पालन हुआ है। इसमें केशव ने आचार्यों का मूल दृष्टिकोण ग्रहण किया है और अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का भी परिचय दिया है। जुगुप्सा के स्थान में निन्दा की कल्पना मौलिक है। यह दूसरी बात है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा के सामने उनकी मौलिकता हमें मान्य न हो। परन्तु उन्होंने अपनी मान्यता को 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' में एकरूपता प्रदान की है।

अन्तर्भाव का यह मार्ग केशव ने नया नहीं बनाया है। उज्ज्वलनीलमणिकार ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या में इसे अपनाया है तथा भोज ने साहित्य की शास्त्रीय व्याख्या में। भक्तिकालीन साहित्य की प्रवृत्ति शृंगारोन्मुख हो ही चुकी थी। उसीकी प्रतिध्वनि 'रसिकप्रिया' के रूप में सामने आई जिसमें कवित्व और आचार्यत्व परस्पर स्पर्धा के साथ सुदृढ़ पग बढ़ाता हुआ चलता परिलक्षित होता है।

अलंकार-निरूपण

केशव के रस-निरूपण-संबंधी इस मूल्यांकन के अनन्तर अब हम 'कविप्रिया' के अलंकार-संबंधी छः प्रभाव (९–१४) लेते हैं। इन प्रभावों में केशव के विशिष्टालंकारों का वर्णन है जिन्हें हम आज 'अलंकार' समझते हैं। इनमें निम्न अलंकार आते हैं—

---

१. श्यामो भवति शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥—नाट्यशास्त्र, छठा अध्याय, श्लोक ४३, ४४

२. देखिए रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १८, २१, २४, २७, ३० तथा ३३

स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, क्रम, गणना, आशी, प्रेमाश्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्ज, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति, उक्ति, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त, समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, अद्भुत रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त, उपमा।

केशव ने अपने दृष्टिकोण से अलंकार शब्द को सामान्य और विशिष्ट दो रूपों में रखा है यह हम दिखा चुके हैं। विशिष्टालंकार ही सच्चे अलंकार हैं। इनको शब्दालंकार और अर्थालंकार के भेदों में नहीं बांटा गया। उपर्युक्त अलंकारों को अर्थालंकार ही समझना चाहिए। इनके अनन्तर पन्द्रहवें-सोलहवें प्रकाश में यमक और चित्र का बहुमुखी जंजाल प्रस्तुत किया गया है। वहां चमत्कार के अनेक ढंग अपनाए गए हैं जो प्रायः प्राचीन परम्परा-प्राप्त हैं। कुछ केशव की अपनी उद्भावना भी हो सकते हैं।

स्वभावोक्ति

केशव के स्वभावोक्ति का लक्षण आचार्य-परम्परा के अनुसार है—

जाको जैसो रूप गुन कहिजै तैसे साज।
तासों जाति-सुभाव कहि, बरनत हैं कविराज॥[1]

अर्थात् जिस वर्ण्य वस्तु का सहज रूप अथवा गुण जैसा हो वैसा ही वर्णन किया जाए उसे कविगण जाति अथवा स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं। प्रायः यही तात्पर्य भामह,[2] दण्डी,[3] रुद्रट,[4] भोज, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि आचार्यों के लक्षण का है। प्राचीन आचार्यो जैसे दण्डी, रुद्रट, भोज ने इसे जाति नाम भी दिया है। अतः यह कहना कठिन है कि केशव ने स्वभावोक्ति के लक्षण में किसको आधार बनाया। केशव ने स्वभावोक्ति के दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें लक्षण का पूर्ण सामंजस्य है।

विभावना

विभावना का लक्षण भी परम्परा-सम्मत है। विभावना का मूल तो यही है कि जहां बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाए। परन्तु आचार्य लोग एक दूसरे प्रकार की विभावना भी मानते हैं—जहां वास्तविक कारण से न होकर किसी दूसरे कारण से

---

१. अ—कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द ८
ब—उदाहरण के लिए देखिए कविप्रिया, नवम प्रकाश, छन्द १०

२. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ —काव्यालंकार, २।९३

३. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्वि वृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥ —काव्यादर्श, २।८

४. संस्थानावस्थान-क्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः।
शिशुमुग्ध युवति कातर तिर्यक् सम्भ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या॥ —काव्यालंकार, रुद्रट, ७।३०।३१

कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाए। आचार्य मम्मट के लक्षण से तो यह भेदीकरण स्पष्ट नहीं; किन्तु दण्डी में यह कुछ स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं दो भेदों को ध्यान में रखकर आचार्यों ने 'विभावना' शब्द की सार्थक व्युत्पत्ति भी दिखाई है—

(अ) जहां प्रसिद्ध कारण को छोड़कर कारणान्तर को विभावित किया जाता है।[1]

(ब) जहां कार्य अपने प्रसिद्ध कारण के ढंग को छोड़ विशिष्ट ढंग से उपस्थित किया जाए।[2]

आचार्य मम्मट के लक्षण पर भामह की छाया है, उन्होंने भामह के समान ही कारण के स्थान पर क्रिया शब्द का प्रयोग किया है।[3] और सम्भवतः भामह के प्रभाव के फलस्वरूप ही उन्होंने विभावना के भेद करना उचित नहीं समझा। आचार्य विश्वनाथ ने विभावना के दो भेद अवश्य किए हैं, किन्तु कारण के उक्त अथवा अनुक्त रूप से उनका लक्षण इस प्रकार है—

जहां बिना हेतु के कार्य की उत्पत्ति कही जाती है, वहां विभावना होती है। जयदेव ने चन्द्रालोक में भी विभावना के इसी तथ्य को प्रमुखता दी है, यद्यपि अप्पय दीक्षित ने उसके छः भेद दिखाने का प्रयत्न किया है। इन सभी आचार्यों के लक्षणों पर दृष्टि डालने से एक बात और स्पष्ट होती है। दण्डी ने विभावना में कारणान्तरवाले भेद को प्रमुखता देकर सहज विभावना का गौण रूप से उल्लेख किया है, किन्तु अन्य आचार्यों ने दूसरी सामान्यतः कारणाभावमूलक विभावना को प्रमुखता दी है। आचार्य केशव ने जहां एक ओर दण्डी के दोनों भेदों को अपनाया है, वहां उनके क्रम को स्वीकार न करते हुए प्रथम सहज कारणाभावमूलक विभावना का लक्षण किया है तथा दूसरी कारणान्तरमूला को गौण ही रखा है। स्पष्ट है कि उन्होंने यहां अपनी स्वकीय निर्णायक दृष्टि का उपयोग किया है। उनके लक्षण निम्न प्रकार हैं :

सामान्य विभावना

दण्डी की स्वाभाविक विभावना—

कारज को बिनु कारनहि, उदौ होत जिहि ठौर।
तासों कहत विभावना, केसव कवि सिरमौर॥[4]

अन्य विभावना

कारन कौनहु आन तें, कारज होइ जु सिद्ध।
जानौ यहौ विभावना, कारज छाँड़ि प्रसिद्ध॥[5]

---

१. विभाव्यते कारणान्तरं यस्याम्॥ —अलंकारचन्द्रिका, पृष्ठ ९८

२. विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। —अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १५७
विशेषतया अस्यां कार्यस्य विभावनात् अन्वर्थाभिधाना विभावना।
—एकावली, पृष्ठ २८८

३. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना॥ —काव्यप्रकाश, उल्लास ६, सूत्र १०७

४. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द ११

५. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १३

दोनों के उदाहरण अलग-अलग हैं और उनका सामंजस्य भी अलग-अलग स्पष्ट है।

डॉ० हीरालाल दीक्षित का कथन[1] है कि केशव की प्रथम विभावना का लक्षण रुय्यक के आधार पर है। यह ठीक है कि रुय्यक का लक्षण कारणाभावे कार्यस्योत्पत्ति-विभावना भी इसी प्रकार का है। किन्तु न केवल रुय्यक ने ही अपितु भामह, मम्मट, विश्वनाथ तथा जयदेव सभीने तो इसी प्रकार लक्षण किया है, फिर केशव को रुय्यक का ही ऋणी कहना कहां तक ठीक है। वास्तव में केशव ने अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर विभावना का लक्षण किया है; विशेषकर उन्होंने दण्डी को अपना आधार बनाया है, परन्तु उसके क्रम-विधान में उन्होंने अपने निर्णयात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उनके उदाहरण पर दण्डी की थोड़ी-सी छाप भी है[2] पर इस प्रकार की छाप रुद्रट के उदाहरण की भी कही जा सकती है।

हेतु

हेतु अलंकार की स्थिति तथा स्वरूप संस्कृत-रीतिशास्त्र में प्रारम्भिक काल से ही बड़े डावांडोल रहे हैं। एक ओर तो दण्डी उसे उत्तम अलंकारों में गिनाते हैं,[3] दूसरी ओर भामह उसे अलंकार होने का भी अधिकार नहीं देना चाहते।[4] थोड़ा आगे बढ़कर उद्भट उसका नाम भी नहीं लेते, जबकि रुद्रट उसका लक्षण-विधान करते हैं। इसी प्रकार मम्मट हेतु को पृथक् अलंकार नहीं मानते, जबकि विश्वनाथ रुद्रट के अनुसार उसका लक्षण करते हैं। 'अग्निपुराण' एवं 'सरस्वतीकंठाभरण' में भी इसका विवेचन पाया जाता है। स्थिति के समान स्वरूप भी अस्थिर-सा ही है।

हेतु को मान्यता देनेवाले आचार्यों को भी हम सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में रख सकते हैं। एक दण्डी की परम्परा के, दूसरे रुद्रट की परम्परा के। रुद्रट ने हेतु का लक्षण किया है—जहां कारण का कार्य के साथ अभेद दिखाते हुए अभिधान किया जाए

---

१. केशव के कुछ अलंकारों का आधार आचार्य रुय्यक का अलंकारसूत्र नामक ग्रन्थ प्रतीत होता है। केशव का प्रथम विभावना का लक्षण रुय्यक की विभावना के सामान्य लक्षण से मिलता है। केशव के अनुसार विभावना वहां होती है जहां बिना कारण के कार्य होता है। रुय्यक ने भी विभावना का यही लक्षण बतलाया है।

—आचार्य केशवदास, पृष्ठ २४१

२. अनंजितासिता दृष्टिभ्रूरनावर्जिता नता।
अरंजितोऽरुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि॥ —काव्यादर्श, पृष्ठ ७२, श्लोक २०१
भृकुटी कुटिल जैसी तैसो न किये ही होहिं।
आँजी ऐसी आंखें केसोराय हेरि हारे हैं॥ —कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १२

३. हेतुश्च सूक्ष्मलेशोऽथवाचामुत्तमभूषणम्। —काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद, छन्द २३५

४. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः॥ —काव्यालंकार, २।८६

वहां हेतु अलंकार होता है।[1] मम्मट ने दशम उल्लास में कारणमाला के प्रसंग में जो हेतु का खंडन किया है वह इसी रुद्रटीय हेतु-लक्षण का है। उनका तर्क यह है कि कारण-कार्य अभेद के साथ अभिधान तो 'आयुर्घृतम्' की भांति लक्षण का विषय है। अतः उसे पृथक् अलंकार मानना ठीक नहीं। उनकी दृष्टि में उनका काव्यलिंग ही हेतु है।[2] विश्वनाथ ने इसी रुद्रटीय हेतु-लक्षण को आधार बनाया है।[3] जयदेव ने चन्द्रालोक में तथा अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में हेतु के लक्षण एवं उदाहरण दो प्रकार से प्रस्तुत किए हैं जिनमें हम एक को रुद्रटीय-परम्परा का तथा दूसरे को दण्डि-परम्परा का कह सकते हैं।[4] दण्डी के विवेचन का रहस्य 'सरस्वतीकंठाभरण' के विवेचन को देखने से ही स्पष्ट समझ में आता है। भोज हैं तो दण्डी से परवर्ती परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी से कोई पूर्ववर्ती अलंकार-ग्रन्थ रहा होगा जो आज अनुपलब्ध है, जिसके आधार को लेकर दण्डी ने तथा भोज ने भी यह विवेचन किया है। संभवतः दण्डी इसीलिए हेतु का न तो लक्षण देते हैं और न वर्गीकरण के आधारों का पहले उद्देश्य-रूप में संकीर्तन। अतः दण्डी के विवेचन को समझने के लिए 'सरस्वतीकंठाभरण' का विवेचन देख लेना लाभदायक होगा। 'सरस्वतीकंठाभरण' में हेतु चार प्रकार का बताया गया है—कारणहेतु, ज्ञापक-हेतु, अभावहेतु, चित्रहेतु।[5] दण्डी ने भी प्रथम हेतु के कारक तथा ज्ञापक दो भेद किए हैं[6]

---

१. हेतुमता सहहेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः॥ —रुद्रट, ७।८२

२. हेतुमता सह हेतोरभिधानभेदतो हेतुः इति हेत्वालङ्कारोऽत्र न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादि रूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति, वैचित्र्याभावात्।
अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः॥

—रुद्रट, ७।८२

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रास महिम्नैव समाम्नासिषुः।
न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनेति पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गमेव हेतुः॥

—काव्यप्रकाश, १०।५२६

३. अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह।

—साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद, छन्द ६४

४. हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते।
लक्ष्मीविलासा विदुषां कटाक्षा वेंकटप्रभोः।
हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।
असावुदेति शीतांशुमनिच्छेदाय सुभ्रुवाम्॥ —कुवलयानन्द, १६७–८

५. क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः।
अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते।

—सरस्वतीकंठाभरण, ३।१२

६. कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा।

—काव्यादर्श, २।२३५

और दस श्लोकों में उनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। फिर छः श्लोकों में अभावहेतु के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव तथा संसर्गाभाव के आधार पर पांच भेद उपस्थित किए हैं। इसी प्रकार चित्रहेतु के भी पांच भेद दूरकार्य, तत्सहज, कार्यानन्तरज, अयुक्त तथा युक्त नाम से दिखाए हैं।[1]

दण्डी के कारण एवं ज्ञापक भेदों में से परवर्ती आचार्यों को ज्ञापकमूलक भेद को हेतु कहना रुचिकर नहीं लगा। उन्होंने उसके स्थान पर अनुमान अलंकार का नामकरण किया।[2] चतुर्थ चित्रहेतु के भेद भी ज्यों के त्यों न चल सके। दूरकार्य नामक भेद में चमत्कारी तत्त्व हेतु नहीं अपितु कारण-कार्य की भिन्नदेशीय स्थिति थी।[3] परवर्तियों ने उसे असंगति कहा।[4] तत्सहज[5] और कार्यनन्तरज[6] कारण-कार्य की पारस्परिक स्थिति से सम्बद्ध थे। उनके आधार पर कई अतिशयोक्तियों की कल्पना हुई।[7] रहे अयुक्त कार्य एवं युक्त कार्यहेतु, उनका भी आधार दुर्बल ही था। क्योंकि वे कार्य के स्वरूप को देखकर बनाए गए थे न कि कारण के स्वरूप को। फिर चित्र कोई स्वतन्त्र भेद नहीं। विभिन्न प्रकार की रंगीन रेखाओं का सम्मिश्रण ही उसका स्वरूप है। इस प्रकार दण्डी में केवल दो भेद कारकहेतु एवं अभावहेतु शेष रहते हैं, जिन्हें केशव ने अपनाया है।[8]

---

१. दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यानन्तरजस्तथा।
अयुक्तयुक्तकार्यौ चेत्यसंख्याश्चित्रहेतवः॥

—काव्यादर्श, २।२५३

२. तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः।

—साहित्यदर्पण, १०-६३ हेतु की वृत्ति

३. त्वदपांगाह्वयं जैत्रमनंगास्त्र यदंगने।
मुक्तं तदन्यतस्तेन सोऽस्म्यहं मनसि क्षतः॥

—काव्यादर्श, २।२५५

४. तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः।

—अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १६३

५. आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैशवम्।
सहैव पुंसां विविधैरंगजोन्मादविभ्रमैः॥

—काव्यादर्श, २।२५६

६. पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमंडलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः॥

—काव्यादर्श, २।२५७

७. आलिंगन्ति समं देव ज्यां शराश्च पराश्चते।
अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे।
अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा॥

—कुवलयानन्द, ४१, ४३

८. निर्वर्त्ये च विकार्येव हेतुत्वं तदपेक्षया।
प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता॥

—काव्यादर्श, २।१४०

दण्डी के उदाहरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अभावहेतु में हेतु अभावात्मक है और कारकहेतु में सभावात्मक। दण्डी के अनुसार कारकहेतु में कार्य सभावात्मक भी हो सकता है और अभावात्मक भी। किन्तु उसके आधार पर उन्होंने किन्हीं उपभेदों का नामकरण नहीं किया। वस्तुत: कार्य के सभावात्मक अथवा अभावात्मक होने से हेतु की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है। हां, हेतु स्वयं भावात्मक है अथवा अभावात्मक, इस दृष्टि से उसका विचार होना ठीक है। केशव ने यही ठीक दृष्टिकोण अपनाया और दण्डी के हेतु को स्वीकार करते हुए भी कारक, ज्ञापक, अभाव और चित्र भेद न करके दो भेद सभाव और अभाव रखे हैं। अभाव नाम तो दण्डी का था ही, उसीके बल पर सभाव का नामकरण हुआ जोकि केशव का अपना है। अत: डाक्टर दीक्षित की यह मान्यता[1] कि केशव के सभाव और अभाव दोनों हेतुओं का आधार दण्डी के कारकहेतु के भेद ही हैं, कुछ जल्दी में निश्चित की हुई प्रतीत होती है। केशव का अभाव दण्डी के अभाव से अलग है। केशव के सभाव का आधार दण्डी का अभावेतर कारकहेतु है।

सभावात्मक हेतु के विषयों में तो कोई प्रश्न नहीं उठता, उसको ध्यान में रखकर ही प्राय: अनेक आचार्यों ने हेतु का लक्षण-विधान किया है। किन्तु हेतु के अभावात्मक होने पर भी जहां कार्य-साधन दिखाया जाएगा, वहां विभावना से टकराने की पूरी संभावना है। दोनों की विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म ही बन सकेगी। विभावना में कारण के अभाव में जहां कार्य दिखाया जाता है, वहां विरोध की एक क्षीण रेखा होती है तथा वास्तविक कारण को छोड़ प्राय: अन्य कारण से उस कार्य का सम्पादन होता है। अत: उस विरोध का समाधान होता है।[2] इस कारण विभावना में वास्तविक हेतु का अनपेक्षित होना चमत्कारदायक होता है। किन्तु यहां अभावात्मक हेतु में स्थिति भिन्न है। गांधीजी की मृत्यु कांग्रेस के लिए जीवनी शक्ति बनी है। इस वाक्य में हेतु गांधीजी की मृत्यु कार्य-साधन के लिए अत्यन्त अपेक्षित सिद्ध हुआ। किन्तु उस हेतु का स्वरूप

---

१. दण्डी ने उसके दो भेद बतलाए हैं। कारकहेतु और दीपकहेतु। कारकहेतु के भी दो भेद किए हैं, भाव-साधन में कारणहेतु और अभाव-साधन में कारणहेतु। फिर इनके भी उपभेद किए हैं। केशव के हेतुभेदों सभावहेतु और अभावहेतु का आधार दण्डी के कारकहेतु के ही भेद हैं। —आचार्य केशवदास, डा० दीक्षित, पृष्ठ २४३

टिप्पणी : डा० दीक्षित द्वारा उल्लिखित 'दीपक' सम्भवत: मुद्रण की त्रुटि से ज्ञापक के स्थान पर छप गया है।

(अ) सिसाधयिषितार्थस्य, हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते॥ —अग्निपुराण, ३४३, २९-३०

(आ) क्रियायाः कारणं हेतुः। —सरस्वतीकुलकंठाभरण

२. (अ) कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः।
विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम्।
अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः॥ —अलंकारसर्वस्वम्, वि० टीका, पृष्ठ १५७

(आ) अप्रस्तुतं कारणं वस्ततोऽस्तीति विरोधपरिहारः। —अलंकारसर्वस्वम, पृष्ठ १५७

स्वयं अभावात्मक है। विभावना में कारणाभाव अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं होता, यही दोनों का अन्तर है। संस्कृत में तो अभिव्यक्ति की इतनी शक्ति रही है कि वह इन सूक्ष्म रेखाओं को स्पष्ट रख सकती है। किन्तु हिन्दी के पास और विशेषकर केशवीय हिन्दी के पास इस क्षमता की कम ही आशा की जा सकती है।

दण्डी के अनुसार कारकहेतु भावात्मक कार्य का भी हो सकता है और अभावात्मक का भी।[1] केशव का सभावहेतु भी, जोकि दण्डी के कारकहेतु का स्थानापन्न है, कार्य के भावात्मक अथवा अभावात्मक दोनों रूप रख सकता है। भाव-साधन तो विवाद की वस्तु नहीं, अभाव-साधन में सभावात्मक हेतु का उदाहरण देकर केशव अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देते हैं—

शीतल मन्द सुगन्ध समीर हर्‌यो, इन सों मिलि धीरज धीरो ॥[2]

यहां विशिष्ट वायु धीरज के अभाव का ही हेतु है जोकि केशव के अनुसार सभावहेतु का उदाहरण है, जिसपर दण्डी के उदाहरण की छाप भी है।[3] इसी प्रकार अभावात्मक हेतु का आधार भी दण्डी का अभावहेतु ही है। दण्डी के प्रध्वंसाभाव हेतु का उदाहरण है—

गतः कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वरः।
क्षतो मोहश्च्युता तृष्णा कृतं पुण्याश्रमे मनः ॥[4]

अर्थात् काम-कथाओं का उन्माद दूर हो गया है, यौवन-ज्वर भी उतर चुका है, मोह समाप्त हो गया है, और तृष्णा भी मलीन हो गई है, अतः मैंने अपना मन पुण्याश्रम में लगा दिया है। इस उदाहरण में कामादिक अभाव पुण्याश्रम रति के हेतु-रूप में दिखाया गया है। यहां 'कृतं पुण्याश्रमे मनः' को कार्य-रूप में ही रखना पड़ेगा। पुण्याश्रम में मन लग जाने के फलस्वरूप कामादि समाप्त हो गए, ऐसा अर्थ करने पर दण्डी के अभीष्ट की सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि दण्डी हेतु को अभाव-रूप में दिखा रहे हैं। कामादि का प्रध्वंसाभाव ही कार्य का हेतु दिखाना है। इस उदाहरण में विभावना से टकराने की नौबत नहीं आई। अब केशव का उदाहरण लीजिए—

जान्यो न मैं मद जोवन को, उतर्‌यो कब काम को काम गयोई।
छाँड्यो न चाहत जीव कलेवर, जीव कलेवर छाँडि दयोई।

---

१. चन्दनारण्यमाघ्राय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान्।
पथिकानामभावाय पवनोऽयंसमुत्थितः —काव्यादर्श, २।२३८

२. केशव चन्दन वृन्द घने अरविन्दन को मकरन्द सरीरो,
मालती, बेल, गुलाब, सु केतिक केतकि, चंपक को बन पीरो।
रंभन को परिरंभन संभ्रम गर्व घनो घनसार को जीरो।
सीतल मन्द सुगंध समीर हरयो इनसौ मिलि धीरज धीरो ॥
—कविप्रिया, ६।१६

३. देखिए डॉ० दीक्षित, पृष्ठ २४४

४. काव्यादर्श, २।२४८

आवत जाति जरा दिन लीलति, रूप जरा सब लीलि लयोई।
केशव राम ररौ न ररौ अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई॥[1]

न जाने यौवन-मद कब उतर गया! काम क्षीण हो गया। वृद्धावस्था जीवन के परिगणित दिनों को निगलती चली आ रही है, रूप को तो वह निगल ही चुकी है। यद्यपि शरीर को जीव छोड़ना नहीं चाहता किन्तु शरीर में जीव को वहन करने की शक्ति नहीं रही, जीव को बन्धन से परे ही समझिए। 'अब राम जपो या न जपो' बिना साधे हुए (अनायास सिद्ध) साधनों से ही मैं तो सिद्ध हो गया हूं। यहां केशव ने सिद्धावस्था रूप कार्य की सिद्धि के लिए यौवनोन्माद तथा कामादि के अभाव, स्थूल भौतिक शरीर के अभाव तथा रूप (जिसपर कि श्लेष है, जरा-पक्ष में अवयव सौंदर्य तथा सिद्धि-पक्ष में पञ्च-भौतिक संस्पर्श) के अभाव के हेतु-रूप में प्रस्तुत किया है। इनको केशव ने 'अनसाधे ही साधन' अर्थात् अनायासोपपन्न साधन कहा है। हेतु अभावसूय है कार्य सभावात्मक जो-कि केशव के वर्गीकरण के सर्वथा अनुरूप है, साथ ही दण्डी के ही पदचिह्नों पर है। किन्तु जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि संस्कृत की सूक्ष्म अभिव्यक्ति-शक्ति केशव की हिन्दी के पास नहीं है। अतः इस उदाहरण में विभावना के भ्रम की पूरी-पूरी गुंजायश है। 'अनसाधे ही साधन सिद्ध भयो!' का यह अर्थ समझने पर कि बिना साधनों के साधे ही मैं सिद्ध हो गया हूं, कोई भी पंडित विभावना सिद्ध कर सकता है। अलंकार अर्थ-सापेक्ष होते हैं, यह सभी जानते हैं। स्वयं दण्डी के उदाहरण में ही हम देख चुके हैं कि यदि अर्थ दूसरे प्रकार से कर दिया जाए तो दण्डी का मन्तव्य चूर-चूर हो जाएगा और दण्डी में भी गड़बड़ी की घोषणा करनी पड़ेगी। इसी तथ्य पर दृष्टिपात न करने के कारण प्रो० अरुण[2] एवं डा० दीक्षित[3] ने केशव की खबर ली है। आचार्य केशव के विवादग्रस्त उदाहरणों को लेकर हम ऊपर देख चुके हैं कि उनके आधार दण्डी ही हैं तथा दण्डी के दृष्टि-कोण से उनमें कोई अन्तर नहीं है। केशव ने दण्डी के लम्बे-चौड़े हेतु-जाल को संक्षिप्त करने का सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने परवर्ती आचार्यों के अनुसार ही ज्ञापकहेतु तथा चित्रहेतु को छोड़ दिया है तथा दण्डी के कारक और अभावहेतुओं को हेतु की भावात्मकता तथा अभावात्मकता के आधार पर पुनः वर्गीकृत करके दण्डी के विवेचन की शिथिलता एवं विचारात्मकता को दूर कर दिया है। उनका वर्गीकरण अधिक से अधिक दण्डी पर आधारित, अधिक से अधिक दण्डी का सुलझा रूप तथा अधिक से अधिक मौलिक है। यहां मौलिकता है चुनने में। दण्डी के भेदों में से चुनाव के द्वारा उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्य-परम्परा के विकसित अध्ययन से परिचय दिखाया है।

---

१. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १७
२. केशव एक अध्ययन, प्रो० अरुण, पृष्ठ २४
३. आचार्य केशवदास, डॉ० दीक्षित, पृष्ठ २५८

इस प्रकार केशव के अनुसार हेतु दो प्रकार का होता है, सभाव और अभाव।[1] इन दो के उदाहरणों के अतिरिक्त केशव ने एक मिश्रित उदाहरण भी प्रस्तुत किया है,[2] जिसमें हेतु को सभाव और अभाव दोनों प्रकार का तो दिखाया ही है, साथ ही दण्डी के चित्रभेद 'कार्यान्तरज'[3] को जिसे कि परवर्तियों ने अत्यन्तातिशयोक्ति[4] कहा है, समेट लिया है। जहां दण्डी के अनुसार चित्रहेतु और नवीनों के अनुसार अत्यन्तातिशयोक्ति मानी जा सकती है और इस उभयात्मक रूप से केशव के मूल मन्तव्य पर कोई असर नहीं पड़ता।

विरोधाभास या विरोध

केशव के विरोधाभास का लक्षण भी आचार्य-परम्परा के अनुकूल है। उन्होंने प्रथम विरोधाभास फिर विरोध से लक्षण एवं उदाहरण दिए हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे दो भिन्न अलंकार मानते हैं। यह बात उनके लक्षणों एवं उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने अपनी अनुक्रमणिका में दो अलग अलंकार गिनाए हैं।[5] संस्कृत-आचार्यों ने भी विरोध अथवा विरोधाभास को अलग-अलग नहीं किया है।[6] वास्तविक विरोध में

---

१. हेतु होत है भाँति द्वै, वरनत सब कविराव।
केसवदास प्रकास सब वरनि सभाव अभाव॥

—कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १५

२. जा दिन तें वृषभानु ललीहि अली मिलए मुरलीधर तें ही।
साधन साधि अगाध सबै बुधि सोधि जो दूत अभूतन में ही॥
ता दिन तें दिनमान दुहून की केसव आवति बात कहें ही।
पीछे अकास प्रकासै ससी, बढ़ि प्रेमसमुद्र रहे पहिले ही॥

—कविप्रिया, ९।१८

३. पश्चात् पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः॥

—काव्यादर्श, २।२५७

४. अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे।
अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा॥

—कुवलयानन्द, ४३

५. जाति सुभाव विभावना हेतु विरोध विसेष।
उत्प्रेक्षा आक्षेप क्रम आसिष प्रिय सुश्लेष॥

—कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १

६. (अ) विरुद्धाभासत्वं विरोधः। स च समाधानं विना प्ररूढो दोषः। सतितुसमाधाने प्रमुख एवाभासमानत्वाद् विरोधाभासः॥ —रुय्यक, पृष्ठ १५४

(आ) एकाधिकरणसंबद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासंबद्धत्वमेकाधिकरणासंबद्धत्वमानं वा विरोधः। यदा एकाधिकरणासंबद्धत्वेन प्रतिपादनं सः। सच प्ररूढोऽप्ररूढश्च। प्ररोहश्च बाधबुद्ध्यनभिभूतत्वम्। तद्वैपरीत्यमप्ररोहः। तत्राद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्चालङ्कारस्य। अत एवेमं विरोधाभासमाचक्षते। आ ईषद्भासत इत्याभासः। विरोधश्चासावाभासश्चेति॥ —रसगंगाधर, पृष्ठ ४२७

तो दोष ही माना गया है। विरोध दिखाई देकर उसका परिहार होने पर ही विरोधाभास माना जाता है। केशव का लक्षण इस प्रकार है—

बरनत लगं विरोध सो अर्थ सबै अविरोध।
प्रगट विरोधाभास यह समझत सबै सुबोध।।[1]
केशवदास विरोधमय रचियत बचन विचारि।
तासों कहत विरोध सब, कविकुल सुबुधि सुधारि।।[2]

यही भाव संस्कृत-आचार्यों के लक्षणों का है।[3] कुछ आचार्यों ने गुण, क्रिया, द्रव्य, जाति के आधार पर विरोध को दस प्रकार का दिखाया है, किन्तु पंडितराज जगन्नाथ का मत है कि यह भेद करना व्यर्थ है, केवल शुद्ध और श्लेषमूलक दो ही प्रकार विरोध मानना चाहिए।[4] केशव भी जात्यादि पर आधारित भेदीकरण में नहीं गए। उनके प्रथम उदाहरण में श्लेषमूलकता की प्रधानता है। दूसरे में यदि चाहें तो जात्यादि-मूलकता तथा अन्तिम पंक्ति में श्लेषमूलकता दोनों पा सकते हैं। इस प्रकार केशव ने भी विरोध और विरोधाभास में कोई अन्तर नहीं किया। विरोध और विरोधाभास में अन्तर दिखाते हुए प्रो० अरुण ने केशव पर दोषारोपण किया है। उनका यह भी आक्षेप है कि केशव ने आभास को भी विरोध ही मान लिया है।[5] वे यह भूल जाते हैं कि आभास

---

१. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द १६
२. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द २१
३. दण्डी—विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा॥ —काव्यादर्श, २।३३३
भामह—गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥ —काव्यालंकार, ३।२५
वामन—विरुद्धाभासत्वं विरोधः। —काव्यालंकारसूत्र, चतुर्थ अधिकरण, अध्याय ३।१२
रुय्यक—विरुद्धाभासत्वं विरोधः। इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्य एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोधः॥
—अलं० सं०, १५४
मम्मट—विरोधः सोऽविरोधेऽपिविरुद्धत्वेन यद्वचः॥
जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणास्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥
—काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, सूत्र १६६, १६७
अप्पय—आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।
विनापि तन्वि हारेण वक्षोजौनेऽतिहारिणौ॥ —कुवलयानन्द पृ० ७६
विश्वनाथ—विरुद्धामिवभासेतर्विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥
—साहित्यदर्पण १०।६८, ६६
४. वस्तुतो जात्यादिभेदानामच्छमत्वाच्छुद्धत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविधो ज्ञेयः॥
—रसगंगाधर, पृष्ठ ४२८
५. प्रो० अरुण, केशव एक अध्ययन, पृ० २५

होने पर ही इस अलंकार की सत्ता है, अन्यथा दोष होता है।

विरोधालंकार के सीमा-निर्धारण की आवश्यकता का अनुभव प्रायः सभी आचार्यों ने किया है,[१] और विरोध अथवा विभावना के प्रसंग में गद्यात्मक विवेचन से अथवा उदाहरणों के माध्यम से उनका अन्तर स्पष्ट कर दिया है। वास्तव में विरोध एक उत्सर्ग-रूप सामान्यालंकार है, तथा विभावना, विशेषोक्ति आदि अपवाद-रूप विशेष हैं। जहां कारण-कार्य का भिन्न देशमूलक विरोध होता है वहां असंगति। इन अपवाद-रूप विशेषों से अवशिष्ट स्थल विरोध के अन्तर्गत आते है।[२] विभावना तथा विरोध में अन्तर करते हुए रुय्यक लिखते हैं कि विभावना में कारणभाव बलवान होता है अतः कार्य बाध्य होता है, कारणाभाव बाधक। किन्तु विरोध में कारण-कार्य परस्पर एक-दूसरे के बाधक रूप में प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार विशेषोक्ति में कार्याभाव प्रबल होने के कारण बाधक और कारण सत्ता बाध्य होती है।[3] यही बात विश्वनाथ[४] और पण्डितराज जगन्नाथ[५] की है। संस्कृत के आचार्यों ने विरोध और विभावना के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गद्य का सहारा लिया है, किन्तु केशव ने गद्य का प्रयोग किया ही नहीं। अतः पहले तो विरोध और विरोधाभास नाम से एक-एक उदाहरण देकर प्रसंगवश एक तीसरा उदाहरण उन्होंने ऐसा रखा है जिसके द्वारा विभावना आदि विशेष अलंकारों एवं विरोध की पृथक् स्थिति स्पष्ट हो जाए। विरोध सामान्य रूप से उनमें भी रहता है, किन्तु विशेष रूप से उसका व्यपदेश विभावनादि ही होता है। यही स्पष्टीकरण केशव का उद्देश्य है, अन्यथा तीसरे उदाहरण की कोई आवश्यकता न थी। उदाहरण इस प्रकार है—

आपु सितासित रूप चितै चित स्याम सरीर रँगे रँग रातै।
केसव कानन हीन सुनैं, सु कहैं रस की रसना बिन बातैं।

---

१. विरोधाद् विभावनाया भेदं दर्शयितुमाह क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।

—अलंकारसूत्र, चतुर्थ अधिकरण, अध्याय ३।१३

२. What is common to all these figures' apparent contradiction (Virodh) is the widest of the three and corresponds to Utsarg while Vibhavana and Visheshokti are narrowed and correspond to Apwad.

—Kane : Notes on Sahitya Darpan, page 242

३. कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते। न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद्विरोधाद्भेदः। एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्। येन सापि विरोधाद्विभावना स्यात्। —अलं० स०, पृ० १५८

४. विभावनायाः कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात् कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते इह तु अन्योन्यं द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः।

—साहित्यदर्पण, १०।६१

५. कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः।
विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम्॥

—[illegible]

नैन किधौं कोउ अंतरजामी री जानति हौं जिय बूझति तातें।
दूर लौं दौरत हैं बिन पाइन दूरि दुरी दरसै मति जातें॥[1]

यहां प्रथम पंक्ति में कुवलयानन्दकार के मतानुसार विभावना बनती है।[2] अन्यत्र विभावना स्पष्ट ही है। केशव ने दोनों का अन्तर उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है, जोकि संस्कृत-आचार्यों की आवश्यकताजन्य परम्परा पड़ गई थी। इसको न समझने के कारण केशव पर सप्रमाण आपत्तियां उठाई गई हैं, जो व्यर्थ हैं।[3]

विशेष

केशव का विशेषालंकार दण्डी की विशेषोक्ति पर बना है। दण्डी की विशेषोक्ति वही नहीं जो परवर्ती आचार्यों की है। दण्डी की विशेषोक्ति का लक्षण है—"जहां गुण, जाति, क्रिया आदि की विकलता किसी विशेषता के प्रतिपादन के लिए की जाती है वहां विशेषोक्ति होती है।"[4] आचार्य भामह का लक्षण भी मम्मटादि की अपेक्षा दण्डी के अधिक समीप है। उनके अनुसार किसी एक गुण का अभाव होने पर भी अन्य गुणों की सत्ता जहां किसी विशेषता के प्रतिपादन के लिए दिखाई जाती है वहां विशेषोक्ति होती है।[5] वामन के लक्षण में भी लगभग यही बात पाई जाती है। उन्होंने एक गुण की हानि की कल्पना होने पर भी साम्यपुष्टि को विशेषोक्ति कहा है।[6]

स्पष्ट है कि ये तथ्य विभावना के समान ही हैं। अतः परवर्ती आचार्यों ने या तो इस विशेषोक्ति का खंडन किया है[7] या विभावना में अन्तर्भाव करके दिखा दिया है।[8]

---

१. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द २३

२. विरुद्धात्कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद् विभावना।
शीतांशुकिरणास्तन्वी हन्त सन्तापयन्ति ताम्॥ —कुवलयानन्द, ८१

३. आचार्य केशवदास, डा० दीक्षित, पृष्ठ २५८।

४. गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते॥
—काव्यादर्श, २।३२३

५. एक देशस्य विगमे या गुणान्तर संस्थितिः।
विशेष दर्शनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥
—भामह, काव्यालंकार, ३।२३

६. एक गुणहानि कल्पनया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।
—काव्यालंकार सूत्र, चतुर्थ अधिकरण, अध्याय ३।२३

७. एकगुणहानिकल्पनया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः यथा द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् इति। अत्र द्यूते राज्यस्य तादात्म्येनारोपेण रूपकसत्वात्। तत्र सिंहासनरहिते द्यूते सिंहासन-सहित राज्यतादात्म्यं कथं सिध्येदिति आरोपोन्मूलकयुक्तिनिरासायारोप्यमाणराज्येऽपि सिंहा-सनराहित्यं कल्पते इति दृढारोपरूपकमिदम्। —काव्यप्रकाश, पृष्ठ ६६०

८. इमां विशेषोक्तिरिति दण्डी व्याजहार। यतस्तत्र प्रथमोदाहरणे मन्मथस्य महिमातिशयरूपो द्वितीयोदाहरणे चम्पकरेणूनामुद्दीपकतातिशयरूपश्च विशेषः ख्याप्यत इति। अस्माभिस्तु तादृगत्वादिवैकल्यमपि कारणविशेषाभावरूपमिति विभावना प्रदर्शिता।
—कुवलयानन्द, पृष्ठ १०६

इतना ही नहीं, प्राचीनों के उदाहरणों में कभी-कभी अपने ढंग से अपनी विशेषोक्ति (जोकि उपर्युक्त विशेषोक्ति से सर्वथा भिन्न है और जिसका मुख्य लक्षण है कारण के होने पर कार्य की अनुप्पत्ति) लागू करके दिखा दी गई है। उदाहरणस्वरूप भामह की विशेषोक्ति को लीजिए—

स एक स्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हृतं बलम्॥[1]

भामह के इस उदाहरण को मम्मटादि परवर्ती आचार्यों ने भी अपनी विशेषोक्ति के लिए अपना लिया है। परन्तु संगति का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। मम्मट की दृष्टि शरीरहरण-रूप कारण होने पर भी बलहरण-रूप कार्य के अभाव पर है।[2] जबकि भामह की दृष्टि में शरीर का अभाव-रूप एक देश विगत होने पर भी बलवान होना गुणान्तर संस्थिति है और काम की 'अजेय शक्तिमत्ता' विशेष कथन है।[3] परवर्ती आचार्यों की विशेषोक्ति केशव के समय तक अपना अलग स्थान बना चुकी थी। अतः केशव ने विशेषोक्ति नाम से उसे ही अभिहित करना उचित समझा। उन्होंने उसका लक्षण अलग परवर्ती आचार्यों के समान ही किया, परन्तु दण्डी, भामह, वामन की मान्य विशेषकर दण्डी की विशेषोक्ति को भी उन्होंने नवीनों की भांति छोड़ना उचित न समझा। नवीन विशेषोक्ति से भेद करने के लिए उन्होंने उसका नाम 'विशेष' रख दिया। वास्तव में दण्डी आदि की दृष्टि इस अलंकार में थी भी विशेष कथन के ऊपर ही। केशव को दण्डी आदि के इस अलंकार की पृथक् सत्ता स्वीकृत रही। उन्होंने आशय के समान उसका अन्तर्भाव नहीं किया। कारण दो ही हो सकते हैं, प्राचीन मान्यताओं के प्रति ममत्व तथा विभावना चमत्कारी तत्त्व का किंचित् भिन्न होना। किन्तु इस प्रकार का विशेष नाम देने से एक गड़बड़ी की आशंका का द्वार खुल गया। संस्कृत में 'विशेष' नाम से एक अलग अलंकार केशव के समय तक माना जाने लगा था। इसका लक्षण रुय्यक, रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय तथा जगन्नाथ आदि में समान ही पाया जाता है।[4] इसके तीन भेद माने गए हैं—

---

१. भामह, ३।२४

२. अत्र तनुहरण बलाहरणे कारणे सत्यपि तस्मिन् कारणे बलाहरण रूप कार्यस्वभाव कथनमिति विशेषोक्तिः। —वामन झलकीकर टीका,

३. Here the absence of one factor is the body. The presence of another factor is strength. The effect of the description is to emphasise the superiority of the god of love.

—Kavyalankar, page 59, Ishlok 24

४. अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः। —अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १७१

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेगोचरा।
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्य वस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥ —काव्यप्रकाश, १०।१३५, १३६

१. बिना आधार के आधेय का वर्णन।

२. एक वस्तु का अनेकत्र गोचरत्व।

३. किसी कार्यारम्भ से असंभव वस्तु की उपलब्धि।

इस विशेष अलंकार को मम्मटादि की विशेषोक्ति तथा दण्डी आदि की विशेषोक्ति से तो भिन्न समझना ही चाहिए। केशव का विशेष जोकि दण्डी की विशेषोक्ति है, इससे भिन्न समझना चाहिए। वास्तव में यह कोई एक अलंकार नहीं, पृथक् तीन अलंकार हैं। अब तक कोई आचार्य इसका सामान्य लक्षण नहीं कर सका।[1]

इस दृष्टि से केशव के विशेष का लक्षण और उसके उदाहरण ठीक हैं और उनमें सामंजस्य भी है। केवल इतनी ही बात है कि इस अलंकार का जो लोग विभावना में अन्तर्भाव करना चाहें वे सभी उदाहरणों में विभावना सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु विशेष कथन का विशेष चमत्कारी तत्त्व विभावना की अपेक्षा सभी उदाहरणों में स्पष्ट है।

आक्षेप

संस्कृत-रीतिशास्त्र में आक्षेप के स्वरूप में भी आचार्य लोग एकमत नहीं। प्राचीन आचार्यों को हम कम से कम तीन वर्गों में रखकर देख सकते हैं। दण्डी, भामह और वामन।

वामन के आक्षेप का लक्षण है 'उपमानक्षेपादाक्षेपः।'[2] इसकी व्याख्या भी दो प्रकार से की गई है। 'उपमानस्याक्षेपः प्रतिवेधः' अर्थात् जहां उपमान की हेयता दिखाई जाए। यह परवर्ती आचार्यों का प्रतीप बना। दूसरी 'उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिः' अर्थात् प्रस्तुत उपमेय के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत उपमान का आक्षेप करना। यह उत्तरकाल में समासोक्ति का क्षेत्र हुआ। अतः वामन का लक्षण अपने इस रूप में परवर्ती आचार्यों में प्रतिष्ठा न पा सका।

भामह के आक्षेप का लक्षण यह है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा॥[3]

भामह के उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रतिषेध के दो भेद होते हैं—वक्ष्यमाण विषय और उक्त विषय। परवर्ती संस्कृत-आचार्यों में प्रायः इसी भामह के लक्षण का विकास पाया जाता है। अलंकारसर्वस्व में रुय्यक ने जो आक्षेप का विवेचन किया है उसपर

---

१. It should be noted that no definition common to the three varieties is given. These are really speaking three figures all of which are called Vishesh.

विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेकेस्मिन्विधिः, लक्षणस्य भिन्नत्वात्॥

—विमर्शिनी, पृष्ठ १३६

—साहित्यदर्पण, पृ० २५६, परि० १

२. काव्यालंकार सूत्र ४, ३, २७

३. काव्यालंकार २, ६८

भामह के इस लक्षण की पूरी-पूरी छाया है। रुय्यक ने दो प्रकार से आक्षेप का लक्षण किया है[1]—

१. उक्त वक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः।

२. अनिष्टविध्याभासश्च।

इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम में विधि अभीष्ट होती है, निषेध का आभास; दूसरे में निषेध अभीष्ट होता है, विधि का आभास। रुय्यक ने भामह के प्रथम आक्षेप का ही अधिक विवेचन किया है। उनके दूसरे आक्षेप के आधार दण्डी प्रतीत होते हैं।

दण्डी ने आक्षेप की जो व्यापक भूमि तैयार की थी, उसमें प्रतिषेधोक्ति अर्थात् निषेध ही आवश्यक तत्त्व था। वह वाच्य रूप में तथा विध्याभास की शैली में दोनों प्रकार दण्डी को मान्य था। रुय्यक को वाच्य-निषेध मान्य नहीं हुआ, उसका तो उन्होंने खंडन कर दिया।[2] विध्याभास द्वारा आक्षिप्त निषेध को स्वीकार कर लिया।[3] रुय्यक ने आक्षेप के निम्न तत्त्व स्थिर किए हैं[4]—

१. एक अभीष्ट अर्थ होना।

२. उस अर्थ का निषेध।

३. निषेध की अनुपपन्नता अथवा आभासत्व (वास्तविक निषेध दोष है)।

४. इस प्रक्रिया से एक विशेष अर्थ की उपलब्धि।

इस प्रकार उनकी दृष्टि में प्रधानतः निषेधाभास के द्वारा विधि का आक्षेप दिखाना आक्षेपालंकार है।[5] परवर्ती आचार्य-परम्परा प्रायः इसी लक्षण को पकड़कर चली[6] है; किन्तु एकावलीकार विश्वनाथ[7] आदि रुय्यक के समान ही दण्डी-परम्परा के

---

१. अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १४४-१५२

२. तेन न निषेध-विधिः, न विधि-निषेधः। किन्तु निषेधेन विधिराक्षेपः।

—रुय्यक, पृ० १४८–१४६

३. तस्मादयमपि प्रकार आक्षेपस्य समानन्यतयाऽभिनवत्वेनोक्तः। अभिनवत्वेनेति दण्ड्याद्यपेक्षया। —रुय्यक, विमर्शिनी, पृ० १५४

४. एवं च आक्षेपे इष्टार्थस्तस्यैव निषेधः निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वं विशेषप्रतिपादनं चेति चतुष्टयमुपयुज्यते। —अलंकारसर्वस्वम्, पृष्ठ १४८

५. सर्वथेष्टनिषेधाभासस्य विध्युन्मुखस्याक्षेपत्वमिति स्थितम्।

—अलंकारसर्वस्वम्, पृष्ठ १५२

६. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः।

—काव्यप्रकाश, १०।१६१

७. वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।
अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो यतः॥ —साहित्यदर्पण, १०।६५

विध्याभासमूलक आक्षेप को भी साथ में स्वीकार कर लेते हैं। दण्डी का आक्षेप अन्य आचार्यों से भिन्न है। वह जितना व्यापक है उतना ही शिथिल। उसका लक्षण है—

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ॥[१]

इस लक्षण से तथा उनके उदाहरणों से निम्न तथ्य उपलब्ध होते हैं—

१. प्रतिषेधात्मक उक्ति आक्षेप है। प्रतिषेध का आभासात्मक होना आवश्यकीय नहीं। उनके उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि वे वाच्य-रूप में निषेध-कथन में ही आक्षेप मानते हैं।[२]

२. वे निषेध को न केवल वाच्य-रूप में अपितु विध्याभास से आक्षिप्त होने पर भी आक्षेप मानते हैं।[३] इसी रूप को प्रक्रिया-साम्य से रुय्यकादि ने अपना लिया है।[४]

३. दण्डी अन्य आचार्यों के समान वक्ष्यमाण (भविष्यत्) और उक्त विषय (भूत) आक्षेप ही नहीं वर्तमान-विषयक भी मानते हैं।

४. दण्डी ने आक्षेप के अनन्त भेदों को स्वीकार करते हुए चौबीस भेद उदाहृत किए हैं। उन्होंने इन भेदों का आधार आक्षेप्य भेद अर्थात् जिस तथ्य का प्रतिषेध किया जा रहा है, उसके आधार पर बताया है।[५] परन्तु उनके उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि उनके आक्षेप-भेदों के कम से कम दो आधार हैं—एक आक्षेप-भेद दूसरे आक्षेपक-भेद अर्थात् वे साधन जिनके आधार पर आक्षेप वस्तु का निषेध किया जा रहा है—जैसे धर्माक्षेप का नामकरण या आक्षेप्य धर्म मार्दव के आधार पर[६] तथा परुषाक्षेप का नामकरण आक्षेप के उपायभूत परुष वचन के आधार पर हुआ है। परुषाक्षेप में आक्षेप्य है प्रियगमन न कि परुष वचन।[७] वास्तव में दण्डी की दृष्टि आक्षेप के विषय में बड़ी व्यापक एवं शिथिल थी। भामह के निषेधाभास के तथ्य को तो उन्होंने बिलकुल स्वीकार नहीं किया।

---

१. काव्यादर्श, २।१२०
२. काव्यादर्श, २।१२३, १२४, १२५, १३७, १४७, १५६, १६३
३. काव्यादर्श, २।१४१
४. अनिष्टविध्याभासश्च।
—अलंकारसर्वस्वम्, पृष्ठ १५२
५. अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता।
—काव्यादर्श, २।१२०
६. तव तन्वंगि मिथ्यैव रूढमंगेषु मार्दवम्।
यदि सत्यं मृदून्येव किमकाण्डे रुजन्ति माम् ॥
—काव्यादर्श, २।१२७
७. यदि सत्यैव यात्रा ते काप्यन्या गृह्यतां त्वया।
अहमद्यैव रुद्धास्मि रन्ध्रापेक्षेण मृत्युना ॥
—काव्यादर्श, २।१४३

केशव ने वामन अथवा मम्मट-परम्परा को न अपनाकर दण्डी को ही आदर्श बनाया है। केशव का लक्षण निम्न है—

कारज के आरम्भ ही, जहँ कीजत प्रतिषेध।
आक्षेपन तासों कहत, बहु विधि वरनि सुमेध।
तीनों काल बखानिजे, भयो जु, भावी, होतु॥[1]

केशव की एवं दण्डी की तीन बातें समान हैं—

१. आक्षेप को भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों में मानना।

२. निषेधाभास को आवश्यक न मानकर वाच्य-निषेध में आक्षेप मानना।

३. विध्याभासमूलक निषेध को भी स्वीकार करना।

यह दिखाया जा चुका है कि दण्डी ने अपने भेदों का आधार आक्षेप्य भेद बताया था किन्तु उसकी संगति उनमें नहीं मिलती। केशव ने इस भूल को बचाया है। उन्होंने आक्षेप के आधार पर भेद करके एक प्रकार से व्यवस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया है। केशव ने भूत, भविष्यत्, वर्तमान, प्रेम, अधैर्य, धैर्य, संशय, मरण, प्रकाश, आशीर्वाद, धर्म, उपाय तथा शिक्षा तेरह प्रकार का आक्षेप दिखाया है। सब भेदों की पद्धति एक ही है। इन भेदों में भूत, भविष्यत्, संशय, आशिष, धर्म तथा उपाय दण्डी से मिलते है। केशव का मरणाक्षेप दण्डी का मूर्छाक्षेप है।[2] वास्तव में ये भेद उपलक्षण-मात्र हैं।

भेदों, उपभेदों एवं नामकरण में केशव ने प्रायः दण्डी का अन्धानुकरण नहीं किया और न यह अन्धानुकरण का विषय था। वास्तव में केशव ने दण्डी के आक्षेप की परिमार्जित उद्धरणी प्रस्तुत की है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रोफेसर अरुण ने केशव के आक्षेप की आलोचना[3] करते समय स्वयं दण्डी का अवलोकन नहीं किया।

क्रम

केशव का क्रमालंकार आचार्य-परम्परा से नितान्त भिन्न है। इस अलंकार के दो नाम—क्रम तथा यथासंख्य बहुत प्राचीनकाल से ही चले आए हैं। यह दण्डी से ही स्पष्ट हो जाता है।[4] प्रथम उद्देश्य-रूप से रखे हुए पदार्थों के सम्बन्ध-क्रम से ही किन्हीं पदार्थों का सन्निवेश क्रमालंकार का विषय होता है। प्रायः सभी संस्कृत-आचार्यों का क्रम या यथासंख्य का लक्षण एक-सा ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसीने इसे क्रम

---

१. कविप्रिया, दशम प्रभाव, छन्द १-२

२. केशव एक अध्ययन, पृष्ठ २७

३. दण्डी ने प्रतिषेध को वर्तमान और भविष्यत्काल से ही सम्बद्ध किया है।
—केशव एक अध्ययन, पृष्ठ २७-२८

४. उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि॥ —काव्यादर्श, २।२७३,

कहा तो किसीने यथासंख्य,[1] किसीने दोनों नाम दे दिए।[2] तब केशव के क्रम की भिन्नता का कारण होना चाहिए। यह कह देने-भर से छुट्टी नहीं मिलेगी कि केशव क्रम के लक्षण और उदाहरण को निभा नहीं सके हैं। लक्षण अस्पष्ट और उदाहरण गलत हैं।[3]

संस्कृत-साहित्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि परवर्तीकाल में इस अलंकार के प्रति अश्रद्धा जागरित होने लगी थी; चाहे परम्परा-पालनार्थ लोग इसका लक्षण-उदाहरण भले ही देते गए हों। जयद्रथ का स्पष्ट तर्क है कि यह तो अपक्रम-दोष का अभाव-मात्र है। दोष से बचना-मात्र ही अलंकारत्व नहीं।[4] पंडितराज जगन्नाथ के साक्ष्य पर तो यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि नवीन लोग इस अलंकार को तिलांजलि देने के लिए तुल गए थे।[5] परम्परा में आस्था-मात्र के कारण ही इसका विवेचन चला आ रहा है।

केशव ने इस आस्था को दूसरे ढंग से निभाया। इसका निषेध इसलिए किया गया था कि इस प्रकार के क्रमात्मक वर्णन में अलंकारत्व का मूल विच्छित्ति नहीं है। यदि क्रमात्मिका विच्छित्ति कहीं पाई जाए तो उसे क्रम अलंकार कहा जाना चाहिए। अतः केशव ने उसका लक्षण इस प्रकार किया—

---

१. (अ) भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशोयोऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते। —भामह, २।८९

(आ) उद्भट का कथन है कि सधर्मी के क्रम पर भी यह अलंकार हो जाता है।
—वामन, ४।३१७

(इ) उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धजः क्रमः।
वामन के लक्षण की सीमा उपमेयोपमान तक सीमित होने के कारण संकुचित है।

(ई) उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानूद्देशो यथासंख्यम्।
—अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १८७

(उ) यथासंख्यमनूद्देशोऽप्युद्दिष्टानां क्रमेण यत्।
—मम्मट तथा विश्वनाथ साहित्यदर्पण, १०।७९

(ऊ) उपदेशक्रमेणार्थानां संबन्धो यथाक्रमम्॥ —रसगंगाधर, पृ० १८७

२. अन्ये त्विममलंकारं क्रमसंज्ञमभिदधिरे॥
—अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १८७

३. केशव एक अध्ययन, प्रो० अरुण, पृ० ३०

४. न चास्यालंकारत्वं युक्तम्। दोषाभावमात्ररूपत्वात्। उद्दिष्टानां क्रमेणानुनिर्देशे ह्य क्रियमाणेऽपक्रमाख्यो दोषः प्रसज्यते। दोषाभावमात्रं च नालंकारत्वम्। तस्य कवि प्रतिभात्मकविच्छित्तिविशेषत्वेनोक्तत्वात्। —अलंकारसर्वस्व, पृ० १८८, विमर्शिनी टीका

५. यथासंख्यमलंकारपदवीमेव तावत्कथमारोढुं प्रभवतीति तु विचारणीयम्। नह्यस्मिंल्लोकसिद्धे कविप्रतिभानिर्मितत्वस्यालंकारता जीवातोर्लेशतोऽप्युपलब्धिरस्ति। येनालंकारव्यपदेशो मनागपि स्थाने स्यात्। अतोऽपक्रमत्वरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम्। एवं चौद्भटमतानुयायिनामुक्तयः कूटकार्षापणवदरमणीयाएव। एतेन यथासंख्यमेव क्रमालंकारसंज्ञया व्यवहरतो वामनस्यापि गिरो व्याख्याता इति तु नव्याः॥
—रसगंगाधर, पृ० ४७८

आदि अन्त भरि बरनियै सो क्रम केसवदास ।[1]

प्रत्येक कथन का अन्तिम अंश अग्रिम कथन में आद्य स्थान पाता चले इस क्रम में किए हुए वर्णन को क्रम कहते हैं और इसका उदाहरण है—

धिक मंगन विन गुनहि गुन सु धिक सुनत न रिज्झय ।[2]

संस्कृत-आचार्य इस प्रकार के स्थलों में एकावली अलंकार मान चुके थे । केशव ने एकावली को अलग मान्यता नहीं दी, उन्होंने एकावली को ही क्रम कहा है । यदि केशव की बात मान ली जाती तो दो बातें हो जातीं । एक तो क्रम के अस्तित्व के सम्बन्ध में उठी आशंका समाप्त हो जाती, क्योंकि यहां क्रमात्मक विच्छित्ति का अभाव नहीं था । फिर इस अलंकार का नाम क्रम रखना अधिक अनिवार्य होता, क्योंकि उसमें क्रमात्मक विच्छित्ति की प्रधानता है और हिन्दीवालों के लिए तो एकावली की अपेक्षा 'क्रम' नाम अधिक सरल पड़ता है ।

गणना

विभिन्न संख्यासूचक शब्दों के प्रयोग पर केशव ने गणना अलंकार माना है । उन्होंने एक से दस संख्यासूचक शब्दों की लम्बी तालिकाएं देकर गणना के दो उदाहरण दिए हैं । इस सामग्री का आधार प्रायः काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर है ।

आशी

इस अलंकार को प्राचीन आचार्यों ने, जैसे भामह, दण्डी आदि ने, मान्यता दी है। भट्टि ने भी इसका उल्लेख किया है । परवर्तीकाल में वामन, रुय्यक, मम्मट और विश्वनाथ तक इसकी मान्यता समाप्त हो गई। केशव के आधार दण्डी हैं ।[3]

जहां अभीष्ट वस्तु में आशंसन दिखाया जाय, जैसे (वह) अवाङ्मानसगोचर ज्योति आपकी रक्षा करे । आशंसन शब्द का अर्थ है अभीष्ट-कामना । यह जब अपने लिए होती है तो प्रार्थनास्वरूप होती है और जब परार्थ होती है तो मंगल-कामना या आशीर्वाद-रूप होती है । दण्डी के उदाहरण से स्पष्ट है कि यहां आशंसन परार्थ मंगल-कामना या आशीर्वाद-रूप ही है । भट्टि ने भी परार्थ मंगल-कामना के अर्थ में इसका प्रयोग किया है ।[4] भामह ने जो आशी का लक्षण किया है, उसने इसको और व्यापक बना दिया है । उनके अनुसार कोई भी सौहार्द्र की अविरोधिनी उक्ति आशीरलंकार है । किन्तु उदाहरणों का अभिप्राय सुहृद् की मंगल-कामना पर नहीं है ।[5]

---

१. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द १

२. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २

३. काव्यादर्श, २।३५७

४. पतिवधपरिप्लुतलोलकेशीर्नयनजलापहतांजनोष्ठरागाः ।
कुरुरिपु वनिता, जहीहि शोकं, क्व च शरणं जगतां भवान् क्व मोहः ।
—भट्टि प्रसन्नका०, १-१-७२

५. आशीरपि च केषांचिदलङ्कारतया मता ।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगः याच्च तद्यथा ॥ —भामह, ३।५५

केशव ने भी भामह के समान इसे व्यापक अर्थ में अपनाया है—

मातु पिता गुरु देव मुनि कहत जु कछु सुख पाइ।
ताही सों सब कहत हैं, आसिष कवि कविराइ॥[1]

भामह के समान ही केशव के लक्षण की व्यापकता उनके उदाहरण द्वारा सीमित होकर आशीर्वाद अर्थ तक ही रह जाती है देखिए—

चिरु चिरु सोहों रामचन्द्र के चरन युग।
तथा **सो अथवं कबहूँ जनि केसव जाके उदोत उदो सबही को॥**[2]

कुछ आलोचकों ने दण्डी के लक्षण पर ध्यान न देने के कारण केशव और दण्डी में अन्तर पाया है। किन्तु जैसाकि ऊपर दिखाया जा चुका है उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं। नाटकों के आशीर्वादात्मक पद्यों को आलोचकों द्वारा आशीरलंकार में रखने की यही साक्षी है कि परार्थ मंगल-कामनास्वरूप आशीर्वाद ही आचार्य-सम्मत है। अतः दीक्षितजी की इस उक्ति से हम सहमत नहीं कि :

दण्डी के अनुसार आशीरलंकार वही होता है जहां अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की इच्छा अथवा अभिलाषा का प्रकटीकरण हो। परन्तु केशव ने माता, पिता, गुरुदेव तथा मुनियों द्वारा दिए गए आशीर्वाद को ही आशीरलंकार मान लिया है।[3]

प्रेमालंकार

केशव के प्रेमालंकार का आधार दण्डी का प्रेयस है। दण्डी के अनुसार किसी प्रियतर बात का कथन प्रेयस का विषय है।[4] दण्डी ने प्रेयस के दो उदाहरण दिए हैं।[5] एक उदाहरण में स्तुत्य कृष्ण की प्रीति के आधार पर तथा दूसरे में स्तोता कातवर्मा की प्रीति के आधार पर उन्होंने प्रेयस दिखाया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे सामान्यतः प्रेम-प्रकाशन को, चाहे वह वक्ता का हो चाहे श्रोता का, प्रेयस मानते हैं। दण्डी के लक्षण में इतनी व्यापकता नहीं, उसमें तो किसी प्रियतर बात का कहना 'प्रियतराख्यान'-मात्र प्रेयस है। किन्तु उदाहरण की व्यापकता द्वारा लक्षण की संकीर्णता दूर हो जाती है। भामह ने

---

१. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २४
२. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २५-२६
३. आचार्य केशवदास : डा० दीक्षित, पृ० २४६
४. प्रेयः प्रियतराख्यानम्। —काव्यादर्श, २।२७५
५. (अ) अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीति स्तवैवागमने पुनः॥ २।२७६
इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतरस्तादशी धृतिः।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः॥ २।२७७
(आ) सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्॥ २।२७८
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्॥ २।२७९

प्रेयस का लक्षण न करके ठीक वही उदाहरण दिया है जो दण्डी का है।[1]

किन्तु परवर्तीकाल में प्रेयस का यह सरल रूप स्थिर न रह सका,[2] और काल-क्रम से उसका स्वरूप हुआ जहां 'भाव' किसी अन्य का अंग बने।[3] रुय्यक के विवेचन में इस मान्यता के विकास की मध्यमावस्था पाई जाती है। उन्होंने इसके विषय में भाव के अंगभाव या गुणीभाव की शर्त नहीं रखी, अपितु भाव सामान्य के निबन्धन को प्रेयस कहा है।[4] इतना ही नहीं, इन आचार्यों ने दण्डी के प्रेयः प्रियतराख्यानम् लक्षण की संगति अपने मन्तव्य के अनुकूल घुमा-फिराकर लगाई है। रुय्यक कहते हैं कि यही तो प्रियतर का अर्थ है कि जहां प्रेयस का निबन्धन[5] हो। विश्वनाथ कहते हैं कि ऐसा रचना-विधान अत्यन्त प्रिय होता है। अतः वह प्रियतर होने के कारण प्रेय कहा जाता है।[6] रुय्यक ने भाव-मात्र के विधान को और विश्वनाथ ने भाव-मात्र के गुणीभाव को प्रेयस कहा है। मम्मट को प्रेयस आदि अलंकारों को अलंकार कहना ही रुचिकर न हुआ। किन्तु आनन्दवर्धन की परम्परा रखते हुए उन्होंने उनके उदाहरण गुणीभूत व्यंग्य के प्रसंग में अवश्य दिए हैं।

अतः दण्डी, भामह आदि के प्रेयस को नवीन आचार्यों के प्रेयस से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए। केशव ने दण्डी में आस्था रखने के कारण इस अलंकार को मान्यता दी है। किन्तु ध्वनिवादियों के प्रेयस से गड़बड़ी बचाने के लिए उसका नाम प्रेमालंकार रखा है जोकि दण्डी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

कपट निपट मिटि जाइ जहँ उपजै पूरन क्षेम।
ताही सों सब कहत हैं, केसव उत्तम प्रेम॥[7]

केशव के उदाहरण से उनके लक्षण की पूर्ण संगति है।[8]

---

१. प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥ —काव्यालकार, ३।५

२. But the preyah of Bhamah and Dandi is not that a complicated affair as that of latter writers.
—Kane, Notes on Sahitya Darpan, page 316

३. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा।
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्॥ —साहित्यदर्पण, १०, ९५, ९६, ३१६

४. रसभाव-तदाभास-तत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितानि॥
—अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ २३३

५. प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम्। —अलंकारसर्वस्वम्, पृ० २३२

६. प्रकृष्ट प्रियत्वात् प्रेयः। —साहित्यदर्पण, १०।९३ की वृत्ति

७. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २७

८. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २८

श्लेष

केशव के श्लेष के आधार भी दण्डी ही हैं। दण्डी ने श्लिष्ट का लक्षण करते हुए लिखा है कि "एक रूप होते हुए भी अनेकार्थ वचन श्लेष कहलाता है।"[१] केशव का भी यही भाव है—

दोइ तीनि अरु भाँति बहु आनत जामैं अर्थ।
श्लेष नाम तासौं कहत जे हैं बुद्धि समर्थ॥[२]

दण्डी ने सामान्यतः श्लेष के दो भेद किए हैं—भिन्न-पद और अभिन्न-पद।[3] केशव ने दोनों भेदों को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है।[४] भिन्न-पद के लक्षण में केशव कहते हैं कि जहां पद ही में पद काटकर निकाला जाए वहां भिन्न-पद श्लेष होता है।[५] संस्कृत-आचार्यों की यह मान्यता है कि जहां एक ही शब्द दो भिन्न अर्थ देता है वहां अर्थ-दृष्टि से वह एक शब्द नहीं, दो पृथक् शब्द माने जाने चाहिए।[६] इसे ही केशव ने 'पद में पद काटना' कहा है। किन्तु जहां भिन्न पक्षों के लिए सर्वथा भिन्न अर्थ न करने पड़ें वहां अभिन्न-पद। यह अभिन्न-पद और भिन्न-पद की व्याख्या परवर्तियों की सभंग-पद और अभंग-पद व्यवस्था से भिन्न समझनी चाहिए जोकि पद-विच्छेदन के ऊपर आधारित है। जैसे इसके अतिरिक्त दण्डी ने श्लेष के अभिन्नक्रिय, अविरुद्ध, विरुद्ध-कर्मा, नियमवान, नियमाक्षेप रूपोक्ति, अविरोधी तथा विरोधी ये सात भेद दिखाए हैं। इनमें नियमवान और नियमाक्षेप रूपोक्ति लगभग एक-से हैं।[७] ये दोनों वर्तमान परिसंख्या अलंकार में आ सकते हैं।[८]

---

१. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः॥ —काव्यादर्श, २।३१०

२. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द २६

३. तदभिन्नपदं भिन्न-पद-प्रायमितिद्विधा। —काव्यादर्श, २।३१०

४. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३४

५. पद ही में पद काटिए, ताहि भिन्न पद जानि॥
—कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३६

६. अर्थभेदेन शब्दभेदः। इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यत् युगपदुच्चरणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः।
—काव्यप्रकाश, पृष्ठ ५१०

एकेन शब्देनार्थस्य प्रतीत्यसम्भवात् अर्थस्य प्रतीत्यर्थं श्लेष-स्थले एकाकारौ द्वौ शब्दौ स्तः इत्यवश्यमंगीकार्यम्॥
—विवरणकार काव्यप्रकाश, पृष्ठ ५१०, टीका

७. नियम—
निस्त्रिंशत्वमसावेव धनुष्येवास्य वक्रता।
शरेष्वेव नरेन्द्रस्य मार्गणत्वं च वर्तते॥ —काव्यादर्श, २।३१६

नियमाक्षेप रूपोक्ति—
पद्मानामेव दण्डेषु कण्टकस्त्वयि रक्षति।
अथवा दृश्यते रागिमिथुनालिंगनेष्वपि॥ —काव्यादर्श, २।३२०

८. परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन्वस्तुयन्त्रणम्। —काव्यादर्श, २।३२१

अविरोधी सामान्य श्लेष ही है। विरोधी विरोधमूलक है।[1] यह दण्डी के उदाहरणों से ही स्पष्ट हो जाता है, उन्होंने इनके लक्षण नहीं दिए। इस प्रकार केशव को अपनाने के लिए अभिन्न क्रिय, अविरुद्ध क्रिय, विरुद्धकर्मा, नियम तथा विरोधी पांच भेद रहते हैं।[2] इनके लक्षण केशव ने भी नहीं दिए, किन्तु इनका स्वरूप दण्डी के ही समान है। केशव के नियम का उदाहरण दण्डी के परिसंख्या के समान है। केशव ने परिसंख्या अलंकार अलग नहीं माना है। किन्तु उनकी रचनाओं में परिसंख्या अलंकार पाया जाता है। केशव की दृष्टि से उन स्थलों को नियम श्लेष का ही कहना चाहिए। दण्डी का विरोधी श्लेष का उदाहरण विरोधाभास का है, किन्तु केशव का अतिरेक का। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केशव ने न केवल विरोधाभास को अपितु विरोधमूलक समस्त अलंकारों को जो श्लेष पर आधारित हैं विरोधी श्लेष के अन्तर्गत समेटा है। वास्तव में इससे दण्डी और केशव के दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं पड़ता। जहां श्लेष भी हो तथा तन्मूलक दूसरे अलंकार जैसे परिसंख्या, समासोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, उपमा, रूपक आदि हों उन स्थलों पर श्लेष कहा जाए या उन विशिष्ट अलंकारों का अधिकार माना जाए। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में यह एक विवाद का विषय रहा है और कम से कम तीन मान्यताएं तो स्पष्ट उपलब्ध हैं। उद्भट का मत है कि ऐसे स्थलों पर श्लेष अलंकार कहना चाहिए। दूसरा मत मम्मट, विश्वनाथ आदि का है, उनके अनुसार ऐसे स्थल संकर के विषय होंगे। तृतीय मत रुय्यक वर्ग का कहा जा सकता है, उनकी मान्यता ऐसे स्थलों में श्लेष नहीं विशेष विशेष समासोक्ति आदि अलंकारों के लिए है।[3] दण्डी का मत स्पष्ट तो नहीं है, किन्तु उनके विवेचन के आधार पर उन्हें तृतीय मत के अनुकूल कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने विशिष्ट अलंकारों के प्रसंग में श्लिष्टोपमा, श्लिष्ट रूपक, श्लिष्टाक्षेप आदि दिखाए हैं। प्रश्न उठता है कि फिर उन्होंने श्लेष के प्रसंग में वैसे स्थलों का निरूपण क्यों किया है! वास्तव में दण्डी के समय तक यह प्रश्न ही नहीं उठा था। श्लेष की दृष्टि से कोई श्लेष, जैसे विरोधी श्लेष, और विरोध आदि की दृष्टि से विरोधाभास आदि—दोनों अलंकार उन्हें एक ही स्थान पर मान्य थे। अतः दोनों स्थलों पर उनका वर्णन कर दिया गया। नियम श्लेष अथवा विरोधी श्लेषादि नाम उपलक्षण-मात्र समझने चाहिए।[4] केशव ने भी दिग्गज आचार्यों के मतभेदों में न

१. अच्युतोप्यवृषोच्छेदी राजाप्यविदितक्षयः।
देवोप्यविबुधो जज्ञे शंकरोप्यभुजंगवान्॥ —काव्यादर्श, २।३२२

२. बहुर्‌यो एक अभिन्नक्रिय और भिन्नक्रिय जान।
पुनि विरुद्धकर्मा अवर नियम विरोधी, मान॥
—कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३९

३. Introduction to Sahitya Darpana, Page 200, P. V. Kane.

४. उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे॥
—काव्यादर्श, २।३१३

पढ़कर इसी सरल मत को अपना लिया है[१] और दण्डी के समान ही प्रसंगतः उपलक्षण-रूप में उपमा श्लेष का नाम लिया है, जैसेकि दण्डी ने उपमा, रूपक, आक्षेपादि श्लेषों का। एक ही स्थल में दोनों अलग-अलग अलंकार बन जाएंगे। यह बात केशव ने इस प्रकार स्पष्ट की है—

भिन्न-भिन्न पुनि पदन के, उपमा श्लेष बखानि।

सामान्य श्लेष के अन्तर्गत केशव ने पांच अर्थों तक के श्लेष के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। ऐसे स्थलों का दुरूह होना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु इससे केशव की कला की प्रशंसा अवश्य करनी पड़ती है। साहित्यिक दृष्टि से इनका स्थान निम्न काव्य का ही है, किन्तु श्लेष मध्ययुग के चमत्कार का प्रधान साधन रह चुका है।

सूक्ष्म

केशव का सूक्ष्म दण्डी के ही अनुसार है। उनका उदाहरण भी दण्डी के ही समान है।[२] दण्डी ने आकर और इंगित दोनों के उदाहरण दिए, केशव ने केवल इंगितमूलक सूक्ष्म ही उद्धृत किया है।

लेश

लेश में भी केशव ने दण्डी को ही आदर्श बनाया है। दण्डी ने दो प्रकार का लेश बताया है। केशव का लेश दण्डी का प्रथम लेश है। दण्डी का द्वितीय लेश वहां होता है जहां लेशतः निन्दा द्वारा स्तुति या स्तुति द्वारा निन्दा हो। परवर्ती आचार्यों में ऐसे स्थलों में व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा मानी है। अतः केशव ने इसे छोड़ दिया है। लेश अलंकार के विषय में डा० दीक्षित की सम्मति है कि "केशव का उदाहरण अपह्नुति अलंकार से पृथक्त्व दिखाने के लिए दण्डी की अपेक्षा अधिक अच्छा है।"[3]

निदर्शना

दण्डी की निदर्शना किसी अन्य अर्थ में प्रवृत्त किसी कार्य द्वारा कुछ उसी प्रकार के सत् या असत् फल के निदर्शन पर होती है।[४] केशव के लक्षण का भी यही स्वरूप है—

कौनहु एक प्रकार तें सत अरु असत समान।
करियं प्रगट निदर्सना, समुझत सकल सुजान।[५]

---

१. पद ही में पद काढ़िये, ताहि भिन्न पद जानि।
भिन्न-भिन्न पुनि पदन के उपमा श्लेष बखानि॥
—कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ३६

२. कौनहु भाव प्रभाव तें जानिय जिय की बात।
इंगति तें आकार तें कहि सूक्षम अवदात॥ —कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ४५

३. आचार्य केशवदास, पृष्ठ २४७

४. अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम्॥ —काव्यादर्श, २।३४८

५. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ४६

दण्डी ने सत् और असत् फल-निदर्शन के उदाहरण अलग-अलग दिखाए हैं। केशव ने एक ही उदाहरण द्वारा दोनों प्रकार का फल-निदर्शन करा दिया है।

ऊर्जालंकार

केशव के ऊर्ज का आधार दण्डी का ऊर्जस्वी है। जहां अहंकार रूढ़ अवस्था में हो वहां दण्डी ऊर्जस्वी अलंकार मानते हैं।[1] केशव भी यही कहते हैं—

तजै न निज हंकार कों, जद्यपि घटै सहाइ।
ऊर्ज नाम तासों कहैं, केसव सब कविराइ।[2]

दण्डी के प्रेयस अलंकार की तरह ही उनका ऊर्जस्वी भी परवर्तियों से बिलकुल भिन्न है। उनके अनुसार रसाभास या भावाभास के गुणीभूत होने पर यह अलंकार होता है। ऐसे स्थलों में केशव नवीनों की अपेक्षा दण्डी के साथ रहे हैं।

रसवदलंकार

रसवदलंकार के विषय में संस्कृत-आचार्यों में कई विप्रतिपत्तियां पाई जाती हैं। ध्वनि-सिद्धान्त के व्यवस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्य प्रायः रसात्मक सौन्दर्य को अलंकार सौन्दर्य के अन्तर्गत ही देखते रहे थे। उन्होंने अलंकार शब्द को इसी व्यापक अर्थ में ग्रहण किया था। वामन ने 'सौंदर्यालंकार' कहकर समस्त काव्य-सौन्दर्य-मात्र के पर्याय में अलंकार शब्द अपनाया था। इन आचार्यों में ध्वनि की स्पष्ट मान्यता न होने के कारण उन्हें ध्वन्यभाववादी कहा गया है। अतः साहित्यशास्त्र में प्राप्त रसवत्-विषयक विप्रतिपत्तियों को सुविधा की दृष्टि से हम दो वर्गों में रख सकते हैं—

१. ध्वन्यभाववादी।
२. ध्वनिवादी।

ध्वन्यभाववादी आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट तथा ध्वनिवादी आचार्यों में आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि हैं।

दण्डी के अनुसार रसात्मक चित्रण के स्थलों में रसवदलंकार होता है।[3] उनके उदाहरण भी इसी बात के प्रमाण हैं।[4] भामह की भी यही मान्यता है। उनके अनुसार

---

१. तेजस्विरूढाहंकारम्।
—काव्यादर्श, २।२७५

२. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ५१

३. रसवद्रसपेशलम्।
—काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक २७५

४. (अ) सेयं रतिः शृंगारतां गता।
इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः।
—काव्यादर्श, २।२८१।२८३

(आ) इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।
रसवत्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः॥ —काव्यादर्श, २।२८५

जहां स्पष्ट रूप से श्रृंगारादि रस का चित्रण हो वहां रसवत् होता है।[१] भामह के लक्षण को स्पष्ट करते हुए उद्भट भी कहते हैं कि यह रस-चित्रण अनुभावादि के द्वारा रसादि के परिपाक होने पर होता है।[२] इन ध्वन्यभाववादियों का सारांश देते हुए रुय्यक उनके अनुसार रसवत् शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं 'रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत्'[३]। इनके अनुसार जहां रस का प्रधान रूप से चित्रण हो वहां रसवत् तथा जहां गुणीभूत चित्रण हो वहां उदात्त नामक अलंकार होता है।[४]

दूसरी मान्यता ध्वनिवादियों की है। आनन्दवर्धन ने प्रधानतया व्यक्तरस अलंकार वस्तु को रसादि ध्वनि तथा गुणीभूत होकर अन्य किसीके वाक्यार्थ होने पर उन अप्रधान रसादि में रसवदादि अलंकार माने हैं।[५] इन ध्वनिवादियों की मान्यता में ध्वन्यभाववादियों द्वारा मान्य उदात्त अलंकार का प्रश्न ही नहीं उठता।[६] मम्मट ऐसे स्थलों को रसवदादि अलंकार न कहकर गुणीभूत व्यंग्य कहना ही अधिक ठीक समझते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अलंकार शब्दार्थ के बाह्य धर्म हैं। गुणीभूत रसादि को इतनी स्थूल कोटि में नहीं रखा जा सकता।[७] इस प्रकार ध्वनिवादियों के अनुसार यह तो स्पष्ट हो गया कि गुणीभूत रसादि रसवदादि अलंकार हैं, किन्तु उन स्थलों का प्रधानभूत वाक्यार्थ क्या कहा जाएगा यह एक प्रश्न उठता है। मम्मट के अनुसार अंगी कोई रस, कोई भाव

---

१. रसवद्दर्शित-स्पष्टश्रृंगारादि-रसं यथा।
—भामह ३।६

२. The first half of this verse Bhamah 3-6 is taken by Udbhat in Kavyalankar Sar (N. S. ed, page 49). He states that the manifestation should be by the employment of the Anubhavas.
—Kavyalankar of Bhamah, page 32, notes on 3–6 by Nagrath Sastri

३. अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २३३

४. तत्र यस्मिन्दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलङ्काराः, तत्रांगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालङ्कारः। —अलङ्कारसर्वस्वम्, पृ० २३३
यस्मिन् दर्शन इति ध्वन्यमानवादिनां मतः इत्यर्थः। —जयरथ

५. प्रधाने यत्र वाक्यार्थे यत्रांगं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥ —ध्वन्यालोक, २।२७

६. यन्मते त्वंगभूते रसादिविषये रसवदाद्यलङ्कारा अन्यस्य रसादिध्वनिना व्याप्तत्वात्तत्रोदात्तालङ्कारस्य विषयो नावशिष्यते, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्
—अलङ्कारसर्वस्वम्, पृ० २३३

७. प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालंकार्यः यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्रांगभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यंग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते। —काव्यप्रकाश, पृ० ८५, उल्लास ४
एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशवलत्वानि नालङ्करतया उक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्॥ —काव्यप्रकाश, ३।५

या अन्य कोई प्रधानीभूत वाच्यार्थ भी हो सकता है।[1] आनन्दवर्धन के अनुसार यह अंगी अर्थ किसी देवता, राजा, गुरु, नृप आदि की स्तुति या चाटुकारितावाला होता है। भामह ने ऐसे स्थलों को प्रेय अलंकार कहा है। उद्भट प्रेय अलंकार सामान्यतः भाव-चित्रण में मानते हैं। अभिनव गुप्त ने उद्भट के भाव-चित्रणात्मक प्रेय अलंकार को भी समेटते हुए आनन्दवर्धन के शब्दों[2] की भामह और उद्भट दोनों के मत से द्विविध संगति लगाई है। दोनों के अनुसार ही अर्थात् किसीकी स्तुति या चाटु की प्रधानता होने पर या किसी (भाव) मात्र की प्रधानता होने पर उनके अंगभूत रसादि, रसवदादि अलंकार के विषय होते है।

यह तो हुई सामान्यतः मुक्तक रस की बात। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध रस की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। यद्यपि संस्कृत-आचार्यो में इस प्रकार का विवेचन प्रायः नहीं पाया जाता है। जिस प्रकार किसी स्थल का एक रस होता है, उसी प्रकार किसी प्रकरण या किसी प्रबन्ध का एक विशेष रस होता है। यह सभी आचार्यो को मान्य है। ऐसे स्थलों के प्रधान भाव को शुक्लजी की शब्दावली में 'बीज भाव' कहा जा सकता है। यहां हम उसे प्रबन्ध रस कहेंगे। जब किसी प्रासंगिक वर्णन के कारण से यह प्रबन्ध भाव उसका गौण हो जाएगा तो उसकी स्थिति मुक्तक अप्रधान रस की सी ही हो जाएगी। जो लोग रस की गौणता में अलंकार मानते हैं उनकी दृष्टि से इस प्रकार के स्थलों को भी रसवत् अलंकार कहा जाएगा। फिर चाहे वह प्रबन्धगत रसवत् ही क्यों न हो।

केशव ने रसवत् का लक्षण करते हुए लिखा है—

रसमय होइ सु जानियै, रसवत् केसवदास।
नवरस को संक्षेप ही, समुझौ करत प्रकास।[3]

रसवत् शब्द संस्कृत-आचार्यो के सभी दृष्टिकोणों के अनुकूल व्याख्यात हुआ है। जिस प्रकार अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुकूल उसकी व्युत्पत्ति की गई है, उसी प्रकार केशव के 'रसमय' शब्द में सभी मान्यताओं की समाई है। ध्वन्यभाववादियों के अनुसार इसका अर्थ रसात्मक चित्रण और ध्वनिवादियों के अनुसार 'रसगर्भित चित्रण' किया जा सकता है। केशव ने सभी रसों के रसवत् अलंकारों के उदाहरण कविप्रिया में दिए हैं।[4]

अर्थान्तरन्यास

केशव के अर्थान्तरन्यास का स्वरूप-विधान संस्कृत-आचार्य-परम्परा से बिलकुल

१. अपरस्यरसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अंगंरसादि अनुकरणरूपंवा।
२. तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते ॥
—ध्वन्यालोक उद्योत, २।२७, पृ० १०० वृत्ति
३. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ५३
४. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द ५४ से ६४ तक

भिन्न है।

दण्डी के अर्थान्तरन्यास का भाव है, जहां किसी वस्तु को प्रस्तुत रूप में रखकर उसके समर्थन के लिए किसी अन्य वस्तु का न्यास या विधान किया जाए वहां अर्थान्तरन्यास होता है।[1] दण्डी के इस लक्षण में समर्थ्य-समर्थक भाव का स्पष्ट उल्लेख है। भामह ने भी इस अन्य अर्थ-विधान को पूर्वार्थानुगत कहकर इस तथ्य को स्वीकार किया है।[2] यही बात उद्भट से भी स्पष्ट होती है।[3] उद्भट से परवर्ती आचार्यों में समर्थक भाव का तथ्य भित्ति रूप से मान्य रहा है। किन्तु उसकी सीमाओं के विषय में मतभेद चलता रहा है। रुय्यक ने प्रकृत अर्थ-समर्थन को अर्थान्तरन्यास कहा तो है किन्तु सामान्य-विशेष अथवा कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध के साथ।[4] विश्वनाथ ने रुय्यक का ही अनुगमन किया है।[5] रसगंगाधरकार को इन आचार्यों का कारण-कार्य-सम्बन्धी समर्थ्य-समर्थक भाववाला अर्थान्तरन्यास मान्य नहीं। उसके अनुसार यह काव्यलिंग का क्षेत्र है।[6] किन्तु सीमा के विषय में मतभेद भले ही रहा हो, समर्थ्य-समर्थक भाव को किसी न किसी मात्रा में सभी-ने स्थान दिया है। केशव ने अपने अर्थान्तरन्यास में इस मूल तथ्य को छोड़ दिया है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो केशव इसे समझ न पाए या दूसरे उन्होंने अपने भिन्न दृष्टिकोण के आधार पर जान-बूझकर छोड़ा। इनमें से दूसरी बात हमें मान्य नहीं।

हम देख चुके हैं कि केशव ने कई स्थलों पर समस्त संस्कृत-परम्परा को छोड़कर शब्दों की अन्वर्थता को ध्यान में रखकर अलंकारों का स्वरूप-विधान कर डाला है। अर्थान्तरन्यास शब्द से सामान्य-विशेष या फिर कारण-कार्य के समर्थ्य-समर्थक तत्त्व पर किसी प्रकार प्रकाश नहीं पड़ता। केशव ने इस नाम के जटिल स्वरूप को छोड़कर इस अलंकार का एक अन्वर्थ स्वरूप-विधान कर डाला। उनकी इच्छा है कि चाहे संस्कृत-साहित्यशास्त्र

---

१. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ —काव्यादर्श, २।१६९

२. उपन्यसनमन्यस्य पदार्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥ —काव्यालंकार, २।१७१

३. समर्थकस्य पूर्वं यद् वचोऽन्यस्याथ पृष्ठतः।
विपर्ययेण वा यत्स्याद्धि शब्दोऽक्त्याऽन्यथापिवा॥

४. सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यो निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः॥
—अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १३६

५. Our author treatment of arthantaranyas slavishly follows the arthantaranyas.
—Kane, Notes on Sahitya Darpan.

६. यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण वा कारणस्य समर्थनम् इत्यपि भेदद्वयमर्थान्तरन्यासस्यालङ्कार-सर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्न। तस्य काव्यलिंगविषयत्वात्॥
—रसगंगाधर, पृ० ४७४

में अर्थान्तरन्यास का स्वरूप समर्थ्य-समर्थकादि जटिलताओं के साथ बना रहे, किन्तु हिन्दी रीतिशास्त्र में उसका स्वरूप सरलतम तथा अन्वर्थ प्रतिष्ठित है। केशव के इस प्रयत्न को मान्यता नहीं मिली। केशव का लक्षण इस प्रकार है—

और आनियै अर्थ जहँ, औरे वस्तु बखानि।
अर्थान्तर को न्यास यह, चारि प्रकार सु जानि॥[1]

केशव ने इसे चार प्रकार का माना है—युक्त, अयुक्त, अयुक्त-युक्त, युक्त-अयुक्त।[2] दण्डी ने अर्थान्तरन्यास के विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त तथा विपर्यय नाम से आठ भेद किए हैं। दण्डी के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्रथम चार भेदों तथा अन्तिम भेद में समर्थ्य-समर्थक-भाव आवश्यक है। यहां यह द्रष्टव्य है कि केशव ने इन पांच ही भेदों को छोड़, शेष तीन को जिनमें समर्थ्य-समर्थक-भाव का आग्रह नहीं था, अपना लिया है। यह इस बात का प्रमाण है कि केशव ने समर्थक भाव का बहिष्कार जान-बूझकर किया है। दण्डी के युक्ता-युक्त के वज़न पर उन्होंने अयुक्तायुक्त की कल्पना करके उसे चार भेदों का दिखाया है। उनके उदाहरणों से केशव के निजी दृष्टिकोण के अनुसार पूर्ण सामंजस्य है। किन्तु सभी भेदों के लक्षण एवं उदाहरण दण्डी से सर्वथा भिन्न हैं।

व्यतिरेक

केशव का व्यतिरेक दण्डी पर आधारित है। दण्डी के लक्षण का तात्पर्य है, वस्तुओं का सादृश्य होने पर, चाहे वह सादृश्य शब्द से कहा गया हो या प्रतीति-मात्र हो—उनमें जो परस्पर भेद दिखाया जाता है वहां व्यतिरेक होता है।[3] व्यतिरेक शब्द का अर्थ है भेद। केशव ने अपने लक्षण में भी इसी भेद-कथन को प्रमुखता दी है—

तार्माहि आनिय भेद कछु होइ जु वस्तु समान।
सो व्यतिरेक सुभाँति द्वै जुक्ति सहज परमान॥[4]

केशव ने व्यतिरेक दो ही प्रकार का दिखाया है, युक्ति व्यतिरेक तथा सहज व्यति-रेक। इनके लक्षण तो नहीं किए गए परन्तु उदाहरणों[5] से पता चलता है कि प्रथम में श्लेष के चमत्कार द्वारा भेद-कथन है, दूसरे में सहज स्वाभाविक भाषा में। प्रथम उक्ति व्यतिरेक में जो वस्तु-चित्रण है वह कवि-कल्पना-प्रसूत, दूसरा लोकगम्य। पारिभाषिक पदावली में इन्हें कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध एवं स्वतःसम्मति कह सकते हैं। इन्हें ही केशव ने उक्ति तथा सहज नाम दिया है। व्यतिरेक का यह भेदीकरण उनका अपना है।

---

१. कविप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द ६५
२. कविप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द ६७
३. शब्दोपात्तं प्रतीतं वा सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥ —काव्यादर्श, २।१८०
४. कविप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द ७८
५. कविप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द ७९।८०

अपह्नुति

दण्डी के अनुसार जहां किसी सत्य अर्थ को छिपाकर असत्य अर्थ का प्रदर्शन किया जाए वहां अपह्नुति होती है।[१] केशव का भी यही तात्पर्य है—

मन की बात दुराइ मुख, और कहियै बात।
कहत अपह्नुति सकल कवि, यासों बुधि अवदात॥[२]

दण्डी ने विषयापह्नुति, स्वरूपापह्नुति, उपमापह्नुति आदि दिखाई हैं। किन्तु कुछ भेद-व्यवस्था की दृष्टि से नहीं, सामान्यतः उदाहरण-प्रदर्शनार्थ।[3] केशव का उदाहरण दण्डी के किसी भेद के अन्तर्गत नहीं आता। वह कुवलयानन्द की छेकापह्नुति के समीप है।[४] हिन्दी में उसे मुकरी कहा जाता है। केशव की अपह्नुति दण्डी की अपह्नुति नहीं दरबारी अपह्नुति है। जयदेव और अप्पय मुकरी कहे जानेवाले भेद को छेकापह्नुति की शास्त्रीय व्यवस्था में रख ही चुके थे।

उक्ति

केशव का उक्ति अलंकार कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं, केवल उक्ति शब्द के आंशिक साम्य को लेकर उन्होंने पांच अलंकारों को एकत्र वर्णित कर दिया है, जिनमें विभिन्न प्रकार के बुद्धि-चातुर्य का प्रयोग सम्मिलित है—

बुद्धि विवेक अनेक बल उपजत तर्क अपार।
तासों कविकुल उक्ति कहि, बरनत अमित प्रकार॥[५]

ये पांच अलंकार हैं—वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति तथा सहोक्ति[६]।

वक्रोक्ति

केशव की वक्रोक्ति कुन्तल के अधिक समीप है। दण्डी ने वक्रोक्ति का लक्षण

---

१. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्।
—काव्यादर्श, २।३०४

२. कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ८१

३. उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता।
इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः॥
—काव्यादर्श, २।३०९

४. छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कातस्तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः, कांतः किं? नहि, नूपुरः॥
—कुवलयानन्द, ३०, तुलनीय
कविप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ८२, ८३

५. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १

६. वक्र अन्य व्यधिकरन कहि और विसेष समान,
सहित सहोकति मै कही उक्ति सुपंच प्रमान॥
—कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २

नहीं दिया, किन्तु काव्य के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो भेद किए हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि वे वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से भिन्न वचन, भंगिमा और कल्पना का क्षेत्र मानते थे। भामह की वक्रोक्ति अतिशयोक्ति का पर्याय है और समस्त अलंकारों का मूल तत्त्व है।[2] किन्तु परवर्ती आचार्यों में वक्रोक्ति इस रूप में न रहकर एक स्थूल अलंकार-मात्र है, जिसके श्लेष और काकु दो भेद किए हैं।[3] वामन की वक्रोक्ति सादृश्य के आधार पर की हुई लक्षणा है।[4] किन्तु आचार्य कुन्तल की वक्रोक्ति बड़े व्यापक अर्थ में गृहीत हुई है। उसे उन्होंने काव्य की आत्मा कहा है। और सभी प्रकार की व्यंजनाओं को उसमें अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। केशव ने इतना व्यापक दृष्टिकोण तो नहीं अपनाया किन्तु उनके लक्षण एवं उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी वक्रोक्ति में भंगिमा और बांकपन की मात्रा अधिक है, जिसे कि कुन्तल के शब्दों में वैदग्ध्यभंगी भणिति कहा जा सकता है।[5] वास्तव में कुन्तल की वक्रोक्ति में अभिव्यंजना की इस वक्रता की ही प्रधानता है। केशव का लक्षण है जहां सीधी बात में बंकिम भाव वर्णित किया जाए वहां वक्रोक्ति होती है। वक्रोक्ति के शाब्दिक अर्थ के अनुरूप ही यह लक्षण है।[6] और उनके उदाहरण से उसका पूर्ण सामंजस्य है।[7] किन्तु इस प्रकार की वक्रोक्ति को अलंकारों के बीच में एक निश्चित स्वरूप के साथ रखना सफल नहीं कहा जा सकता।

---

१. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

—काव्यादर्श, २।२६३

२. सेषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

—काव्यालंकार, २।८५

३. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥

—काव्यप्रकाश ६, सूत्र १०३

४. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः॥

—काव्यसूत्र ४।३।८

५. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरिष्यते॥

—कुंतल, प्रथम उन्मेष, दशम श्लोक

६. केशव सूधी बात में बरनिय टेढ़ो भाव।
वक्र उक्ति तासों कहैं जे प्रवीन कविराव॥

—कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ३

७. ज्यों-ज्यों हुलास सों केसवदास विलास निवास हिये अवरेख्यो।
त्यों-त्यों बढ़्यो उर कंप कछू भ्रम भीत भयो किधौं सीत बिसेख्यो।
मुद्रित होत सखी बरही मेरे नैन सरोजनि सॉच के लेख्यो।
तें जु कह्यो मुख मोहन को अरबिंद सो है सो तौ चन्द सो देख्यो॥

—कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ४

अन्योक्ति

संस्कृत-आचार्यों के अनुसार यह अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा का सारूप्य निबन्धना-मूलक भेद है।[1] किन्तु हिन्दी में इसे अलग प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। केशव का लक्षण इस प्रकार है—

औरहि प्रति जु बखानिजै कछू औरई बात।
अन्य उक्ति यह जानिजै बरनत कवि न अघात ॥[2]

केशव के उदाहरणों से उनके लक्षण का सामंजस्य तो है, परन्तु लक्षण की भाषा में अभीष्ट स्पष्टता नहीं है। वैसे लक्षण का भाव वही है जो अन्य आचार्यों का है।

व्यधिकरणोक्ति

केशव के अनुसार जहां अन्य वस्तु के गुण-दोष किसी अन्य वस्तु में प्रकट किए जाते है, वहां व्यधिकरणोक्ति होती है।[3] मम्मट-विश्वनाथ ने इसे कारण-कार्य के भिन्न-देशत्व होने से असंगति कहा है।[4] केशव का नामकरण मम्मटादि की अपेक्षा अधिक अन्वर्थ है। दण्डी ने इसका अलग उल्लेख नहीं किया। उनके दूरकार्यहेतु[5] को देखने से पता चलता है कि दण्डी ने इस अलंकार का हेतु में अन्तर्भाव किया है। किन्तु केशव ने दण्डी का आंख मींचकर अनुगमन नहीं किया।

विशेषोक्ति

केशव की विशेषोक्ति संस्कृत-आचार्य-परम्परा के अनुकूल है, किन्तु दण्डी से भिन्न है। समस्त कारण होते हुए भी जहां कार्यसिद्धि न हो, वहां विशेषोक्ति होती है।[6] मम्मटादि का भी यही भाव है।

सहोक्ति

सहोक्ति में केशव ने दण्डी को ही सामने रखा है किन्तु परवर्ती-परम्परा में भी

---

१. अप्रस्तुतात्सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा।
—अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १३२

२. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ५

३. औरहि में कीजे प्रगट औरहि को गुन दोष।
उक्ति यहै व्यधिकरन की सुनत होइ सन्तोष ॥ —कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ८

४. अ—भिन्न देशतयाऽत्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥ —काव्यप्रकाश, १०।१९१
आ—कार्यकारणयोर्भिन्न देशतायामसंगतिः ॥ —साहित्यदर्पण, १०।६९

५. त्वदपांगाह्वयं जैत्रं मदनास्त्रंयदंगने।
मुक्तंतदन्यतस्तेन सोऽस्म्यहं मनसि क्षतः ॥ —काव्यादर्श, २।१५५

६. विद्यमान कारन सकल कारज होहि न सिद्ध।
सोई उक्ति विशेषमय केशव परम प्रसिद्ध ॥ —कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १४

इस अलंकार का लगभग यही रूप रहा है।[1]

दण्डी का लक्षण है––

सहोक्ति सहभावस्य कथनं गुणकर्मणाम् ॥[2]

केशव का लक्षण है––

हानि वृद्धि सुभ असुभ कछु कहिए गूढ़ प्रकास।
होइ सहोक्ति सु साथ ही, बरनत केसवदास ॥[3]

केशव ने सहभाव की हानि-वृद्धि शुभ-अशुभ के रूप में व्याख्या की है।

व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा

जहां आपातत निन्दा करते हुए स्तुति में पर्यवसान हो, वहां व्याजस्तुति तथा जहां स्तुति द्वारा निन्दा में पर्यवसान हो, वहां व्याजनिन्दा अलंकार होता है।[4] संस्कृत-आचार्यों ने प्रायः 'व्याजस्तुति' एक ही शब्द से दोनों को गतार्थ किया है तथा इस शब्द की उभयात्मक संगति लगाई है।[5] दण्डी ने इसका स्वरूप संकुचित ही रखा था और केवल निन्दा-व्याज से स्तुतिवाला पक्ष ही ग्रहण किया था।[6] केशव ने दोनों पक्षों को स्पष्ट करने के लिए अलग-अलग नाम दे दिए है। कुवलयानन्द में इन दोनों परिस्थितियों को तो व्याजस्तुति के ही अन्तर्गत रखा गया है।[7] किन्तु जहां निन्दा से निन्दा व्यक्त हो वहां 'व्याजनिन्दा' कही गई है,[8] जो केशव की व्याजनिन्दा से भिन्न है। केशव का उदाहरण बड़ा ही कौशलपूर्ण है। उसमें दोनों अलंकारों का स्वरूप अलग-अलग एकत्र ही स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त दो उदाहरण व्याजनिन्दा के हैं, जिनमें से एक में दण्डी की भांति श्लेष का प्रयोग करके दिखाया है।[9]

---

१. अ––सहार्थस्यबलादेकं यत्र स्यात् वाचकं द्वयोः।
सा सहोक्तिर्मूल भूतातिशयोक्तिर्यदाभवेत् ॥ ––साहित्यदर्पण, १।५५
आ––सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरंजनः॥ ––कुवलयानन्दः, पृष्ठ ६६
२. काव्यादर्श, २।३५१
३. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २०
४. स्तुति निन्दा मिस होइ जहँ, स्तुति मिस निन्दा जान।
व्याजस्तुति निन्दा वहै केसवदास बखान॥
––कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २२
५. अ––व्याजेन स्तुतिः तथा व्याजरूपा स्तुतिः॥
––अलंकारसर्वस्वम्, पृ० ११२
आ––व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वारूढिरन्यथा॥
व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः॥ ––काव्यप्रकाश, पृ० ६७
६. यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुति रसौस्मृता॥ ––काव्यादर्श, २।२४२
७. उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः॥ ––कुवलयानन्द, पृ० ७०
८. निन्दायाः निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देतिगीयते॥ ––कुवलयानन्द, पृ० ७२
९. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २३, २४, २५

अमित

जहां साधक को मिलनेवाली सिद्धि का भोग साधनभूत व्यक्ति प्राप्त कर ले वहां केशव अमित अलंकार कहते हैं।[१] इसके दो उदाहरण केशव ने दिए हैं[२] जिनमें चमत्कार का संस्पर्श भी है और लक्षणानुकूलता भी। संस्कृत-आचार्यों में दण्डी, भामह, रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय किसीने इसका उल्लेख नहीं किया।

पर्यायोक्ति

जहां अपने अभीष्ट की सिद्धि बिना प्रयत्न के ही किसी अदृष्टवश हो जाती है वहां केशव पर्यायोक्ति मानते हैं।[3] इस लक्षण के अनुसार उनके उदाहरण की संगति भी है।[४] परन्तु मम्मट, विश्वनाथ आदि की पर्यायोक्ति से केशव की पर्यायोक्ति नितान्त भिन्न हो जाती है।

पर्यायोक्ति अलंकार के विषय में संस्कृत-आचार्यों में भी एकरूपता नहीं पाई जाती। चाहे लक्षणों की शब्दावली मिलती-जुलती हो किन्तु उनके दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर मिलता है। उदाहरणस्वरूप भामह, उद्भट और मम्मट के शब्दों में थोड़ा ही अन्तर है,[५] किन्तु भामह, उद्भट ध्वनि को अलग स्थान नहीं देते। अतः वे सभी व्यंग्यात्मक काव्य-सौन्दर्य को पर्यायोक्ति में समेट लेते हैं।[६] दूसरे वर्ग में रुय्यक-विश्वनाथ आचार्य आते हैं जो प्रस्तुत कार्य के वाचकत्व के द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंग्यता में पर्यायोक्ति मानते हैं।[७]

---

१. जहां साधने भोगवे साधक की सुभ सिद्धि।
अमित नाम तासों कहत जाकी अमित प्रसिद्धि॥ —कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २६

२. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २७, २८

३. कौनहु एक अदृष्ट तैं अनहीं किए जु होइ।
सिद्धि आपने इष्ट की पर्यायोकति सोइ॥ —कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २९

४. खेलति हो सतरंज अलोनि सों तहां हरि, आए आपुही तैं किधौं काहू के बुलाए री।
लागे मिलि खेलन मिलैकै मन हरैं हरैं, देन लागे दाउ आपु आपु मन भाए री॥
उठि-उठि गई ति मिस हो मिस जित तित, केसौराई की सौं दोऊ रहे छबि छाए री।
चौकि चौकि चहु दिसि तिहि छिन राधाजू के, जलज से लोचन जलद से ह्वै आए री॥
—कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ३०

५. अ—पर्यायोक्तंयदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥
—उद्भट, ४।१२

आ—पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः॥ —मम्मट, १०।१७५

६. They (Bhamah and Udbhat) included all suggestive poetry under Paryayokti.
—Kane, Sahitya Darpan, page 212, Dasamullas

७. गम्यस्यापि भंग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। —अलंकारसर्वस्व, पृ० १४१
यत्र तत्र प्रस्तुतत्वं कार्यस्य कारणवत्तस्यापि वर्णनीयत्वात्तत्रकार्यमुखेन कारणं पर्यायेणोक्तमिति पर्यायोक्तालंकारः॥ —अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १३५
पर्यायोक्तंयदा भंग्यागम्यमेवाभिधीयते॥ इह तु वर्णनीयं कार्यमपि कारणवत्प्रस्तुतम्॥
—साहित्यदर्पण, १०।६१

तीसरे वर्ग में मम्मट, जगन्नाथ आते हैं जो पर्यायोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक मानते हैं। मम्मट के अनुसार पर्यायोक्ति में चमत्कार कारण-कार्य-भाव के वाच्य व्यंग्यत्व में न होकर उस भंगी अथवा कथन के ढंग में है जिसके द्वारा वाच्यपथ छोड़ व्यंग्य बात कही जाती है।[1]

इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ध्वनि और इस स्थिति में केवल यही अन्तर है कि ध्वनि में व्यंग्य प्रधान होता है और सौन्दर्य व्यंग्यपरक होता है जबकि पर्यायोक्ति में भंगी या कथन-प्रकार में सौन्दर्य होता है तथा व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है। दण्डी का लक्षण भी व्यापक है। उनके अनुसार जहां किसी अभीष्ट अर्थ को साक्षात् अर्थात् वाच्यवाचक रूप से न कहकर प्रकारान्तर से कहा जाए वहां पर्यायोक्ति होता है।[2] केशव के लक्षण पर दंडी के लक्षण की पदावली की स्पष्ट छाप है तथा उनका उदाहरण भी दण्डी के ही समान है,[3] किन्तु उनके लक्षण का भाव दण्डी से नहीं मिलता। वास्तव में केशव ने अमित, पर्यायोक्त, समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध एवं विपरीत अलंकारों में कार्यसिद्धि को ध्यान में रखकर लक्षण-निर्माण किया है।

युक्त

जिसका जैसा बुद्धिबल एवं वैभव है, उसी वैभव के अनुरूप उसका वर्णन केशव के अनुसार 'युक्त' अलंकार कहलाता है।

जैसो जाको बुद्धिबल, कहिजै तैसे रूप।
तासों कविकुल कहत हैं, युक्त वरनि बहुरूप।[4]

इसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है,[5] वह लक्षणानुकूल है।

इस अलंकार का भामह, दण्डी, रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय किसीने उल्लेख नहीं किया। भव्य वस्तु का वर्णन भव्यता के साथ हो, यह औचित्य ही इस अलंकार का मूल है। अतः इसका नामकरण भी अन्वर्थ है। इसे संस्कृत-आचार्यों के उदात्त की कोटि का समझना चाहिए। यद्यपि उदात्त में भी कवि-प्रतिभा-जन्य ऐश्वर्य-वर्णन रहता है, किंतु इस 'युक्त' की अपेक्षा असंभाव्य मान्यता का तत्त्व अधिक रहता है। दूसरी ओर 'स्वभावोक्ति' में वस्तु के यथावत् वर्णन की प्रमुखता होने के कारण ऐश्वर्य-विभूति की कल्पना

---

१. According to him (Mammat)...the mode of expression is more striking than the suggested sink. —Kane, Notes on S. Darpan

२. अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥ —काव्यादर्श, २।२९५

३. दशत्यसौ परभृतः सहकारस्य मंजरीम्।
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम॥ —काव्यादर्श, २।२९९

४. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ३१

५. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द ३२

द्वारा उठाने की संभावना कम है।[1] अतः इसे उदात्त और स्वभावोक्ति के बीच का स्थान देना होगा। केशव ने स्वभावोक्ति का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

जाकौ जैसो रूप गुन, कहिजै तैसै साज।
तासौं जाति सुभाव कहि, बरनत हैं कविराज ॥[2]

ऊपर से देखने से स्वभावोक्ति और युक्त की पदावली लगभग एक-सी है। अतः अस्पष्टता एवं दोनों के सीमा-निर्धारण का प्रश्न खड़ा हो जाता है।[3] 'कहिजै तैसै साज' और 'कहिजै तैसै रूप' के अर्थों का गद्यवृत्ति द्वारा स्पष्टीकरण होना चाहिए था। प्रथम का तात्पर्य यथावत् वर्णन में है तो दूसरे वाक्यांश का उसके वैभव या प्रतिष्ठा के अनुरूप। किन्तु केशव के उदाहरणों पर दृष्टि डालने से उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

समाहित

जहां किसी प्रकार से न होता हुआ कार्य दैवयोग से संपन्न हो जाए उसे केशव समाहित कहते हैं।[4] भामह के समाहित के उदाहरण से भी इस अलंकार का यही स्वरूप उपलब्ध होता है।[5] दण्डी ने भी इसे समाहित ही कहा है।[6] किन्तु परवर्ती आचार्यों में इसका नाम समाधि मिलता है।[7] रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ आदि के लक्षणों का यही

---

१. स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम्। तद्वियरतित्वेनारोपितवस्त्वात्मनः उदात्तस्यावसरः। तत्रासम्भाव्यमान विभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कवि प्रतिभोत्थापितमैश्वर्यं लक्षणमुदात्तम् ॥
—अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १८३-४

२. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द ८

३. उन स्थलों पर केशव की अस्पष्टता अवश्य खटकती है, जहां केशव के दो भिन्न अलंकारों के लक्षण समान दिखाई देते हैं, जैसे केशव के स्वभावोक्ति और उक्त अलंकार में।
—डा० दीक्षित, केशवदास, पृष्ठ २५७

४. होइ न क्यों हू होतु जहं दैवजोग तें काज।
ताहि समाहित नाम यह बरनत कवि सिरताज ॥
—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १

५. समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिय योषिताम्।
राम प्रसत्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः ॥
—भामह ३।१०

६. किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥
—काव्यादर्श, २।२९८

७. कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः ॥
—अलंकारसर्वस्वम्, पृ० २०५

समाधिः सुकरंकार्य कारणान्तर योगतः।
—का० प्र०, १०।१९२ सू०

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥
—साहित्यदर्पण, १०।८९

भाव है। केवल उन्होंने दण्डी के दैवयोग के स्थान पर 'कारणान्तर' शब्द का प्रयोग किया है। उनकी व्याख्याओं में तात्पर्य आकस्मिकता से ही है। केशव ने भी दण्डी के समान ही दैवयोग शब्द लिया है, जिसमें 'कारणान्तरत्व' और 'आकस्मिकत्व' दोनों आ जाते हैं। दण्डी के उदाहरण को ही मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ ने अपनाया है।[१] केशव ने भी इसे लेकर अपना उदाहरण बनाया है।[२] परवर्ती आचार्यों में समाहित के नाम से रसवत् की कोटि का एक भिन्न अलंकार प्रचलित हुआ जोकि दण्डी और केशव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

सुसिद्ध, प्रसिद्ध एवं विपरीत

समाहित अथवा समाधि अलंकार ने केशव को इन तीन अलंकारों की सृष्टि की प्रेरणा दी है। समाहित में सिद्धि अपने मूल कारण से होने जा रही होती है और होने पर किसी अन्य कारण से दैवयोग से हो जाती है। इस अलंकार में मूल दृष्टि है कार्यसिद्धि पर। तब सिद्धि को ध्यान में रखकर अन्य अलंकार भी बन सकते हैं।

(१) कोई साधन जुटाए और सिद्धि मिले अन्य को। यह केशव का सुसिद्ध हुआ।[3]

(२) कोई एक तो जुटाए साधन, चाहे अच्छा चाहे बुरा, और उसका फल मिले अनेकों को। इसे केशव प्रसिद्ध कहते हैं।[४]

(३) कार्य-साधक का जहां स्वयंकृत साधनभूत पदार्थ या व्यक्ति ही बाधक बन जाए, जैसे नायक-नायिका के लिए दूती, यह विपरीत की स्थिति है।[५]

संस्कृत-आचार्यों ने इनका उल्लेख नहीं किया और इनका किसी न किसी अलंकार में अन्तर्भाव भी दिखाया जा सकता है। साथ ही चमत्कार की मात्रा, जोकि अब कवित्व

---

१. मानमस्याः निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्यैचतदुदीर्ण घनगर्जितम्॥

—दण्डी, २।२९९

देखिए रुय्यक, पृ० २०५, मम्मट, पृ० ७१६

—विश्वनाथ, पृ० १०।८६ की वृत्ति

२. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २

३. साधि साधि औरे मरें, औरे भोगे सिद्धि।
तासो कहत सुसिद्ध सब जिनके बुद्धि समृद्धि॥

—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ४

४. साधन साधे एक भव भोगैं सिद्धि अनेक।
तासों कहत प्रसिद्ध सब केसव सहित विवेक॥

—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव

५. कारज साधक को जहाँ साधन बाधक होइ।
तासों सब विपरीत कहि कहत सयाने लोइ॥

—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १

का प्राण है, अन्य अलंकारों के समान सबल नहीं, किन्तु वह स्पष्ट अवश्य है। इनके निर्माण में केशव का मौलिक प्रयास है, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं।

रूपक

दण्डी ने रूपक का लक्षण करते हुए लिखा है कि उपमा में ही जब भेद का तिरोधान हो जाता है तो रूपक बन जाता है।[1] उपमा में उपमान और उपमेय में भेद रहता है,[2] रूपक में इसका तिरोधान। केशव ने भी इसी आधार पर अपना लक्षण किया है। उपमा के ही ढंग से जब उपमान और उपमेय का मिला हुआ अर्थात् अभेदात्मक वर्णन हो तो रूपक होता है।[3] दण्डी ने भेद का तिरोधान कहा है, जबकि केशव स्पष्ट अभेद कहते हैं। जयदेव एवं अप्पय अभेद एवं ताद्रूप्य दोनों की स्थिति में रूपक मानते हैं।[4] किन्तु उनके अभेद की भी सीमा है, जिसमें अध्यवसान को उन्होंने नहीं लिया।

कुवलयानन्द की टीका में विद्यानाथ ने इसकी सीमा-निर्धारण के लिए 'उपात्त' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे अध्यवसायमूलक रूपकातिशयोक्ति का विषय अलग हो जाता है।[5] किन्तु केशव के विरुद्ध रूपक के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने अभेद में संसर्ग को ही नहीं अपितु अध्यवसान को भी लिया है। प्रतीत होता है कि केशव ने जान-बूझकर रूपकातिशयोक्ति को अतिशयोक्ति के अन्तर्गत न रखकर रूपक के साथ रखा है। और इसीके अनुरूप 'मिल्यो बरनियै रूप' कहकर अपने लक्षण को अभेद-मात्र तक व्यापक बनाया है। इस प्रकार उन्होंने दण्डी के लक्षण को लेकर अपने अनुरूप ढाल लिया है। केशव ने सामान्य लक्षण ही नहीं अपितु तीन में से दो उपभेदों के नाम भी दण्डी से लिए हैं। किन्तु यह समझना भूल होगी कि भेदों में उन्होंने दण्डी का अनुकरण-मात्र किया। भेदों के विषय में उनका दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। दण्डी ने समस्त, व्यस्त, सकल, अवयव, एकंग (युक्तायुक्त), विषय, सविशेषण, विरुद्ध, हेतु, रूप, श्लिष्ट, उपमा-रूपक, व्यतिरेक-रूपक, आक्षेप-रूपक, समाधान-रूपक, सम्यक्-रूपक, अपह्नुति-रूपक नाम से सत्रह भेद दिखाए हैं। वास्तव में दण्डी द्वारा यह कोई निश्चित भेदीकरण का प्रयत्न नहीं

---

१. उपमैवे तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ॥ —काव्यादर्श, २।६६

२. साधर्म्यमुपमाभेदे ॥ —काव्यप्रकाश, १०।१

३. उपमा ही के रूप सों मिल्यौ वरनियै रूप।
ताही सों सब कहत हैं केसव रूपक-रूप ॥

— कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १२

४. विषय्यभेदताद्रूप्यरंजनं विषयस्य यत्।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः ॥

—कुवलयानन्द, १७

५. उपात्तबिम्बाविशिष्टविषयधर्मिकाहार्यारोपनिश्चयविषयीभूतमुपमानाभेदताद्रूप्यान्तरद्रूपकम् इति तु निष्कर्षः।
अत्र कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् इत्यातिशयोक्तिवारणायउपात्तेति विषयविशेषणम् ॥ —कुवलयानन्द, पृ० १५

था, विभिन्न स्थितियों में रूपक का प्रदर्शन-मात्र था।[1] इनमें समस्त और व्यस्त भेद तो समास के आधार पर होने के कारण हिन्दी के काम के थे ही नहीं। दण्डी के अवयव और अवयवी रूपक परवर्तियों को मान्य नहीं हुए। अवयवी को छोड़कर अवयव का रूपक या अवयवों को छोड़कर अवयवी का रूपक इनका आधार था। अतः इनको रुय्यक के सावयव और निरवयव तथा विश्वनाथ के सांग और निरंग से भिन्न समझना चाहिए। अंगों के आरोप और अंगों के वैकल्पिक आरोप में होनेवाला विषय रूपक भी इसी कोटि का है। ऐसे ही एकांग और द्वयंग हैं। हेतु रूपक में हेतु बताना, समाधान में समाधान करना, श्लिष में श्लेष, उपमा-व्यतिरेक, आक्षेप, अपह्नुति रूपकों में इन अलंकारों का जैसा कर्म होना कोई रूपक का व्यवस्थित भेदीकरण नहीं करते।

रूपक के भेदों का जंजाल दण्डी में ही नहीं, परवर्ती आचार्यों में भी पलता रहा। भामह ने तो समस्तवस्तुविषय और रसकदेशविवातिक्ष तथा उद्भट ने समस्त, एकदेश, मालाओं से केवल चार ही भेद किए थे। मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ में आकर यह भेद-परम्परा फैल गई। 'सांग', 'निरंग' और 'परंपरित' तीन स्थूल भेद करके अनेक उपभेद किए गए।[2] अभेद, ताद्रूप्य के आधार पर दो भेद आधिक्य, न्यूनतम, और अनुमयत्व के आधार पर दिखाए हैं, अन्य भेदों को उन्होंने प्रपंच कहा है।[3]

अतः केशव ने इस सारे जंजाल को छोड़ दिया। उनके लिए दण्डी के पास दो ही आकर्षक नाम शेष रह गए : विरुद्ध रूपक और रूपक। अद्भुत रूपक और रूपक-रूपक केशव की अपनी सृष्टि है।

अद्भुत रूपक

आचार्य विश्वनाथ ने अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य नाम से एक रूपक-भेद का उल्लेख किया है, जहां आरोप के साथ उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ आधिक्य दिखाई दे।[4] वास्तव में इस विशेषता का क्षेत्र है व्यतिरेक। स्वयं विश्वनाथ के उदाहरण में व्यतिरेक कहा जा सकता है जैसाकि काणे महोदय ने दिखाया भी है।[5] किन्तु उपमान

---

१. न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमोयताम्॥

—काव्यादर्श, २।९६

२. नोट्स आन साहित्यदर्पण, काणे, पृष्ठ सं० ११८

३. रूपकस्य सावयवत्वनिरवयवत्वादिभेदप्रपंचनं तु चित्रमीमांसायाम्।

—कुवलयानन्दः, पृष्ठ १६

४. अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्। —साहित्यदर्पण, १०।३४

५. To us this verse appears to be not a disinct variety of Rupak but of Vyatirek, superiority of the Upmeya over the Upman is pointed out, the same is done here.

—Kane, Notes on Sahitya Darpan, Page 122

—Quoted by Kane, Page 130

या उपमेय में किसी गुण की न्यूनाधिकता पर अधिक ध्यान न देकर उनमें जो अभेद या आरोप का बोध होता है उसे तो नहीं भुलाया जा सकता। इसीलिए पंडितराज जगन्नाथ ऐसी स्थितियों में रूपक कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।[1] केशव ने इस भेद को स्वीकार किया है, किन्तु विश्वनाथ के लम्बे-चौड़े नाम अधिक रूढ़ में वैशिष्ट्य के साथ नहीं अपितु अद्भुत रूपक कहकर—

सदा एकरस बरनियै और न जाहि समान।
अद्भुत रूपक कहत हैं, तासों बुद्धि निधान॥[2]

किसी उपमान के साथ सदा एकरस रूप से वर्णित होते रहनेवाले उपमेय का अनन्य सामान्य रूप से वर्णन अद्भुत रूपक कहलाता है। जैसे मुख का कमल के साथ औपम्य वर्णन परम्परा-प्राप्त है। उसके ही साथ अभेद को आधार बनाकर उपमेय को अनन्य सामान्य दिखाना केशव के अनुसार रूपक रूपक है। अद्भुत रूपक के लिए केशव ने जो उदाहरण चुना है उसके पूर्वार्ध में दण्डी के श्लिष्ट रूपक से प्रेरणा ली गई है।[3] किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि केशव का भेद-विषयक दृष्टिकोण दण्डी से सर्वथा भिन्न है।[4] अतः दण्डी के श्लिष्ट एवं केशव के अद्भुत को एक नहीं समझना चाहिए।

विरुद्ध रूपक

केशव का विरुद्ध रूपक दण्डी के विरुद्ध रूपक से कुछ भिन्न है, किन्तु आधारभूत तत्त्व एक होने के कारण दण्डी के भेद का ही व्यापक रूप प्रतीत होता है। दण्डी ने इसका आधार विरोधी तत्त्व रखा है। उनके उदाहरण का भाव है, "तुम्हारा मुखचन्द्र न कमलों को मलिन करता है, न आकाश में स्थित है। वह तो मेरे प्राणों को हरण करने में ही समर्थ है।" दण्डी के अनुसार यहां आरोपित चन्द्र स्वोचित कार्यों को न करके विरुद्ध कार्यों को करता हुआ दिखाया गया है, अतः विरुद्ध रूपक है। केशव अपने रूपक के लिए विरोधी तत्त्व ही चुनते हैं। किन्तु दण्डी के समान विरोध की क्षीण रेखावाला नहीं, अपितु रूपक के क्षेत्र में पाए जानेवाले सर्वाधिक विरोधी तत्त्ववाला अध्यवसानमूलक रूपकातिशयोक्ति उदाहरण। दण्डी ने रूपकातिशयोक्ति का उल्लेख नहीं किया। परवर्तियों में वह पूर्ण प्रतिष्ठा पा चुकी है। केशव उसे मान्यता देते हैं, किन्तु अतिशयोक्ति नहीं रूपक के अन्तर्गत रखना पसन्द करते हैं। उनका आधार है विरोधी तत्त्व ही, किन्तु दण्डी के समान उपमान के गुण या क्रियाओं में विरोध नहीं अपितु आपाततः (ऊपर से) प्रतीत

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४३६
२. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १५
३. राजहंसोपभोगार्हं भ्रमरप्रार्थ्यसौरभम्।
सखि वक्त्राम्बुजमिदं तवेति श्लिष्टरूपकम्॥ —काव्यादर्श, २।८७
४. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १६

होनेवाले अर्थ में।[1] अध्यवसान के विरोध को ध्यान में रखकर वे इस प्रकार लक्षण करते हैं—

जहँ कहियै अनमिल कछु, सुमिल सकल विधि अर्थ।
सो विरुद्ध रूपक कहै, केशव बुद्धि समर्थ॥[2]

इस प्रकार जहां आपाततः अर्थ में अनमेल दिखाई पड़े किन्तु परिणामतः (अध्यवसित उपमेयों को निकाल लेने पर) अर्थ-संगति सुमिल हो वहां विरोधी तत्त्व में चमत्कार होने के कारण केशव का विरुद्ध रूपक होता है।

रूपक-रूपक

दण्डी के रूपक-रूपक के उदाहरण का भाव है, हे सुन्दरि! तुम्हारे मुखकमल-रूपी इस रंगस्थल में भ्रूलता-रूपी नर्तकी लीलानृत्य कर रही है।[3] मुख में कमल का आरोप, फिर उसमें रंगस्थल का; इसी प्रकार भ्रू में लता का, फिर भ्रूलता में नर्तकी का आरोप होने के कारण रूपक-रूपक है। दण्डी का ध्यान केवल इतनी बात पर है कि एक आरोप पर यह दूसरा आरोप हुआ है। परवर्तियों ने इस आरोप-परम्परा को ध्यान में रखकर[4] इसे परम्परित कहा है, किन्तु उनकी दृष्टि में एक रूपक का दूसरे रूपक के लिए उपायभूत बनना भी आवश्यक है। दण्डी के आरोप में मुख में कमल तथा भ्रू में लता के आरोपों को व्यर्थ कहकर निकाला भी जा सकता है तथा दोष भी कहा जा सकता, किन्तु नवीनों के परम्परित में यह शिथिलता नहीं रही। केशव का लक्षण इस प्रकार है—

रूप भाव जहँ बरनियै कौनिहु बुद्धि विवेक।
रूपक रूपक कहत कवि, केसवदास अनेक॥[5]

जिस रूपक में 'रूप भाव' का वर्णन हो, उसे रूपक-रूपक कहते हैं। यह रूप भाव का है, उपमेय पर उपमान का आरोप अथवा उपमान द्वारा उपमेय को अपने रूप

---

१. दण्डी का उदाहरण—
न मीलयति पद्मानि न नभोऽप्यवगाहते।
त्वन्मुखेन्दुर्ममासूनां हरणायेव कल्पते॥ —काव्यादर्श, २।८३
अक्रियाचन्द्र कार्याणामन्य कार्यस्य च क्रिया।
अत्र संदर्श्यते यस्मात् विरुद्धं नाम रूपकम्॥ —काव्यादर्श, २।८४

२. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १७

३. मुखपंकजरंगेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तको तव।
लीलानृत्तं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम्॥
—काव्यादर्श, २।९३

४. अ—परम्परा जाताऽस्येति परम्परितम्। —एकावली, पृ० २१५
आ—परम्परा एकस्य माहात्म्यादपरस्य रूपणत्वमायातं यत्र तथोक्तम्॥
—अलंकारसर्वस्वम्, जयरथ, पृ० ४५

५. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १९

का करना।[1] संस्कृत-आचार्यों में यह रूप शब्द पारिभाषिक जैसा बन गया था। अपने लक्षणों में कई आचार्यों ने इसका प्रयोग किया है।[2] केशव ने इसीके माध्यम से अपना सामान्य लक्षण भी बनाया है।[3] केशव के रूपक-रूपक का उदाहरण दण्डी के ही आधार पर बना है।[4] दण्डी की भांति ही इसमें भी आंखों में अखाड़े का आरोप किया गया है। जिसके उपपादक रूप पुतली-नर्तकी, स्नेह-नायक, हास, मृदंग आदि निमित्तभूत रूपक हैं। अश्लिष्ट निबन्धन की भी लगभग यही प्रक्रिया है। अतः केशव का उदाहरण दण्डी से अधिक संगत एवं सांग है।[5]

इस प्रकार रूपक में केशव ने दो नाम दण्डी से अपनाए हैं। एक में विरोधी तत्त्व का एवं व्यापक आधार चुना है, दूसरे में परवर्तियों की योग्यता का ध्यान रखा गया है। तीसरे भेद अद्भुत रूपक में विश्वनाथ के अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य को अपनाया गया है।

दीपक

केशव ने दीपक के लिए आधार तो दण्डी को ही बनाया है, किन्तु परवर्ती विवेचन को ध्यान में रखकर उसके स्वरूप में थोड़ा-बहुत हेर-फेर भी कर दिया है। दण्डी के अनुसार जाति, क्रिया, गुण अथवा द्रव्यवाची एक ही स्थान पर स्थित शब्द के द्वारा समस्त वाक्य का उपकार हो रहा हो वहां दीपक अलंकार होता है।[6] केशव के अनुसार क्रिया, गुण, द्रव्य

---

१. अ—विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकम्। —अलं० सर्व०, पृ० ३५
आ—यदा तु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्त करोति तदन्वर्थाभिधानं रूपकम्॥
—एकावलि, पृ० २१२
इ—The name Rupak is quite appropriate as into it the Vishayi imposes its form (Roop) on the vishaya.
—Kane, Notes on S. Darpan, page 114

२. रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। —साहित्यदर्पण, १०।२८

३. उपमा ही के रूप सों मिल्यो वरनिये रूप॥
—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १२

४. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २०

५. त्रैलोक्य मण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः।
अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारापो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम्।
—साहित्यदर्पण, १०।२९ की वृत्ति

६. जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तदाहुर्दीपकं यथा॥ —काव्यादर्श, २।९७
डॉ० दीक्षित दण्डी के इस लक्षण का इस प्रकार अर्थ करते हैं—दण्डी के अनुसार दीपक अलंकार वहां होता है जहां जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य तथा वाच्य का एकसाथ वर्णन समस्त वाक्य का उत्कर्ष-साधन करता है। —केशवदास, पृ० २५३
दण्डी के लक्षण में न एकसाथ होने की शर्त है न वाच्य, शब्द, जाति, गुण आदि के समान कोई अलग वस्तु। पर केशव के आचार्यत्व के लिए संस्कृत-ज्ञान अपेक्षित नहीं, अतः यह

के पथ में किसी एक स्थान पर वाक्यरूप में वर्णित होने से दीपक की दीप्ति होती है। यहां द्रष्टव्य यह है कि केशव ने दण्डी के जाति शब्द को छोड़ दिया है। दण्डी के अनुसार पवन, कलापी, पुष्पधन्वा जातिवाचक शब्द हैं तथा विष्णु द्रव्यवाची। वैयाकरणिक आधार का यह सूक्ष्म एवं पारिभाषिक भेद हिन्दी में वैसा ही नहीं रह गया। अतः केशव ने उस शब्द को छोड़ दिया है। उन्होंने द्रव्य शब्द से दोनों का काम चलाया है। अतः केशव का शब्द दण्डी की अपेक्षा अधिक व्यापक है। दण्डी के एकत्रवर्ती के स्थान पर केशव ने 'इकठौर' शब्द का प्रयोग किया है जो समानार्थक होने पर भी इकट्ठे वर्णित होने का भ्रम करा सकता था। दूसरे दण्डी ने 'सर्ववाक्योपकार' का स्पष्ट उल्लेख किया है। केशव के लक्षण में यह अभाव रह गया है। वास्तव में दीपक अलंकार का दीपक शब्द ही उसके स्वरूप का बोधक बन चुका था। जिस प्रकार गृह में एकत्र रखा हुआ दीपक सर्ववस्तु-प्रकाशक होता है,[1] इसी प्रकार वाक्य में एकत्र प्रयुक्त दीपक शब्द सर्ववाक्यगत समस्त कारक या क्रियाओं का प्रकाशक होता है। इस समस्त अर्थ की स्पष्टता का भार 'दीपक दीपति' शब्दों के ऊपर ही रहता है जोकि गद्यवृत्ति के द्वारा स्पष्ट होना चाहिए था, फिर भी उदाहरणों से स्पष्ट है कि केशव तथा दण्डी का अभिप्राय एक ही है।

दीपक के भेद

दण्डी ने जाति, क्रिया, गुण और द्रव्यगत दीपक दिखाकर इनके वाचक पदों की पद्य के आदि, मध्य और अन्त में स्थिति के आधार पर भेद दिखाए है।[2] भामह और

साम्य कहा जा सकता है।

वाच्य, क्रिया, गुन, द्रव्य बहु, बरनहि करि इक ठौर।
दीपक दीपति कहत हैं, केसव कवि सिरमौर॥

—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २१

१. (अ) प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेकत्र निर्दिष्टः समानो धर्मः प्रसंगेनान्यत्रोपकाराद्दीपनाद्दीपसादृश्येनदीपकाख्यालङ्कारोत्पादकः॥

—अलंकारसर्वस्व, पृ० ६१

(आ) प्रकृताप्रकृतान्यतर सान्निध्यमधितिष्ठन्नपि साधारणो धर्मः, प्रसंगेनान्यदपि दीपयतीति दीपकम्॥

—एकावली, पृ० २४२

(इ) प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसंगादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम्। यद्वा दीप इव दीपकम्। संज्ञायां कन्। दीपसादृश्यं च प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम्।

—रसगंगाधर, पृ० ३२२

२. (अ) आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।

—भामह, २।५१

(आ) आदि मध्यान्त विषया प्राध्यन्तेतर योगिनः।
अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥ —उद्भट, १।३०

उद्भट ने इसी आधार को स्वीकार किया है किन्तु वास्तव में यह आधार अधिक तर्क-सम्मत नहीं। अलंकारभूत चमत्कार तो उन दीपक शब्दों में है न कि उनकी आदि, मध्य एवं अन्त की स्थिति पर। यों तो आदि, उपमध्य या उपान्त्य आदि न जाने कितने भेद बन सकते हैं[1]। अतः केशव उन्हें छोड़ देते हैं। उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त दण्डी ने चार भेद माला, विरुद्ध, एकार्थ तथा श्लिष्ट नाम से और दिखाए हैं। इनमें विरुद्धार्थ और श्लेषार्थ दीपकों में तो विरुद्ध और श्लेष का चमत्कार साथ है, अतः केवल इन अंगभूत चमत्कारों के आधार पर अलग-अलग भेद बनाना ठीक नहीं। परवर्ती आचार्यों द्वारा संकर और संश्लिष्ट की व्यवस्था ऐसे अलंकारों के लिए कर दी गई थी। केशव ने उन्हें भी छोड़ा।

दण्डी का एकार्थ दीपक परवर्तियों का क्रिया दीपक है, किन्तु दण्डी के इस भेद में अनेक क्रियाएं न होकर एक ही क्रिया अनेक समानार्थक शब्दों द्वारा प्रतिवस्तूपमा के ढंग से दिखाई गई है।[2] यह प्रतिवस्तूपमा के साथ उलझा हुआ रूप भी परवर्तियों में न चला। केशव ने उसे भी नहीं अपनाया, किन्तु इस वर्ग के अनेक लोगों में एकत्रस्थ पद का अनेकत्र स्थित शब्दों से क्रियाओं के साथ एक कारकवाला रूप कारक दीपक नाम से अवश्य प्रचलित हुआ।[3] इस भेद के विषय में भी दो प्रकार की विप्रतिपत्तियां उठने लगी थीं।[4] एक तो यह कि इसका लक्षण अलग करने की आवश्यकता नहीं, यह तो सामान्य

---

१. वस्तुतस्तु धर्मस्यादिमध्यान्तगतत्वेऽपि चमत्कारवैलक्षण्याभावात्रैविध्योक्तिरापातमात्रात्। अन्यथा धर्मस्योपाद्युपमध्योपान्त्यत्वे ततोऽपि किंचिन्न्यूनाधिकदेशवृद्धित्वे चानन्तभेदप्रसंगात्।
—रसगंगाधर, पृ० ३२७

२. हरत्याभोगमाशानां गृह्णाति ज्योतिषां गणम्।
आदत्ते चाद्य मे प्राणानसो जलधरावली॥ —काव्यादर्श, २।१११
अनेकशब्दोपादानात् क्रियैकेवात्र दीप्यते।
यतो जलधरावल्यास्तस्मादेकार्थदीपकम्॥
—काव्यादर्श, २।११२

३. अ—सकृदवृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सेव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥ —काव्यप्रकाश, १० उल्लास, सूत्र १५६
आ—अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।
अथकारकमेकैस्यादनेकासुक्रियासुचेत्॥ —साहित्यदर्पण, १०।४८
इ—अत्र च यथानेककारकगतत्वेनैकक्रिया दीपकं तथानेक क्रियागतत्वेनैक कारकमपि दीपकम्॥ —रुय्यक, पृ० ९३
ई—क्रमिकैव गतानां तु गम्यः कारकदीपकम्।
गच्छत्यागच्छतिपुनः पान्थः पश्यति पृच्छति॥ —कुवलयानन्द, ११७

४. इतिद्वितीयं दीपकमुदाहृतं काव्यप्रकाशकृद्भिः तत्र विचार्यते प्रथमार्धगतलक्षणेनैव दीपकद्वयस्यापि संग्रहाद्वितीयं लक्षणं व्यर्थम्। गुणिनां कारकाणां च गुणक्रियारूपधर्मस्यैव क्रियाणामपि कारकरूपधर्मस्य सकृद्वृत्तेः साम्राज्यात्॥
—रसगंगाधर पृ० ३२४

लक्षण से ही ज्ञात है। एकत्रवर्ती पद चाहे कारकपद हों या क्रियापद दीपक कार्य कर रहा है। इस विप्रतिपत्ति के उठानेवालों ने चाहे कारक दीपक का अलग नाम से भेद नहीं किया, किन्तु उसे मान्यता अवश्य दी है। केशव इसी मत के हैं। उन्होंने इसका न तो अलग लक्षण किया है न अलग नामभेद, किन्तु उनके उदाहरणों से स्पष्ट है कि वे इस भेद को स्वीकार करते हैं। दूसरी विप्रतिपत्ति के अनुसार कारक दीपकवाले भेद को दीपक ही नहीं कहा जा सकता। दीपक में कुछ आचार्यों के अनुसार सादृश्यजन्य अवश्य होना चाहिए।[1] जहां यह शर्त पूरी न हो वहां दीपक ही नहीं। किन्तु इस वर्ग के लोग एकत्रस्थ पद का अनेकत्र स्थित शब्दों से संबंध होने के कारण इन्हें दीपक कहते रहे हैं। अब केशव के सामने दण्डी का एक भेद मालादीपक शेष रहता है। केशव ने इसे स्वीकार कर लिया है। कुछ आचार्य तो मालादीपक को दीपक से भिन्न एक अलग अलंकार मानते हैं और कुछ दीपक का एक भेद। दीपक भेद माननेवाले उसका विवेचन दीपक प्रसंग में ही करते हैं, जैसे मम्मट। दीपक से भिन्न माननेवाले दीपक के साथ नहीं कारणमाला और एकावली के प्रसंग में इसका विवेचन करते हैं, जैसे रुय्यक, विश्वनाथ। प्रथम आचार्यों की दृष्टि दीपक तत्त्व पर है, दूसरों की औपम्य पर।[2] द्वितीय वर्गीय आचार्यों की दृष्टि में मालादीपक कारणमाला और एकावली की कोटि का अलंकार है। पंडितराज जगन्नाथ तो स्पष्ट ही इसे एकावली का एक भेद घोषित कर देते हैं।[3] वे मालादीपक का उदाहरण देते हैं किन्तु प्राचीनों के प्रति आस्था प्रकट करने-मात्र के लिए। केशव ने इन दोनों दृष्टिकोणों को मिलाने का प्रयत्न किया है। एक ओर तो उन्होंने दण्डी-मम्मटीय परम्परा का अनुगमन करते हुए मालादीपक को दीपक का ही भेद मानते

---

१. प्राग्वदेवात्राप्यौपम्यस्यगम्यत्वम्। —रसगंगाधर, पृ० ३२२

सम राइटर्स लाइक उद्भट, जगन्नाथ इत्यादि से दैट इन दीपक आलसो देअर मस्ट बी गम्य औपम्य। —काणे, पृ० १६२-१०

किं च दीपकतुल्ययोगित्वादौ गम्यमानमौपम्यं जीवातुरिति सर्वेषां संमतम्। न चात्र स्वेदनकूणनादीनामेककारकान्वितानामप्यौपम्यं कविसंरम्भगोचरः। तस्मात्समुच्चयालंकारच्छायात्रौत्तिता। —रसगंगाधर, पृ० ३२५

२. अ—मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लंघनेनेह लक्षणं कृतम्। —अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १७६

आ—अत्र ह्यौपम्यमेव नास्ति। कोदण्डशरादीनां तस्याविवक्षणात्। अत एवास्य दीपकभेदत्वं न वाच्यम्। औपम्यजीवितं हि तत्। प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात्तदनन्तरं लक्षितम्। —अलंकारसर्वस्व, पृ० १७८

३. अ—एतच्च प्राचीनानुरोधादस्माभिरिहोदाहृतम्। वस्तुतस्त्वेतद्दीपकमेव न शक्यं वक्तुम्। सादृश्यसंपर्काभावात। किं त्वेकावलीप्रभेद इति वक्ष्यते॥ —रसगंगाधर, पृ०३२८

आ—अस्मिंश्चैकावल्या द्वितीये भेदे पूर्वपूर्वैः परस्य परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूपः स्यात्तदायमेव मालादीपकशब्देन व्यवह्रियते प्राचीनैः॥ —रसगंगाधर, पृ० ४६४

हुए उसीके प्रसंग में उसको रखा है। दूसरी ओर नवीनों के तर्कों से प्रभावित होकर माला-दीपक के जो उदाहरण दिए हैं उनमें से एक एकावली से नितान्त मिलता-जुलता रखा है; अपितु उसे एकावली का ही उदाहरण कहा जा सकता है। यह समझौता कहां तक तर्क-सम्मत है यह दूसरी बात है।

मालादीपक के विषय में एक चर्चा और चली थी। माला शब्द का अर्थ होता है अनेक पुष्पों या मणियों का एकत्र गुम्फन, जैसाकि मालोपमा में होता है। परन्तु जिसे आचार्य मालादीपक कहते चले आए हैं उसमें एक-दूसरे की पूर्वापर कड़ी मिलती चली जाती है।[1] यह मालात्व नहीं शृंखलात्व है, जैसाकि एकावली में होता है। अतएव आचार्यों ने मालादीपक के लिए माला शब्द के अर्थ को शिथिल करके शृंखला के अर्थ में ही प्रयुक्त मान लिया है।[2] केशव के सामने यह सब विवेचन था। अतः उन्होंने माला-दीपक के दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं; जिनमें एक एकावली की शृंखला-शैली का है,[3] दूसरा आलोचना की माला-शैली का।[4] एकावली-शैली के उदाहरण में दीपकत्व की मात्रा का अभाव और एकावलीत्व की प्रधानता हो गई है। केशव यह स्वीकार करते हैं कि दीपक के अनेक भेद होते हैं तथा किए जा सकते हैं। परन्तु वे सामान्यतः दो भेद ही उदाहृत करना पसन्द करते है—मणिदीपक और मालादीपक।[5] मणिदीपक केशव का अपना है और माला के वज़न पर निर्मित हुआ है। अनेक मणियों की गुम्फित अवली यदि माला कही जाती है तो एकाकी रत्न को 'मणि' कहना संगत ही था।

---

१. अ—पूर्वस्यपूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ॥ —रसगंगाधर, पृ० १७८
आ—मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ॥
—काव्यप्रकाश, ६४१ पृ०, सूत्र १०।१५७
इ—उत्तरोत्तरस्मित्पूर्वं पूर्वस्योपकारिकतायां मालादीपकम् ॥
—रसगंगाधर, पृ० ३२८

२. मालाशब्देनात्र शृंखला लक्ष्यते। तस्या एवोपक्रान्तत्वात्।
न चात्र मालोपमावन्मालाशब्दो ज्ञेयः ॥
—अलंकारसर्वस्व, विमर्शिनी टीका, पृ० १७८

३. दीपक देह दसा सों मिलै सु दसा मिलि तेजहि जोति जगावै।
जागि कै जोति सबै समुझै तम सोधि सु तौ सुभता दरसावै ॥
सो सुभता रचै रूप को रूपक रूप सु कामकला उपजावै।
काम सु केसव प्रेम बढ़ावत प्रेम लै प्रानप्रियाहि मिलावै ॥
—कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २८

४. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २६

५. अ—मनिमाला तिनसों कहैं केसव कवि कविभूप ॥ —कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २२
आ—इनमें एक जु बरनिये कौनहु बुद्धिबिलास।
तासों मनिदीपक सदा, बरनत केसवदास ॥ —कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २४
इ—सबै मिलै जहं बरनिये देस काल बुधिवंत।
माला दीपक कहत हैं, ताके भेद अनंत ॥ —कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २७

केशव ने अपने उदाहरणों के लिए कुछ सामग्री दण्डी से ली है,[१] जैसे मणिदीपक के लिए, दण्डी के जातिदीपक से। परन्तु विशुद्ध सामग्री-मात्र ही ली है। इसका यह अर्थ नहीं कि दण्डी का जाति और केशव का मणि एक ही है।[२] केशव के भेद-प्रभेद समस्त आचार्य-परम्परा के अध्ययन पर आधारित हैं, दण्डी-मात्र पर नहीं।

प्रहेलिका

जहां किसी प्रकार छिपाकर किसी बात का वर्णन किया जाता है, वहां प्रहेलिका अलंकार होता है—

बरनिय वस्तु दुराइ जहँ, कौनहुँ एक प्रकार।
तासों कहत प्रहेलिका, कविकुल बुद्धि उदार॥[3]

दण्डी, रुद्रट आदि प्राचीन आचार्यों ने इसको मान्यता दी है। कादम्बरी और विष्णु धर्मोत्तर पुराण में भी इसका उल्लेख पाया जाता है।[४] किन्तु रसवाद की सुप्रतिष्ठा हो जाने पर परवर्ती आचार्यों ने इसका तिरस्कार किया है। वास्तव में यह साहित्य-क्षेत्र का अलंकार न होकर गोष्ठियों का अलंकार है, जहां जादुई चमत्कार की आवश्यकता होती है। जिन प्राचीन आचार्यों ने इसे मान्यता दी है वे भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। दण्डी स्पष्ट कहते हैं कि क्रीड़ा-गोष्ठी-विनोदों में, दूसरों को चक्कर में डालने या कोई बात गुह्य रखने में प्रहेलिका का उपयोग होता है।[५] दण्डी ने इसके अनेक भेदों का उल्लेख किया है।[६] किन्तु विश्वनाथ[७] स्पष्टतः इसका अनलंकारत्व प्रतिपादित करते हैं। केशव दरबारी कवि होने से इसे स्वीकार तो करते है किन्तु इसके भेद-प्रभेदों में नहीं जाते।

---

१. पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम्।
स एव च नतांगीनां मानभंगाय कल्पते॥ —काव्यादर्श, २।९८ : तुलनीय कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द २६

२. केशव के मणि और माला भेद क्रमशः दण्डी के जाति और माला से मिलते हैं। —प्रो० अरुण, केशव एक अध्ययन, पृ० ५२

३. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ३०

४. स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिका व्याहृतार्था च। —रुद्रट, ५।२५
Even the Kadambari mentions Prahelika and they are mentioned also by the Vishnu Dharmotar Puran (III Khand, Chapter 16). We find a full exposition and illustration of Prahelika in the Kavyadarsh and the Saraswati Kanthabharan.
—Kane, Notes on S. Darpan, Page 23

५. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥ —काव्यादर्श, ३।९७

६. एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश॥ —काव्यादर्श, ३।१०६

७. रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥ —साहित्यदर्पण, १०।१६

परिवृत्त

दण्डी के अनुसार 'अर्थों के विनिमय'[१] को परिवृत्त कहते हैं। विनिमय का अर्थ है किसी व्यक्ति को कुछ बदले में प्राप्त करके कुछ देना। दण्डी के उदाहरण का भाव है—'हे राजन्! अन्य राजाओं के लिए प्रहारदायी तुम्हारे बाहु ने उनके चिरार्जित कुमुद-श्वेत यश का हरण कर लिया है।'[२] किन्तु भामह की परिवृत्ति के स्वरूप में इससे कुछ अन्तर है। भामह ने अपने लक्षण में विनिमय जैसी चीज़ का नाम नहीं लिया। एक वस्तु को छोड़कर दूसरी वस्तु का ग्रहण-मात्र ही उनकी दृष्टि में परिवृत्ति है।[३] साथ ही वे उसमें अर्थान्तरन्यास का पुट भी चाहते हैं। भामह के लक्षण का भेद उनके उदाहरण से स्पष्ट नहीं होता। कारण यह है कि उनका और दण्डी का उदाहरण एक-सा ही है।

यहां विनिमय और सामान्यतः आदान-परित्याग का अन्तर समझ लेना चाहिए। विनिमय में किसी अन्य व्यक्ति की भी आवश्यकता है, जबकि आदान-परित्याग-मात्र के लिए कोई अन्य अपेक्षित नहीं। इसी अन्तर को लेकर परवर्ती आचार्यों में मतभेद चल पड़ा। यहां सुविधा के लिए हम उन्हें विनिमयवादी और ग्रहण-त्यागवादी कह सकते हैं। प्रथम वर्ग में दण्डी, मम्मट, जगन्नाथ[४] और दूसरे में मुख्यतः रुय्यक और वामन को रखा जा सकता है।[५] यद्यपि रुय्यक भी विनिमय शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु उनके विनिमय का अर्थ ग्रहण-त्याग-मात्र है।[६] विश्वनाथ भी विनिमय शब्द का प्रयोग करते

---

१. अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा यथा ॥ —काव्यादर्श, २।३५१

२. शस्त्र प्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम्।
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम्। —का० प्र०, २।३५६

३. विशिष्टस्य यदादानं मन्यौपोहेन वस्तुनः।
अर्थान्तरन्यासवतौ परिवृत्तिरसौ यथा।
प्रदायवित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादितः।
सतां विश्वजनीनामिदमस्खलितं व्रतम् ॥ —काव्यालंकार, ४१-४२, तृतीय परि०

४. अ—परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः। —काव्यप्रकाश, १०।१७२
विनिमयो हि केनचिद्वस्तुना दत्तेन परकीयस्य कस्यचिदादानम्। विनिमयपदस्य तत्रैव शक्तेः ॥ —प्रदीप काव्य, पृ० ६७५ की टीका
आ—परकीययत्किंचिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किंचिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तः ॥
—रसगंगाधर, पृ० ४८१

५. अत्र परस्मै स्वकीययत्किंचिद्वस्तुसमर्पणमित्येतावत्पर्यन्तं लक्षणे विवक्षितम्, न तु स्वकीययत्किंचिद्वस्तुत्यागमात्रम्। 'किशोरभावं परिहाय रामा बभार कामानुगुणां प्रणालीम्' इत्यत्रातिव्याप्त्यापतेः। न चेदं लक्ष्यमेवेति वाच्यम्। पूर्वावस्थात्यागपूर्वकमुत्तरावस्थाग्रहणस्य वास्तवत्वेनानलंकारत्वात्। एवं स्थितेर्विनिमयोऽत्र किंचित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम् इत्यलंकारसर्वस्वकृता सल्लक्षणं परिवृत्तेः कृतम्, यच्च 'किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्' इत्युदाहृतम्, तदुभयमप्यसदेव ॥ —रसगंगाधर, पृ० ४८२

६. अ—समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ॥
विनिमयोऽत्र किंचित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम् ॥ —अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १६१

और सामान्यतः ग्रहण-त्याग का उदाहरण भी देते हैं। किन्तु उनकी स्थिति मध्य की है।[1] परवर्ती आचार्यों ने इसके तीन भेद किए हैं—

१. समवस्तु-प्रदान से सम का आदान।

२. अधिक के त्याग से न्यून की प्राप्ति।

३. न्यून के त्याग से अधिक की उपलब्धि।

कुछ लोगों ने सम और विषम के आधार पर दो ही भेद किए हैं। केशव का 'परिवृत्त' अपनी नूतनता लिए हुए है। एक ओर तो वे इसका नूतन स्वरूप-विधान करते हैं। दूसरी ओर संस्कृत-आचार्यों के इस समस्त परम्परा-प्राप्त स्वरूप को उतारते हैं। केशव का यह तर्क प्रतीत होता है कि 'परिवृत्ति' शब्द का अर्थ है 'परिवर्तन', जैसाकि वामन ने किया भी है। तब सीधे इस अलंकार का स्वरूप होना चाहिए। जहां एक कार्य करने पर दूसरा कार्य हो पड़े वहां परिवृत्त अलंकार होता है—

और कछू कीजै जहां उपजि परै कछु और।
तासों परिवृत कहत हैं, केसव कवि सिरमौर॥[2]

लक्षण से समन्वय रखता हुआ ही इनका उदाहरण है। वास्तव में केशव के इस परिवृत्त का स्वरूप हिन्दी-साहित्यशास्त्र का अपना होता, परन्तु जैसाकि कहा जा चुका है हिन्दी-रीतिशास्त्र संस्कृत-काव्यशास्त्र का अन्धानुकरण करके चला। अतः केशव की इस मौलिकता को मान्यता नहीं मिली। स्वकीय मान्यता के अनुसार लक्षण एवं उदाहरण देकर केशव संस्कृत-आचार्यों में प्रचलित 'परिवृत्ति' के स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराते हैं। इसके लिए उनके पास गद्य नहीं उदाहरण का ही साधन है—

हाथ गह्यौ ब्रजनाथ सुभाव ही छूटि गई धर धीरजताई।
पान भखै मुख नैन रची रुचि आरसी देखि कहौ यह ठाई।
दै परिरंभन मोहन को मन मोहि लियो सजनी सुखदाई।
लाल गुपाल कपोल नखक्षत तेरे दिये तें महाछबि पाई॥[3]

यथा—किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभिवल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते॥—अलं० सर्वस्व, पृ० १९२

आ—सम विरुद्धाभ्यां परिवर्त्तनं परिवृत्तिः।
—काव्यालंकार सूत्र, चतुर्थ अधिकरण, अ० ३, श्लो० १६

भूपाल कहते हैं—'अर्थस्य यत्परिवर्तन विनिमयः उदाहरणः, विहायसाहार महार्यं निश्चयः,
विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दनः बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेध विशीर्ण संहतिः॥'
—काव्यालंकार सूत्र, चतुर्थ अधि०. अध्याय ३।१६

१. परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकं भवेत्, तस्य च प्रवयसो जटायुपः स्वर्गिणः किमिवशोच्यतेऽधुना। येन जर्जरकलेवर व्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः॥
—साहित्यदर्पण, १०।८१

२. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ३९

३. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ४१

उदाहरण में कृष्ण हाथ ग्रहण करते हैं और अपना धैर्य त्याग देते हैं। अतः रुय्यक-परम्परा की न्यून के आदान पर उत्तम के त्याग वाली परिवृत्ति है। दूसरी पंक्ति में असंगति अलंकार गर्भित है, जिसका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं। तीसरी पंक्ति में 'दै परिरंभन मोहन को मन मोहि लियो सजनी सुखदाई' मम्मटीय परम्परा की सम-प्रदान से सम के विनिमय वाली परिवृत्ति है। चतुर्थ पंक्ति, 'लाल गुपाल कपोल नखक्षत तेरे दिये ते महाछबि पाई', में कृष्ण नायिका के कपोलों पर नखक्षत देते हैं और वे पाते हैं साक्षात् महाछबि (नायिका) अथवा मूर्त अद्भुत छवि। यह भी मम्मटीय परम्परा की न्यून-दान द्वारा उत्तम से विनिमय वाली परिवृत्ति है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

जीउ दयौ जिन जन्म दयो जग, जाही की जोति बड़ी जग जाने।
ताही सों बैर मनौ बच काइ करै कृत 'केसव' को उर आने।
मूषक तें रिषि सिंघ कर्‌यो रिषि ही कह मूरख रोष बिताने।
ऐसो कछू यह काल है जाको भलो करिये सो बुरो करि माने।[1]

प्रथम उदाहरण में न्यून और सम के द्वारा अधिक का आदान था, इसमें अधिक के द्वारा न्यून पदार्थ का। इस उदाहरण की परिवृत्ति विनिमयात्मक है। केशव ने इन दो उदाहरणों द्वारा बड़ी कुशलता से समस्त आचार्य-परम्परा में प्रचलित दृष्टिकोणों का परिचय करा दिया है और लक्षण-विधान अपने मौलिक ढंग से अलग किया है। वास्तव में अकेला परिवृत्त अलंकार ही समस्त संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सूक्ष्म अध्ययन और साथ ही अपने मौलिक दृष्टिकोण को रखने की कुशलता का परिचायक है, किन्तु गद्यवृत्ति के अभाव के कारण केशव के इस महत्त्व को लोग समझ नहीं सके।

उपमा

दण्डी के अनुसार ही केशव ने उपमा का अनेक भेदोंसहित वर्णन किया है, फिर भी दण्डी के कुछ अनावश्यक भेदों को छोड़ दिया है। दण्डी ने कोई बत्तीस प्रकार की उपमा बतलाई है, किन्तु केशव ने कुल बाईस प्रकार की। इनमें धर्मोपमा, नियमोपमा, अतिशयोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा तथा हेतूपमा के नाम ज्यों के त्यों हैं। दण्डी की निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, परस्परोपमा क्रमशः केशव की दूषणोपमा, भूषणोपमा, अन्योन्योपमा है। दण्डी के प्रतिषेधोपमा और चाटूपमा के उदाहरणों की छाया केशव के गुणाधिकोपमा और लाक्षणिकोपमा के उदाहरण पर है। दण्डी ने लक्षण तो किसीके दिए नहीं हैं, परन्तु केशव ने लक्षण भी दिए हैं। उन्होंने दण्डी के उदाहरणों को ध्यान में रखकर उनके किसी एक चमत्कारी पक्ष को लेकर विधान तथा नामकरण कर दिया है। उदाहरणस्वरूप दण्डी की यह प्रतिषेधोपमा ली जा सकती है—

न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम्।
कलंकिनो जडस्येति प्रतिषेधोपमेव सा॥[2]

---

१. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ४१
२. काव्यादर्श, २।३४

कलंकी और जड़ चन्द्रमा की शक्ति तेरे मुख के साथ समानता करने की नहीं है। अतः (यहां शक्ति-साम्य के प्रतिषेध के कारण) प्रतिषेधोपमा है। अब केशव का गुणाधिकोपमा का उदाहरण लीजिए—

वे तुरंग सेत रंग संग एक ये अनेक,
हैं सुरंग अंग अंग पै कुरंगमीत से।
ये निसंक अंक यज्ञ वे सशंक केशोदास,
ये कलंक रंक वे कलंक ही कलीत से।
वे पियें सुधाहि, ये सुधानिधीस के रसे जु।
साँचहू सुनीत ये, पुनीति वे पुनीत से।
देहिं ये दिये बिना बिना दिये न देहिं वे।
भए न, है न, होंहिगे न, इन्द्र इन्द्रजीत से ॥[1]

इन्द्र इन्द्रजीत-से कदापि नहीं हो सकते, यहां केशव ने भी उपमान की साम्य-शक्ति का तिरस्कार किया है। दण्डी ने उपमान में हीनता, चन्द्र में कलंकत्व और जड़त्व दिखाकर यह कार्य किया था। केशव ने उपमान में हीनता की अपेक्षा उपमेय में गुणों की अधिकता दिखाकर यह कार्य किया। वास्तव में ये दोनों बातें व्यतिरेक का क्षेत्र थीं। किन्तु दोनों आचार्यो ने साध्यभूत चमत्कार की अपेक्षा साधनभूत चमत्कार को प्रधानता देकर अपने-अपने लक्षण किए।

केशव के विपरीतोपमा तथा संकीर्णोपमा के दो भेद दण्डी के किसी भेद से नहीं मिलते। लाला भगवानदीन, आचार्य शुक्ल आदि का कथन है कि विपरीतोपमा में उपमा का मूल (साम्य) नहीं पाया जाता है। विपरीतोपमा का उदाहरण निम्न प्रकार है—

भूषित देह विभूति दिगंबर नाहिन अंबर अंग नबीने।
दूरि के सुन्दर सुन्दरी केसव दौरि दरीनि में मंदिर कीने।
देखि बिमंडित दंडन सौं भुजदण्ड दोऊ असिदण्ड बिहीने।
राजनि श्री रघुनाथ के राज कुमंडल छांडि कमंडल लीने ॥[2]

यहां पूर्व और परवर्ती दशा का वैषम्य दिखाया गया है। दोनों अवस्थाओं के वैभव और हीनता की आक्षिप्त समानता को ध्यान में रखकर ही केशव ने इसे उपमा के अन्तर्गत माना है। वैषम्य दिखाने के लिए जिन दो वस्तुओं को आमने-सामने रखा जाता है वह औपम्य के ही ढंग का है। केशव का यही दृष्टिकोण चमत्कार-वैषम्य में है, अतः उसका नाम विपरीतोपमा है। उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

पूरब पूरे गुननि के तेई कहिजै हीन।
तासों विपरीतोपमा केसव कहत प्रवीन ॥[3]

---

१. कविप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द २५
२. कविप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३५
३. कविप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३४

मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने उपमा के वर्गीकरण में दण्डी का यह दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उनके वर्गीकरण का आधार व्याकरण है। उपमा के पूर्ण तथा लुप्त भेद करने के पश्चात् वाक्य, समास, प्रत्यय, तद्धित, तिङन्त, त्यच् आदि के आधार पर अनेक भेद किए गए हैं। वास्तव में यह साहित्य के क्षेत्र में व्याकरण का अनुचित प्रवेश था। अप्पय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में इसपर आक्षेप भी किया[1] है कि यह वर्गीकरण कौशल-प्रदर्शन-मात्र के लिए है, अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में तो व्यर्थ ही है। केशव ने भी वैयाकरणी परम्परा का पालन न करके दण्डी को ही आदर्श बनाया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन में हमने केशव के आचार्यत्व-क्षेत्र से दो अंग चुने थे—रस तथा अलंकार। हमने देखा इन क्षेत्रों में उनकी शास्त्रीय पृष्ठभूमि कितनी व्यापक एवं सुदृढ़ है। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं को तौल-परखकर उन्होंने अपनाया है। साथ ही वे अपना निजी दृष्टिकोण भी रखते हैं। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में दृष्टिकोणों का अन्तर है। 'रसिकप्रिया' शृंगार के रसराजत्व का दृष्टिकोण लेकर चली है, अतः उसमें मौलिकता का अधिक अवसर मिला है। हम देख चुके हैं कि अपने उद्देश्य में केशव को कितनी सफलता मिली है। 'कविप्रिया' में शिक्षक की दृष्टि प्रधान है। फलतः मौलिकता अनेक आचार्यों के अनेक लक्षणों में से चुनाव में है। साथ ही अनेक स्थलों पर स्वतन्त्र दृष्टिकोण से भी काम लिया गया है, जिसमे केशव की गहरी सूझ का पता चलता है। अलंकारों के लिए आधार प्रायः अलंकारवादी आचार्य दण्डी, भामह आदि हैं। किन्तु जहां उनकी बुद्धि गवाही नहीं देती, वहां वे अपनी स्वतन्त्रता दिखाते हैं। रस और अलंकार दोनों ही क्षेत्रों में जहां भी प्रचलित पद्धति में हेर-फेर किया है सकारण किया है। उन समस्त कारणों की पृष्ठभूमि में सर्वत्र उनका एक निजी दृष्टिकोण है, वह दृष्टिकोण एकसूत्रित एवं सुनिश्चित है। आवश्यकता इस बात की है कि केशव के प्रत्येक शास्त्रीय अंग को लेकर एक-एक लक्षण एवं उदाहरण को इसी शैली पर परखा जाए। हमारा विश्वास है कि उस अध्ययन मे इन दो अंगों के विवेचन से जो निर्णय हमें प्राप्त हुआ है, उसकी पुष्टि ही होगी। समस्त रीतिकाल में केशव के समान अन्य कोई व्यापक अध्ययनशील मौलिक आचार्य नहीं दिखाई पड़ता। अन्य आचार्य प्रायः बंधी-बंधाई लीक पकड़कर चले हैं। किन्तु स्वयं पुरानी लीक पर चलकर भी समस्त परवर्ती मध्ययुग केशव के महत्त्व को नतमस्तक होकर स्वीकार करता रहा है। यह उनके आचार्यत्व की महत्ता का स्वयं प्रमाण है।

---

१. एवमयं पूर्णालुप्ताविर्भावो वाक्यसमास प्रत्ययविशेप गोचरतया शब्दशास्त्र व्युत्पत्तिकौशल-प्रदर्शनमात्र प्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रो व्युतकांशला नवा लुप्तानामयं सामस्त्येन विभागः॥
—चित्रमीमांसा, पृष्ठ २७, पी० बी० काणे द्वारा उद्धृत, पृ० १०५

षष्ठ परिच्छेद

केशव की काव्य-कला

कवि-रूप में केशव का अध्ययन करने के लिए हमारे सामने उनके कई पक्ष हैं। 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' में मुक्तककार के रूप में, 'रामचन्द्रिका' में महाकाव्यकार के रूप में, 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' में ऐतिहासिक चरित-काव्यकार के रूप में, 'विज्ञानगीता' में दार्शनिक प्रतीक-नाट्यरूपककार के रूप में वे हमारे समक्ष आते हैं। भारतीय काव्य-दृष्टि, चाहे काव्य मुक्तक हो चाहे प्रबंध, मुख्यतः रसपरक रही है। संस्कृत के परवर्ती साहित्य की छाया में अलंकारों की भी बड़ी धूम रही है। प्रकृति कवि की चिरसहचरी है, वह उसकी कविता का प्राण-स्रोत रही है। रस पर अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही किसी कवि की रचना में प्रकृति का स्वरूप-विधान होता है। अतः हम केशव के कवि-रूप का मूल्यांकन करने के लिए सर्वप्रथम उनकी रस-व्यंजना, अलंकार-योजना तथा प्रकृति-चित्रण पर दृष्टिपात करेंगे। इन पक्षों पर दृष्टि डालने से उनके समग्र कविरूप का उद्धार न हो सकेगा। केशव के कवित्व का दूसरा, किन्तु कुछ सीमित, पक्ष है प्रबंध-कवि का। यह रूप 'रामचन्द्रिका', 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' और 'वीरसिंहदेवचरित' आदि में आया है। उनके इस स्वरूप का दर्शन करने के लिए हम उनकी तीन विशेषताओं को लेकर परखेंगे। प्रबंध-पटुता, चरित्र-चित्रण एवं सम्वाद। इन उपर्युक्त दो पक्षों के अतिरिक्त दो प्रमुख बातें रहती हैं छंद-योजना एवं भाषाधिकार, जिनका कि कवि के अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बन्ध है। अलंकारों का भी सम्बन्ध यद्यपि अभिव्यक्ति-पक्ष से ही है, किन्तु केशव जैसे कवि के लिए अलंकारों की स्थिति अधिक महत्त्व की है। अतः केशव के कवि-रूप की समीक्षा के लिए हम उनका इस क्रम में अध्ययन उपस्थित करना चाहते हैं—

१. रस-व्यंजना
२. अलंकार-योजना
३. प्रकृति-चित्रण
४. प्रबंध-पटुता
५. चरित्र-चित्रण
६. संवाद
७. छंद-योजना
८. भाषाधिकार

केशव की रस-व्यंजना

रसराजत्व

'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के अनुसार आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रसों को रसराजत्व के स्थान पर बिठाने का प्रयत्न किया है। यदि महामति धर्मदत्त ने अद्भुतरस को 'रसेसारश्च-मत्कारः' कहकर उसे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया तो महाकवि भवभूति ने 'एको रसः करुण एव'[१] कहकर करुणरस को ही प्राथमिकता दी। कुछ विद्वानों ने शान्तरस को ही रस-राजत्व की पदवी पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में यह कथन अत्यन्त प्रसिद्ध है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः।

अद्भुतरस का स्थायीभाव अब विस्मय है। रत्यादि स्थायीभाव की आस्वाद्यता एकमात्र विस्मय पर ही आश्रित नहीं रहती। दूसरे रस-मात्र की अनुभूति के मूल में अन्त-र्निहित विस्मय तथा अद्भुतरस के स्थायीभाव विस्मय दोनों में महान अन्तर है। तीसरे आस्वाद्य स्थायीभाव के समक्ष उसका अस्तित्व नगण्य है। अतः अद्भुतरस को रसराज नहीं माना जा सकता। करुणरस की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी हम उसे रसराज नहीं मान सकते। करुणरस में निराशा का साम्राज्य रहता है, अतः उसे प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। शान्तरस को भी रसराज नहीं माना जा सकता, क्योंकि सबसे पहले तो भरत मुनि ने उसे रस ही नहीं माना। दूसरे उसका स्थायीभाव ही विवादास्पद है। कुछ आचार्य शम को तथा कुछ निर्वेद को स्थायीभाव मानते हैं। तीसरे सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग, ईर्ष्या ही न होगी तो संचारीभाव कहां से आएंगे ?

शृङ्गार का रसराजत्व

प्रारम्भिक अवस्था में रस का अर्थ शृंगार ही माना जाता था और रस के प्रवर्तक आचार्य कामशास्त्र के भी आचार्य माने जाते थे। भरत मुनि के 'अष्टौ नाट्यै रसाः स्मृताः' का अभिप्राय संभवतः यही हो सकता है कि नाटक में आठ रस होते हैं, अन्यत्र चाहे एक ही रस हो और उस एक के द्वारा संकेत शृंगार के लिए ही प्रतीत होता है। विश्वनाथ जैसे विद्वान ने शृंगाररस को आदिरस कहा है।[२] बाणभट्ट ने रस शब्द का प्रयोग शृंगार के अर्थ में किया है।[3] तदुपरान्त रुद्रभट्ट का 'शृंगारतिलक', भोजराज का 'सरस्वतीकंठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश', विद्याधर की 'एकावली', शारदा तनय का 'भावप्रकाश', शिंग भूपाल का 'रसार्णव' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी'

---

१. उत्तररामचरितम्, तृतीय अंक, श्लोक ४७
२. यमुपारधना आत्यिरस आद्यः प्रवर्तते। —विश्वनाथ, प्रेमरसायन
३. रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव। —कादम्बरी, बाणभट्ट

आदि ग्रन्थ शृंगार को ही रस माननेवाले ग्रन्थ है। भोजदेव ने तो 'शृंगारप्रकाश' में स्पष्ट ही कहा है—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ;
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ।[1]

रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' में जिसे कृष्ण-सम्बद्ध कर भक्तिरस की संज्ञा दी है, वह प्रकारान्तर से शृंगाररस ही है। शृंगार की व्यापकता की दृष्टि से प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति आदि उसके अनेक भेद हैं। नायिका-भेद की सृष्टि भी शृंगार के कारण से हुई है। संसार के कवियों को जितना इस रस ने आकर्षित किया है, उतना अन्य किसी रस ने नहीं। महाकवि बेली (Baily) के शब्दों में वे सब कवि हैं जो प्रेम करते हैं और महान तथ्यों की अनुभूति तथा प्रतिपादन करते हैं और परम सत्य प्रेम है।[2]

वस्तुतः हिन्दी काव्यशास्त्र का तो प्रारम्भ ही शृंगार की प्रधानता लिए हुए है। आचार्य केशवदासजी ने तो स्पष्ट घोषणा की है—

नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास हरि नायक है सिंगार।[3]

इतना ही नहीं, परवर्ती हिन्दी-आचार्यों ने भी शृंगार को प्रधानता प्रदान की है। तोष की 'सुधानिधि', चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु', मतिराम का 'रसराज', रसलीन के 'रसप्रबोध' एवं 'अंगदर्पण', देव की 'प्रेमचन्द्रिका' एवं 'रसविलास', भिखारीदास के 'रसशृंगार' एवं 'शृंगारनिर्णय' तथा पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि ग्रन्थ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। महाकवि देव ने शृंगार को रसराज सिद्ध करते हुए सभी रसों का अन्तर्भाव शृंगार में ही माना है—

निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव प्रकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस विवस न पावत अन्त।
भाव सहित सिंगार में, नवरस झलक अजस्र।
जो कंकण मणि कनक को ताही में नवरत्न।[4]

संयोग-शृंगार

शृंगार दो भागों में विभाजित किया गया है—संयोग एवं वियोग। संयोग में नायक-

---

१. शृंगारप्रकाश, भोजराज
२. Poets are all ho wlove, who feel great truths
And tell them, and the truth of truths is love. —Baily
३. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १६
४. भवानीविलास, प्रथम विलास

नायिका का मिलन होता है। अतः उसकी अनुभूति सुखात्मक है। केशवदासजी ने संयोग-शृंगार में सौन्दर्य-वर्णन, रूप-वर्णन, हाव-भाव-वर्णन, आभूषण-वर्णन, अष्टयाम, उपवन, जलाशय, क्रीड़ा-विलास आदि का चित्रण किया है। उनपर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव था, अतः उनकी कविता शृंगार-प्रधान है। 'रसिकप्रिया' के कतिपय छन्दों को लेकर कतिपय आलोचकों ने उन्हें उच्छृंखल, अमर्यादित एवं असंयत कहा है। इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि 'कितेक औगुन जग करत नै वै चढ़ती बार'[1] तथा 'अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग'[2] को दृष्टि में रखकर शृंगार की मर्यादा कहां रह सकती है! जहां शृंगार में मर्यादा का अधिक अंकुश होगा, कहां कविता-कामिनी की छटा फीकी पड़ जाएगी, साथ ही साथ उसके सजीवता एवं स्वाभाविकता जैसे गुण नष्ट हो जाएंगे। मर्यादा के इसी अधिक अंकुश के कारण स्वनामधन्य गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता भी यत्र-तत्र कुछ दब-सी गई है। यह आक्षेप केशव पर ही क्यों? क्या विद्यापति में शृंगार की वेगवती धारा नहीं?[3] क्या हिन्दी के मूर्धन्य कवि सूर में शृंगार की मर्यादा है?[4] संस्कृत-साहित्य के कालिदास, भवभूति तथा श्रीहर्ष जैसे महाकवि भी शृंगार में मर्यादा का पालन न कर सके। अंग्रेज़ी-साहित्य के कीट्स एवं शेली आदि की यही दशा है। 'रामचन्द्रिका' में पूज्य भाव के कारण सीताजी का नख-शिख-वर्णन न करके केशवदासजी ने एक शुक नामक सखा द्वारा सिय-दासियों का नख-शिख-वर्णन कराया है। जिसकी दासियां इतनी सुन्दर हैं, उनकी महारानी कितनी सुन्दर न होगी! केशवदासजी ने व्याज-स्तुति अलंकार के आश्रय से सीता के सौन्दर्य की सुन्दर व्यंजना की है। केशव के संयोग-शृंगार का एक स्वाभाविक चित्र देखिए। किसी नायिका का पति परदेश जा रहा है। अतः वह किंकर्तव्यविमूढ़ है कि अपने प्रियतम को वह किन शब्दों में विदाई दे। अतः वह स्वयं प्रियतम से ही पूछ रही है—

जौ हौं कहौं 'रहिजै' तौ प्रभुता प्रगट होति,
'चलन' कहौं तो हित-हानि नाहिं सहनै।
'भावै सो करहु' तौ उदास भाव प्राननाथ,
'साथ लै चलहु' कैसे लोकलाज वहनै।

---

१. बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४६

२. बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४६१

३. निवि बन्धन हरि किए कर दूर
यहो पए तो हर मनोरथ पूर।
—विद्यापति की पदावली, मिलन छन्द ८३

४. कबहुँक अधर दसन भरि खंडत, चाखतु सुधा मिठाई।
कबहुँक कुच कर परसि कठिन अति तहाँ बदन परसावत।
—सूरसागर, द्वितीय खण्ड, ना प्र० सभा काशी, छन्द संख्या २४५७।३०७५

'केसोराइ' की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जौ पै नाहीं राजि रहनै।
तैसियै सिखावौ सीख तुमही सुजान पिय,
तुमहि चलत मोहि कैसो कछू कहनै।[1]

एक गोपिका प्रेम के कारण कृष्ण को देखने के लिए यदा-कदा जरा-सी दृष्टि 'पसारती' है तो लोग उसकी ओर 'उंगलियां' पसारने लग जाते हैं। ब्रज के लोगों की यह हरकत उसे पसन्द नहीं।

त्यों टुक डीथि पसारत ही, अंगुरीन पसारन लोग लगें।[2]

सिय-दासियों की एड़ियां इतनी सुन्दर हैं कि उनकी मलिनता के डर से दृष्टि-पात करने में भी संकोच होता है। उनकी 'सुभ्र साधु माधुरी' को देखकर चंचल चित्त भी स्थिर हो जाता है—

छवानि को छुई न जाति, सुभ्र साधु माधुरी,
विलोकि भूलि भूलि जात, चित्त चाल चातुरी।[3]

राजमहल की गलसुई की भी सुकुमार व्यंजना देखिए—

कुसुम भुलावन की गलसुई
वरनि न जाय न नैनन छुई।[4]

संकोच के कारण दबी हुई कुलीन स्त्रियों की कमर से ऐसा ज्ञात होता है कि उनकी कमर लचक रही है। केशवदासजी ने इसकी सुन्दर अभिव्यंजना की है—

कचन के भार, कुच भारन, सकुच भार
लचकि लचकि जात कटितट बाल के।[5]

रामचन्द्रजी सुन्दर पलंग पर लेटते हैं। परन्तु लेटते ही उन्हें ध्यान आ जाता है कि—

जिनके न रूप रेख, ते पौढ़ियो नर वेष।
निसि नासियो तेहि वार, बहु बन्दि बोलत द्वार ॥[6]

'रामचन्द्रिका' में समस्त वर्णन संयत और भक्ति की मर्यादा के भीतर ही है। देखिए—

कंटक अटकत फटि फटि जात।
उड़ि उड़ि वसन जात बस बात।

---

१. कविप्रिया, दशम प्रभाव, छन्द २०
२. रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छन्द ३
३. रामचन्द्रिका, इकत्तीसवां प्रकाश, छन्द ३४
४. रामचन्द्रिका, तीसवां प्रकाश, छन्द १४
५. कविप्रिया, षष्ठ प्रभाव, छन्द ३६
६. रामचन्द्रिका, तीसवां प्रकाश, छन्द १६

तऊ न तिनके तन लखि परे।
मनि गन अंग अंग प्रति धरे॥[१]

कहीं-कहीं इनका वर्णन अश्लीलता की सीमा तक भी पहुंच गया है। अंगद मन्दोदरी के केश पकड़कर चित्रशाला के बाहर ले आए हैं। उस समय उसके कंचुकीरहित उरोजों का वर्णन देखिए—

बिना कंचुकी स्वच्छ वक्षोज राजैं,
किधौं सांचहूं श्रीफले सोम साजें।
किधौं स्वर्न के कुम्भ लावन्य पूरे।
बसीकर्न के चूर्न सम्पूर्न पूरे॥[२]

यहां पर भी शिष्टता का उल्लंघन भक्ति के आवेश में शत्रु की स्त्री की दुर्गति दिखाने के लिए किया गया है। मर्यादापूर्ण संयोग-शृंगार का एक चित्र देखिए—

जब जब धरि बीना प्रकट प्रवीना बहुगुनलीना सुख सीता।
पिय जियहि रिझावे दुखनि भजावे विवध बजावै गुन गीता।
तजि मति संसारी विपिन बिहारी सुखदुखकारी घिरि आवैं।
तब-तब जगभूषण रिपुकुल-दूषण सबको भूषण पहिरावैं।[3]

विप्रलम्भ-शृंगार

जिस प्रकार दिन-रात एवं सुख-दुःख का चक्र[४] चलता रहता है, उसी प्रकार संयोग के उपरान्त वियोग एक सांसारिक नियम है। संयोग में नाना प्रकार की केलि एवं विहारादि के द्वारा मधुर रस का आस्वादन होता है तो वियोग में दर्शन आदि के अभाव में हृदय तीव्र वेदना से संतप्त रहता है। वास्तव में प्रेम की सच्ची कसौटी वियोग ही है—'न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते' तथा भक्तवर सूरदासजी ने भी 'ऊधौ विरहौ प्रेम करै' लिखकर इसीका प्रतिपादन किया है। यद्यपि 'स्नेहः प्रवासाश्रयात्' के अनुसार कुछ लोगों ने वियोग में प्रेम का ह्रास ही बतलाया है, परन्तु महाकवि कालिदास ने तो अपने प्रेम-काव्य मेघदूत में स्पष्ट ही कहा है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे, ध्वंसिनस्तेत्वयोगात्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसः, प्रेम राशीभवन्ति।[५]

अर्थात् प्रेम को वियोगावस्था में ध्वंसशील कहा गया है परन्तु वास्तव में इष्ट के अयोग के कारण उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ते हुए भाव से वह राशि के रूप में संचित होता रहता है।

---

१. रामचन्द्रिका, इकत्तीसवां प्रकाश, छन्द संख्या ४०
२. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द ३१
३. रामचन्द्रिका, एकादश प्रकाश, छन्द २७
४. चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।
५. मेघदूत, श्लोक ११६

रीतिकालीन कवियों के जीवन में गंभीरता का ग्रभाव था। ग्रतः उनकी शृंगारिक दृष्टि प्रेम की एकनिष्ठता पर न होकर विलास एवं रसिकता पर ही विशेष रूप से रही। परम्पराभुक्त ऊहा एवं ग्रतिशयोक्ति के द्वारा ही विरह-चित्रण करते रहे। विरह के उद्दीपक चन्दनादि शीतल पदार्थ, मल्लिका, परिमल, वर्षाऋतु, गुलाबजल तथा चन्द्रमा ग्रादि का वर्णन बहुत दिनों से कवि लोग करते चले ग्राए हैं। केशव में भी इन परम्पराभुक्त वर्णनों का ग्रभाव नहीं। देखिए, सीता के वियोग में चन्द्रमा की शीतल किरणें राम के हृदय को दग्ध कर रही हैं—

हिमांशु सूर सों लगै, सो बात वज्र सी बहै,
दिशा लगै कृशानु ज्यों विलेप ग्रंग को दहै।
विशेष काल रात्रि को कराल राति मानिए,
वियोग सीय कौन काल लोकहार जानिए।[1]

इस प्रकार के वर्णन केशव में ही नहीं ग्रनेक महाकवियों में पाए जाते हैं। महाकवि कालिदास ने 'विसृजति हिमगर्भैरिन्दुरग्नि मयूखैः' तथा गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'पावकमय ससि' कहकर वियोग-विषमता को प्रकट किया है। ग्रागे चलकर बिहारी ने भी इसी परम्पराभुक्त प्रणाली का ग्रनुसरण किया—

हौं ही बौरी विरह बस, कै बौरो सब गाँउ।
कहा जानिए कहत है, ससिहि सीतकर नाउँ॥[2]

केशवदासजी ने विप्रलम्भ-शृंगार के ग्रन्तर्गत पूर्वराग, मान, करुण, प्रवास, विरह-दिशाएं, पत्रदूती, बारहमासा ग्रादि सभीका चित्रण किया है।

पूर्वराग

किसीके गुण-श्रवण ग्रथवा सौंदर्य-दर्शन से हृदय में जो प्रेम की इच्छा उत्पन्न होती है, उसे पूर्वराग कहते हैं—

'केसव' कैसहुँ ईठनि दीठि ह्वै दीठि परे रति ईठ कन्हाई।
ता दिन तें मन मेरे को ग्रानि भई सु भई कहि क्योंहूँ न जाई।
होइगी हाँसी जौ पावै कहूँ कहि जानि हिताहित बूझन ग्राई।
कैसें मिलौं री मिले बिनु क्यों रहौं नैननि हेते हिये डर माई।[3]

यहां रति स्थायीभाव है, राधा ग्राश्रय है, तथा कृष्ण ग्रालम्बन। राधिका की चेष्टाएं ग्रनुभाव हैं। 'कैसें मिलौं री मिले बिनु क्यों रहौं' कहकर राधा ने ग्रपने प्रेम का 'राज़' सखी के समक्ष प्रकट कर दिया है।

मान

प्रेमियों के परस्पर रूठने को 'मान' कहते हैं। इस प्रेम की रार से प्रेम में ग्रभि-

---

१. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छन्द ४
२. बिहारी-रत्नाकर, दोहा २२५
३. रसिकप्रिया, ग्राठवां प्रभाव, छन्द ५

वृद्धि ही होती है—

झूठहूँ न रूठियें री ईठ सों इतै कहाऽब।
नेंक पीठ देत ईठ कौन के भए अली।
कालिह के तो नन्दलाल मोसों घालि लालि करें।
कालिह ही न आई ग्वारि जो पै तू हुती भली॥
आजु ही जु बीच परी बीच परबै कौं माई,
आन रंग आन भाँति ज्यों कनेर की कली।
तेरे ही कहे की कोउ साहि है जू बूझियें री।
देखिये जु आँखि ताकी साहि की कहा चली॥[1]

सखी नायिका को समझाना चाहती है कि तुम्हारे वही इष्ट हैं। तुम बनावटी क्रोध क्यों कर रही हो! नायिका नायक की बेरुखी का हवाला देती है।

करुण

जहां किसी आधिदैविक तथा अन्य विशेष कारण से संयोग की आशा समाप्त-प्राय हो जाती है, वहां करुण-विप्रलम्भ होता है। विरहाकुल कृष्ण प्रथम मिलन का स्मरण करते हुए दिन-प्रतिदिन कृशता को प्राप्त होते चले जा रहे हैं—

जैसें मिल्यो प्रथम श्रवन-मग जाइ मन,
रवन भवन कीने अलिक अलक में।
मनु मिले मिले नैन केसोदास सविलास।
छवि-आस भूलि रहे कपोल फलक में॥
नैन मिले मिल्यो ज्ञान सकल सयान सजि।
तजि अभिमान भूल्यो तन की झलक में।
तैसे छल बल साधि राधिकै मिलन कहँ,
चाहत कियो पयान प्रानहूँ पलक में॥[2]

उपर्युक्त पद्य में रति स्थायीभाव, भगवान श्रीकृष्ण आश्रय, नायिका आलम्बन, नायिका के अंग-प्रत्यंग की शोभा उद्दीपन, प्राणों का पयान करना आदि अनुभाव तथा औत्सुक्य एवं चिन्ता आदि संचारी हैं।

प्रवास

प्रियतम के किसी कारण-विशेष से विदेश चले जाने पर हृदय में जो संतापमयी वृत्ति जागरित हो जाती है, उसे प्रवास कहते हैं। राधा कृष्ण के बिना इतनी व्याकुल हो रही हैं कि तत्काल दर्शन-लाभ के अभाव में उन्हें मर जाना ही अच्छा लगता है, क्योंकि श्रीकृष्ण का वियोग असह्य है।

---

१. रसिकप्रिया, नवां प्रभाव, छन्द ११
२. रसिकप्रिया, ग्यारहवां प्रभाव, छन्द ५

कौन के न प्रीति को न प्रीतमहि बिछुरत,
या ही कें अनोखो पतिव्रत गाहियतु है।
केसौदास जतन कियें ही भले आवै हाथ।
और कहा पच्छिन के पाछें धाइयतु है।
उठि चलि जो न मानै काहू की बलाइ जानै,
मानसे जु पहिचानै ताकें आइयतु है।
याकें तौ है आजु ही मिलौ कि मरि जाऊँ ऐसे,
आगि लागें मेरी माई मेहु पाइयतु है॥[1]

विरह-दशाएं

केशव के विरह-वर्णन में विरह की सभी दशाएं पाई जाती हैं।

अभिलाषा

जौ कहूं देखें लगै दिख-साध दिखावत ही दिन ही दुख पैहौं।
या ही में केसव देखियै वातन देखिहौं देखि सखी अधिकैहौं।
यों उनकी दुति देखिहौं देह ज्यों आपनो देह न देखन दैहौं।
देखिबे कौं बहरावति मोंहि सु हौंऽब कहा कछु देखि ही लैहौं।[2]

चिन्ता

दुहूँ ओर परी जोर घोर घन केसोदास,
होइ जीति कौन की को हारै जिय लचिकै।
देखत तुम्हें गुपाल तिहि काल उहि बाल,
डर सतरंज की सी बाजी राखी रचि कै।[3]

गुण-कथन

खंजन हैं मनरंजन 'केसव' रंजन नैन किधौं मति जी की।
मीठी सुधा कि सुधाधर की दुति दंतनि की किधौं दाड़िम ही की।
चन्द भलो मुखचन्द किधौं सखि सूरति काम कि कान्ह की नीकी।
कोमल पंकज कै पद पंकज प्रान पियारे कि मूरति पी की।[4]

स्मृति

ऐसे ही 'केसव कैसें जियै अहो पान न खाहु तौ पान्यौ न पीजै।
जानि है कोऊ कहा करि हौ तब सोच न एतौ सँकोच तो कीजै।[5]

---

१. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ६
२. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द १२
३. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द १७
४. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द २२
५. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द २७

उद्वेग

'केसव' कालिह विलोकि भजी वह आजु बिलोकें विनासु मरै जू।
बासर बीस विसे विष मीड़ियै राति जुन्हाई की जोति जरै जू।[1]

प्रलाप

आलिनि माँझ मिली हुती खेलति, जानै को कान्ह धौं आए कहाँ तें।
ढीठहिं डीठ पर्‌यौ न कछू सठ ढीठ गही हठि पीठि की घातें।[2]

उन्माद

केसव चौंकति सी चितवै, छतिया धरकै, तरकै तकि छाँहीं।
बूझियै और कहै मुख और सु और की और भई पल माँही।[3]

व्याधि

ह्वाँ उनिके तन ताप तें तापिकै, ह्याँ इनके उपचार जुड़ैयै।
ह्वाँ उनिके उड़ि जैये उसासनि, ह्याँ इनिके असुआनि अन्हैये।
'केसव' ये नंदलालन वे वृषभान लली पै निदान न पैये।
एकहिं वेर दुहूँनि कहा भयो माई री तू चलि देखन जैये।[4]

जड़ता

अखियानि मिली सखियानि मिली पतियाँ वतियानि मिली तजि मौनैं।
ध्यान-विधान मिली मनहीं मन ज्यों मिलै राँक मनौं मन सौनैं।
'केसव' कैसहुँ वेगि चलौ नतु ह्वैहै वहै हरि जो कछु हौनैं।
पूरन प्रेम-समाधि लगे मिलि जैहैं तुम्हें मिलिहौ तन कौनैं।[5]

मरण

मरण-दशा के वर्णन के लिए असमर्थता प्रकट करते हुए केशव उसके विषय में कहते हैं—

बनै न क्यों हूँ मिलन जहँ, छल बल 'केसोदास'।
पूरन प्रेम-प्रताप तें मरन होत अनयास॥
मरन सु केसवदास पै, वरन्यौ जाहि न मित्र।
अजर अमर जस कहि कहौं कैसे प्रेम-चरित्र॥[6]

वीररस

शृंगार के उपरान्त केशव का प्रिय एवं प्रधान रस वीररस कहा जा सकता है

१. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ३२
२. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ३७
३. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ४१
४. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ४७
५. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ५०
६. रसिकप्रिया, अष्टम प्रभाव, छन्द ५४

ऐश्वर्य, प्रताप एवं वीरता के वर्णन में केशव को अत्यन्त सफलता मिली है। दरबार की विलासिता के साथ-साथ केशव को युद्ध की विभीषिका एवं भीषणता का भी अनुभव था। 'रामचन्द्रिका' में युद्ध के दो स्थल दृष्टिगत होते हैं। प्रथम तो राम-रावण-युद्ध तथा द्वितीय राम की सेना और लव-कुश का युद्ध। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव इन दोनों स्थलों के वर्णन में सफल हुए हैं। अब हम प्रथम स्थल को लेते हैं।

रावण की ओर से भी भयंकर युद्ध का वर्णन किया गया है। जिस समय खर का पुत्र मकराक्ष आता हुआ दिखाई देता है तो विभीषण राम को सचेत करते हुए पुकारते हैं—

कोदंड हाथ रघुनाथ सँभारि लीजै
भागे सबै समर जूथप दृष्टि दीजै।
बेटा बलिष्ठ खर को मकराक्ष आयो
संहारकाल जनु काल कराल धायो ॥[1]

प्रथम पंक्ति से मकराक्ष की भयानकता, भीषणता एवं विकरालता स्पष्ट व्यंजित है। दूसरी पंक्ति के द्वारा विभीषण कहना चाहते हैं कि सेना में भगदौड़ मच गई है और आपने जरा भी विलम्ब किया और हार हुई। कितना सुन्दर व्यंग्य-चित्र उपस्थित किया है। वह प्रारम्भ में रावण को विजय का विश्वास दिलाता है और कहता है कि मेरे सामने तुम्हारे दोनों पुत्र कुंभकर्ण एवं मेघनाद कुछ नहीं। एक सदैव सोता रहता है तो दूसरा कायर है—

कहा कुंभकर्नै कहा इंद्रजीतै
करै सोइबो वै करै जुद्ध भीतै।[2]

इतना ही नहीं, वह राम, लक्ष्मण तथा सुग्रीव को मारकर अयोध्या को राजधानी भी बनाना चाहता है—

हतौं राम स्यों बंधु सुग्रीव मारौं।
अजोध्याहि लै राजधानी सुधारौं ॥[3]

इसी प्रकार दूसरे स्थल पर विभीषण को युद्ध के लिए आता हुआ देखकर वीर बालक लव ललकारता है—

आउ बिभीषन तूँ रन दूषन।
एक तूँही कुल को निज भूषन।
जूझ जुरे जो भगे भय जी के।
सत्रुहि आनि मिले तुम नीके।

---

१. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द ६

२. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द ६

३. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द ७

देववधू जबहीं हरि ल्यायो।
क्यों तबहीं तजि ताहि न आयो॥
यों अपने जिय के डर आयो।
क्षुद्र सबै कुल-छिद्र बतायो॥[1]

अर्थात् हे कायर विभीषण ! आ, तू ही तो अपने कुल का भूषण है। व्यंग्य से—कलंकित करनेवाला है, आदि।

इस पद्यांश में स्थायीभाव उत्साह, आश्रय लव, आलम्बन विभीषण, अनुभाव व्यंग्योक्तियां, लव की गर्जना तथा संचारीभाव 'धृति' एवं गर्व आदि हैं जिनके द्वारा वीररस का सजीव चित्रण अंकित किया गया है।

इसी प्रसंग में वीर-प्रवर लव विभीषण को और भी अधिक लज्जित करते हुए वीरोचित वाणी से कहते हैं कि तूने जिसे अनेक बार माता कहकर पुकारा होगा, उसीसे विवाह कर क्या तू वध्य नहीं है। धिक्कार है, जो तू अब भी जीता है। अरे दुष्ट ! जाकर विष क्यों नहीं पी लेता !

को जानै कै बार तूँ कही न ह्वै है माइ।
सोई तैं पत्नी करी सुनि पापिन के राइ॥
सिगरे जग माँझ हँसावत हे।
रघुवंसिन पाप लगावत हे॥
धिक तोकहुँ तूँ अजहूँ जु जियै।
खल जाइ हलाहल क्यों न पियै॥[2]

उक्त छन्द में स्थायीभाव उत्साह, आश्रय लव, आलम्बन विभीषण, अनुभाव धिक्कारना आदि उक्तियां तथा शरीर के अंगों का फड़कना आदि, धृति तथा गर्व आदि संचारीभावों के द्वारा वीररस की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

अंगद का भी युद्धस्थल में वीर बालक लव ऐसे ही बाणों से स्वागत करता है—

अंगद जौ तुम पै बल होतौ। तौ वह सूरज को सुत को तौ।
देखत ही जननी जु तिहारी। वा सँग सोवति ज्यौं बर नारी॥[3]

शत्रुघ्न पर व्यंग्य करता है—

कौन शत्रु तू हत्यौ। जु नाम शत्रुहा लियौ।[4]

उसने शत्रुओं पर बाणवर्षा ही नहीं की अपितु कटूक्तियों से उनके हृदयों को भी जर्जरित किया।

चन्दबरदायी एवं गोस्वामी तुलसीदासजी की भांति वीररस में ओज लाने के

---

१. रामचन्द्रिका, सैंतीसवां प्रकाश, छन्द १६-१७
२. रामचन्द्रिका, सैंतीसवां प्रकाश, छन्द १६-२०
३. रामचन्द्रिका, अड़तीसवां प्रकाश, छन्द ६
४. रामचन्द्रिका, तैंतीसवां प्रकाश, छन्द १८

लिए प्राकृत रूपों एवं कर्णकटु शब्दों का प्रयोग केशवदासजी ने 'रतनबावनी' में किया है। आगे चलकर भूषण ने भी इसी प्रथा का अनुसरण किया। 'रतनबावनी' की ये पंक्तियां देखिए—

दीठि पीठि तन फेर पीठ तन इक्क न दिक्खिय।
फिरहु फिरहु फिर फिरहु कहत दल सकल उमग्गिय।।
ठान ठान निजसान मुरकि पाहान जु धाए।
काढ़ काढ़ तरवार तरल ता दिन तठ आए।।
इक इक्क धसि धल्लिव यवन रतनसेन रणधीर कहँ।
जनु ग्वाल बाल होरों हरषि खंडल घोर अहीर कहँ।।[1]

इस छन्द में वीररस की अत्यन्त ओजपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

'वीरसिंहदेवचरित' में भी वीररस की अभिव्यक्ति करानेवाले छन्द पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। यथा, कुमार भूपालराय का अपने क्षेत्रपाल को उत्तेजित करते हुए यह कहना कि—

मति करहि जनि भीति बंश रणजीति हमारो।
व्रतधारी जस अमल ताहि अब करौ न कारौ।।
राजनि के कुलराज कहा फिरि फिरि अवतरियौ।
अब तक जब कब करन कहत अबही किनि मरियौ।।
सुर सूरज मंडल भेदिज्यों विना गए से हरिसरन।
सब सूरनि मंडल भेदि त्यों रामदेव देखें सरन।।[2]

प्रस्तुत छन्द में स्थायीभाव उत्साह, आश्रय कुमार भूपालराय, आलम्बन शत्रु-दल, अनुभाव कुमार की वीरोचित उक्तियां, अंग-प्रत्यंग का फड़कना तथा चेष्टाएं तथा संचारीभाव धृति एवं गर्व आदि हैं, जिनके द्वारा वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

महामोह की सेना-वर्णन के प्रसंग में 'विज्ञानगीता' में भी वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

चले मत्त मातंग भृंगावली सों,
चले बाजि कुद्द नु चिन्तावली सों,
चले स्यन्दनस्थाय योधा प्रवीने।
चले पुंज पैदा धनुर्बाण लीने।।[3]

उक्त पद्यांश में स्थायीभाव उत्साह, आश्रय सैनिक दल, शत्रु-सेना आलम्बन, अनुभाव प्रस्थान के समय की उनकी चेष्टाएं तथा संचारीभाव धृति, हर्ष एवं गर्व आदि हैं

---

१. रतनबावनी, छन्द ३१
२. वीरसिंहदेवचरित, छन्द २०, पृ० ८०
३. विज्ञानगीता, छन्द २, पृ० ५१

जिनसे वीररस का सफल चित्रांकन किया गया है। अतः स्पष्ट है कि केशवदासजी को शस्त्र-युद्ध एवं वाग्युद्ध दोनों के ही चित्रण में पूर्ण सफलता मिली है।

रौद्ररस

वैसे तो 'वीरसिंहदेवचरित', 'रतनबावनी' तथा 'विज्ञानगीता' आदि में रौद्ररस की व्यंजना हुई है, परन्तु 'रामचन्द्रिका' में विशेष रूप से इस रस की सफल व्यंजना मिलती है। धनुभंग के उपरांत परशुरामजी आकर विश्वामित्रजी पर अपमानजनक शब्दों में दोषारोपण करते हैं तो मर्यादापुरुषोत्तम राम गुरु-अपमान को असह्य समझते हुए सात्त्विक क्रोध से तिलमिला उठते हैं——

भगन भयो हर धनुष साल तुमकों अब सालै।
वृथा होइ विधि-सृष्टि ईस आसन तें चालै।।
सकल लोक संधरै सेष सिर तें धर डारे।
सप्त सिंधु मिलि जाहिं होइ सब ही तम भारे।।
अति अमल ज्योति नारायनी कहि 'केसव' बुझि जाइ वरु।
भृगुनन्द सँभारु कुठार मैं कियो सरासनजुक्त सरु।।[1]

प्रस्तुत छन्द क्रोधान्ध राम की उक्ति है जिसमें स्थायीभाव क्रोध, आश्रय स्वाभिमानी राम, आलम्बन परशुराम, उद्दीपन परशुराम का कुठारु-धारण आदि, दांत पीसना, आंखों का लाल होना, अनुभाव रामचन्द्र की चेष्टाएं आदि उक्तियां तथा अमर्ष, गर्व आदि संचारीभावों के द्वारा रौद्ररस की सुन्दर अभिव्यक्ति कराई गई है। आगे चलकर जब रावण जानकी से अपनी पत्नी हो जाने का प्रस्ताव करता है उस समय सीताजी ने जो सात्त्विक क्रोधावेश की अभिव्यक्ति की है उसमें रौद्ररस का सुन्दर परिपाक हुआ है—

अति तनु धनु-रेख नेक नाकी न जाकी।
खल सर-खरधारा क्यों सहै तिक्ष ताकी।
विड़कन घन घूरे भक्षि क्यों बाज जीवै।
सिव सिर ससिश्री कों राहु कैसे सु छीवै।
उठि उठि ह्यातें भागु तौ लों अभागे।
मम वचन विसर्पी सर्प जौ लौं न लागे।
विकल सकलु देखौं आसु ही नासु तेरो।
निपत मृतक तोकौं रोष मारै न मेरो।।[2]

भयानकरस

धनुर्भंग के उपरांत परशुरामजी के आने पर भय के कारण सर्वत्र खलबली मच जाती है। मस्त हाथियों का मद उतर जाता है। अब वे एक-दूसरे को देखकर गरजते

---

१. रामचन्द्रिका, सप्तम प्रकाश, छन्द ४२
२. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ६२-६३

नहीं हैं। ठौर-ठौर पर सुन्दर नगाड़े नहीं बजते। पीढ़ियों के शूरवीर लोग अस्त्र-शस्त्र फेंक-फेंककर अपने-अपने जीव ले-ले भागते हैं और कोई-कोई तो कवचादि काट-काटकर स्त्री का वेश धारण कर लेते हैं। भयानकरस की कितनी सुन्दर व्यंजना हुई है !

मत्त दन्ति अमत्त ह्वै गए, देखि देखि न गाजहीं।
ठौर ठौर सुदेस केसव दुंदुभी नहिं बाजहीं।
डारि डारि हथ्यार सूरज जीव लै लै भाजहीं।
काटिके तनत्रान एकनि नारि भेषन साजहीं।।[1]

बीभत्सरस

केशव के ग्रंथों में प्रसंगवश यत्र-तत्र बीभत्सरस की अभिव्यक्ति हुई है। बीभत्स एवं हास्य में प्रायः आश्रय पाठक ही होता है। जुगुप्सा-व्यंजक सामग्री की योजना द्वारा विभाव-पक्ष का विधान करने-मात्र से ही बीभत्स की सृष्टि हो जाती है। निम्न पद में परम्परागत युद्ध-वर्णन के प्रसंग में वीभत्स की अभिव्यंजना हुई है—

अतिरूरी राजत रनथली।
जूझि परें तहँ हय गज बली।।
खण्डनि खण्ड लसें गज कुम्भ।
श्रोनित भर भभकन्त भुसुण्ड।।

× × ×

घन घाइनि घाइल घेर परें।
जोगनि जोरि जंघ सिर धरें।
अंचल मुख पोंछति जगमगी।
कण्ठश्रोन पिय मारग लगी।।[2]

यहां योगिनियां आदि आलम्बन, उनकी रक्तपानादि चेष्टाएं उद्दीपन हैं। शेष सामग्री आक्षेपगम्य है। घृणा स्थायी है।

करुणरस

केशव ने करुणरस के चित्र में भाषा की सांकेतिकता की अपेक्षा गंभीरता की अभिव्यंजना के लिए व्यंजना-शक्ति का आश्रय लिया है। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को लेकर चले जाते हैं तो वृद्ध पिता दशरथ को तीव्र हार्दिक वेदना होती है, परन्तु वह संपूर्ण गंभीर वेदना मौन द्वारा व्यंजित की गई है—

राम चलत नृप के जुग लोचन
वारि-भरित भे वारिद-रोचन।

---

१. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द २
२. वीरसिंहदेवचरित, भारत जीवन प्रेस, पृष्ठ संख्या ३५३

पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं
केसव उठि गए भीतर भौनहिं॥[1]

शोक से उनके नेत्र अश्रुप्लावित हो गए हैं। अतः केशव ने उनको राजभवन भेजना ही श्रेयस्कर समझा। राजसभा में राजा का रोना उनकी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं था। संभवतः 'भौन' में जाकर राजा दशरथ फूट-फूटकर रोए हों।

इसी प्रकार कौशल्या आदि माताएं राम के इस प्रश्न को सुनकर कि पिताजी तो सकुशल हैं न, एकसाथ रुदन करने लगती हैं—

तब पूछियो रघुराइ।
सुख है पिता तन माइ।
तब पुत्र को मुख जोइ।
क्रम तें उठीं सब रोइ॥[2]

प्रस्तुत छन्द में स्थायीभाव शोक, आश्रय कौशल्या आदि रानियां, आलम्बन मृत पति, उद्दीपन राम-दर्शन, अनुभाव रोना, संचारीभाव 'दशरथ-गुण-स्मृति', विषाद आदि के द्वारा करुणरस की कितनी सुन्दर व्यंजना हुई है।

जिस समय दुष्ट रावण माता जानकी का अपहरण करके उन्हें बलात् अपनी नगरी को ले जाने लगता है तो असहाय जानकी करुण क्रंदन करती हुई कहती है—

हा राम! हा रमण! हा रघुनाथ धीर!
लंकाधिनाथ बस जानहु मोहि वीर।
हा पुत्र! लक्ष्मन छुड़ावहु वेगि मोहि।
मारतंड वंस जस की सब लाज तोहि॥[3]

उक्त छन्द में स्थायी शोक, आश्रय सीता, आलम्बन 'प्रिय-वियोग', अनुभाव रोना, सिसकियां भरना, करुण क्रन्दन, संचारीभाव विषाद है जिसके द्वारा कवि-प्रवर केशवदासजी ने करुणरस का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

एक अन्य स्थल पर भी लक्ष्मण-मूर्छा के साथ राम का करुण क्रन्दन प्रस्तुत करते हुए कवि केशवदास ने निम्न चित्र अंकित किया है—

बारक लक्ष्मण मोहि विलोकौ।
मोकहँ प्रान चले तजि, रोकौ।
हौं सुमरों गुन केतिक तेरे।
सोदर पुत्र सहायक मेरे।
लोचन बाहु तुही धनु मेरौ।
तू बल विक्रम बारक हेरौ।

---

१. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द २७
२. रामचन्द्रिका, दशम प्रकाश, छन्द ३०
३. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छन्द २१

तो बिनु हौं पल प्रान न राखौं ।
सत्य कहौं कछु झूठ न भाखौं ।[१]

इस पद्यांश में स्थायीभाव शोक, आश्रय राम, आलम्बन लक्ष्मण का मूर्छित शरीर, उद्दीपन मूर्छित अनुज का दर्शन, अनुभाव सिसकियां, रोना, संचारीभाव विषाद एवं लक्ष्मण के गुणों का स्मरण है जिनके द्वारा करुणरस का सजीव चित्र अंकित किया गया है।

सीता को जब राम की भेजी हुई अंगूठी मिलती है तो अंगूठी के प्रति सीता का उपालंभ देखिए—

श्रीपुर में बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति ।
कहि मुँदरी अब तियन की को करिहै परतीति ।।[२]

शोक की कितनी सुन्दर अभिव्यंजना है। इसी प्रसंग में सीता-वियोग-जनित राम की कृशता भी दर्शनीय है—

तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन होति यहि नाम
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम ।।[3]

हास्यरस

रावण का यज्ञ ध्वंस करने के लिए भेजे गए वानर चित्रशाला में मन्दोदरी को ढूंढ़ते हैं। चित्रशाला में चित्र की सुन्दरियों को देखकर अंगद रावण की रानियां समझते हैं, उन्हें पकड़ने के लिए दौड़ते हैं, परन्तु पास जाकर उन्हें अपनी भ्रान्ति का ज्ञान होता है। इस बात को देखकर देव-कन्याएं हंस जाती है—

भगीं देखिकै संकि लंकेसबाला । दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला ।
तहां दौरिगौ बालि को पूत फूल्यौ । सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यौ ।
गहै दौरि जाकों तजै ता दिसा कौं । तजै जा दिसा कौं भजै वाम ताकौं ।
भलो कै निहारी सबै चित्रसारी । लहै सुन्दरी क्यों दरी को बिहारी ।
तजै दृष्टि के चित्र की सृष्टि धन्या । हँसी एक ताकौं तहीं देवकन्या ।।[४]

यहां देवकन्या आश्रय है और अंगद आलम्बन। अंगद का चित्र की पुतली को रानी समझकर पकड़ना उद्दीपन है।

हास्यरस के एक अन्य उदाहरण में कपट-वेषधारी श्रीकृष्ण के गले मिलने पर एक गोपिका का अन्य सखियों द्वारा परिहास कराया गया है—

आई है एक महावन तें तिय गावति मानो गिरा पगु धारी ।
सुन्दरता जनु काम की कामिनि, बोलि कह्यो वृषभानु दुलारी ।

---

१. रामचन्द्रिका, सत्रहवां प्रकाश, छन्द ४४-४५
२. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ८५
३. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ८७
४. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रभाव, छन्द २६, २७, २८

गोपिकै ल्याइ गुपालहि वै अकुलाइ मिली उठि आदर भारी।
केसव भेटत ही भरि अंक हँसी सब कीक दे गोपकुमारी।।[१]

इस छन्द में सखियां आश्रय, आलम्बन राधा, उद्दीपन स्त्री-वेषधारी श्रीकृष्ण का मिलन, अनुभाव कीक देना आदि, संचारी हर्ष और चपलता है जिसके द्वारा हास्यरस की सुन्दर अभिव्यक्ति कराई गई है। निम्न छन्दों में कृष्ण को उपहासास्पद किया गया है, यहां तक कि वे खिसिया जाते हैं—

सखि बात सुनो इक मोहन की निकसी मटुकी सिर री हलकै।
पुनि बाँधि लई सुनिए नतनारु कहूँ-कहुँ बुन्द करी छलकै।
निकसी उहि गैल हुते जहँ मोहन लीनी उतारि जबै चलकै।
पतुकी रही स्याम खिसाइ रहे उत ग्वारि हँसी मुख अंचल दै।[२]

अद्भुतरस

कहने की आवश्यकता नहीं कि केशवदासजी ने अद्भुत का वर्णन न्यूनतम मात्रा में किया है। उपलब्ध छन्दों में से हम निम्नलिखित को उद्धृत करते हैं—

केसोदास बाल वैस दीपति तरुनि तेरी,
बानी लघु बरनत बुधि परमान की।
कोमल अमल उर उरज कठोर जाति,
अबला पै बलबीर बन्धन-विधान की।
चंचल चितौनि चित्त अचल सुभाव साधु,
सकल असाधु भाव काम की कथान की।
बेचति फिरति दधि लेत तिन्हें मोल लेत,
अद्भुत रसभरी बेटी वृषभानु की।।[३]

प्रस्तुत पद में नायिका के अद्भुत सौन्दर्य का चित्रण है। पर्यवसित रूप में यह अद्भुत शृंगार का अंग हो जाता है।

शान्तरस

कवि केशव ने शान्तरस की भी बड़ी सुन्दर व्यंजना कराई है। यथा—वृद्धावस्था का वर्णन—

कँपै बर बानि डगै उर डीठि त्वचाऽति कुचै सकुचै मति बेली।
नवै नवग्रीव थके गति केशव बालक तें सँगहीं सँग खेली।
लिए सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा की सहेली।
भगै सब देह-दशा, जिय-साथ रहे दुरि दौरि दुरास अकेली।।[४]

---

१. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १६
२. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १७
३. रसिकप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छंद ३४
४. रामचन्द्रिका, चौबीसवां प्रकाश, छन्द ११

अर्थात् वाणी कांपने लगती हैं, दृष्टि डगमगाने लगती है, त्वचा अत्यन्त ढीली होकर सिकुड़ जाती है, वृद्धावस्था में जीव के साथ केवल एक दुराशा-मात्र छिपी हुई रह जाती है।

उक्त छन्द में स्थायीभाव निर्वेद, आलम्बन वृद्धावस्था, आश्रय व्यक्ति, उद्दीपन शरीरांगों की विकलता तथा परमार्थ-चिन्तन, संचारीभाव उद्वेग आदि के द्वारा कवि-प्रवर केशवदास ने शान्तरस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कराई है। संसार की असारता का एक चित्र और देखिए—

हाथी न साथी न घोरे न घेरे न गाउँ न ठाउँ कुठाउँ विलैहैं।
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूँ संग रैहैं।
केसव काम के राम बिसारत और निकामरे काम न ऐहैं।
चेति रे चेति अजौं चित अन्तर अन्तक लोक अकेलेही जैहैं॥[1]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य केशव का रसों पर पूर्ण अधिकार था। उनकी कृतियों में रसों का पूर्ण परिपाक पाया जाता है। हिन्दी के कुछ गण्य-मान्य कवियों की भांति उन्होंने किसी रस-विशेष को लेकर कविता नहीं की अपितु अपनी रचनाओं में सभी रसों का समावेश किया है। तथापि सर्वाधिक अवसर शृंगार को मिला है। रस-व्यंजना में उन्होंने स्वाभाविक, सजीव एवं आकर्षक चित्र अंकित किए हैं। शृंगाररस के रसराजत्व को दिखाते हुए अन्य रसों का शृंगार में सुन्दर रूप में अंतर्भाव किया है। उदाहरणों में जो सरसता एवं हृदयहारिता है वह कवि के हृदय की पूर्ण परिचायिका है। ऐसे कवि को कुछ उद्धरणों के आधार पर हृदयहीन कहना उस कवि के साथ अन्याय करना है।

केशव की अलंकार-योजना

केशव के काव्य में अलंकारों का विशेष स्थान है। यद्यपि 'रसिकप्रिया' में सिद्धान्ततः उन्होंने काव्य में रस का स्थान सर्वोपरि स्वीकृत किया है, किन्तु रसात्मा से अनुप्राणित कविता-वनिता को विशेष रूप से प्रभावशालिनी बनाने के लिए, विराजित करने के लिए अलंकारों का आवश्यक योग उन्हें अभिप्रेत है। रस एवं अलंकार के इसी मिले-जुले दृष्टिकोण का निदर्शन केशव का साहित्य है। हम यह बात कई स्थानों पर प्रतिपादित कर चुके हैं कि केशव संस्कृत-साहित्य-परम्परा की कड़ी में हिन्दी के कवि हैं। यह परम्परा केशव से कई शताब्दी पूर्व से ही कलाप्रमुख हो चली थी। विशेषकर इस युग में तो काव्य ही क्यों समस्त कलाएं जनता के सामान्य क्षेत्र से उठकर शानदार मुगलकालीन दरबारों में पहुंचकर अपने को वैभव की चमत्कारिणी गरिमा से मंडित करने लग गई थीं। केशव के काव्य का क्षेत्र भी दरबार ही था। कुटिया और कोर्ट (Court) के काव्य में बाह्य सज्जा की दृष्टि से अन्तर होना स्वाभाविक ही है। इन्हीं सब कारणों की दृष्टि से

१. रामचंद्रिका, सोलहवां प्रकाश, छंद २६

केशव के काव्य में अलंकारों ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। अलंकारों का आचार्यत्व-पक्ष केशवदास ने संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की भांति बड़े व्यापक अर्थ में ग्रहण किया था, जिसमें सामान्य एवं विशेष के भेद से वर्ण्य विषय एवं वर्णन-शैली दोनों पक्ष अन्तर्भूत किए गए थे। केशव की इस व्यापक अलंकार-दृष्टि को समझते हुए भी प्रस्तुत संदर्भ में हम अलंकार-शैली के रूप में ही प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन करेंगे।

केशव की समस्त रचनाओं में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इस अलंकार-प्रयोग की एक बहुत बड़ी विशेषता है विषय-वस्तु-सापेक्षता। उनकी रस-प्रधान रचनाओं में वर्णन-प्रधान रचनाओं के समान अलंकार-प्राचुर्य नहीं पाया जाता। उदाहरणस्वरूप हम 'रसिकप्रिया' एवं 'रामचन्द्रिका' को ले सकते हैं। प्रथम में दृष्टिरस प्रधान है, द्वितीय में वर्णन-वैभव प्रधान। फलतः 'रसिकप्रिया' में अलंकारों का प्रयोग रसभाव-सापेक्ष एवं बहुत संयत हुआ है। 'रामचन्द्रिका' में जहां वर्णन-वैभव चरम पर है, वहां अलंकार-प्रियता शिथिल प्रतीत होती है। संवादों में उक्ति-वैचित्र्य के कारण अलंकार-विधान की ओर कवि कम आकृष्ट हुआ है।

एक कवि के अलंकार-विवेचन की दृष्टि से हम 'कविप्रिया' को यहां छोड़ सकते हैं। 'कविप्रिया' एक काव्य-शिक्षा-सम्वन्धिनी रचना है। उसमें निरूपित अलंकारों का सम्बन्ध आचार्यत्व से ही अधिक है। हम उसके उदाहरणों पर यहां दृष्टि डाल सकते थे। किन्तु इन उदाहरणों का काव्य आचार्यत्व की छाया में ही पल्लवित हुआ है, जिसका विवेचन आचार्यत्व-सम्बन्धी पिछले अध्याय में हो चुका है। यद्यपि 'रसिकप्रिया' भी एक आचार्यत्व-सम्बन्धिनी रचना है, किन्तु 'कविप्रिया' के अलंकार-भाग की अपेक्षा 'रसिकप्रिया' में कवि का प्रकृत रूप अधिक अक्षुण्ण रहा है। अतः 'कविप्रिया' को छोड़ हम शेष रचनाओं में केशव की अलंकार-योजना पर विचार करेंगे।

केशव की अलंकार-योजना को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—चमत्कार-प्रधान अलंकार-योजना तथा भावानुगामिनी अलंकार-योजना। केशव-काव्य की दुरूहता, उनकी तथाकथित हृदयहीनता और अनौचित्य का आधार उनका श्लेषयुक्त अलंकार-विधान ही है।

केशव के आलोचक श्लेषमूलक अलंकारों के स्थलों में अनिवार्यतः रूप, गुण, क्रिया-साम्य का अभाव पाकर या प्रभाव-साम्य की कमी देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं अथवा श्लेषमूलक दो भिन्न अर्थों की सांग योजना की असफलता दिखाते हैं। वस्तुतः वे लोग साहित्य एवं साहित्यशास्त्र दोनों की अल्पज्ञता प्रकट करते हैं। इसके साथ ही एक बात और है, केशव का श्लेष-सम्बन्धी दृष्टिकोण विश्वनाथ, अप्पय आदि से कुछ भिन्न पड़ता है। हम आचार्यत्व-सम्बन्धी पिछले अध्याय में यह दिखा चुके हैं। यहां इतना ही फिर कहना चाहते हैं कि केशव का समस्त काव्य उनके आचार्यत्व की छाया में पल्लवित हुआ है। अतः केशव के श्लेषमूलक अलंकारोंवाले स्थल उन्हींके श्लेष-सम्बन्धी लक्षणों की छाया में समझने पर अधिक स्पष्ट होते हैं।

प्रायः केशवदासजी ने अलंकार-योजना में जागरूक, संयत एवं सामंजस्य की बुद्धि से काम लिया है। प्रायः उनके अलंकार या तो प्रकृत भाव के अनुरूप पड़ते हैं या प्रकृतवस्तु के चमत्कारपूर्ण वर्णन द्वारा प्रभाव डालना चाहते हैं। फिर भी कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहां चमत्कार की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है और खटकनेवाली स्थिति आ जाती है। किंतु ऐसे स्थल कम ही हैं। बीच की स्थिति में अर्थात् वस्तु के चमत्कारपूर्ण वर्णन में ही प्रायः केशव के अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

श्लेषमूलक अनेक स्थलों में दुरूहता भी पाई जाती है और ऐसे स्थलों में केशव को निस्संदेह अच्छी सफलता नहीं मिली। इसका एक कारण भाषा भी था। केशव ने संस्कृत में पढ़ा था, वे संस्कृत में ही सोचते थे, उनकी कल्पना में संस्कृत के साहित्य एवं कोशों से ही शब्द-चित्र आते थे। किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उन्हें हिन्दी में करनी पड़ती थी। यह एक विवशता थी और इस विवशता का उन्होंने उल्लेख भी किया है।[1] श्लेष के लिए संस्कृत भाषा जितनी समर्थ है उतनी हिन्दी नहीं, संभवतः संसार की कोई भाषा नहीं। सेनापति की सफलता भी भाषा की इसी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण अधूरी रह गई है। फिर केशव भाषा में तत्सम शब्दों के साथ-साथ अनेक तद्भव रूप भी बनाकर प्रयुक्त कर रहे थे। प्रायः श्लेष के दोनों पक्ष तत्सम रूपों में ही अधिक स्पष्ट होते हैं। जो पाठक संस्कृत-काव्यों की श्लेष-परम्परा से परिचित हो चुका हो वही अधिक सरलता से केशव की सराहना कर सकता था। केशव को अपने युग में ऐसा पाठक सुलभ था, आज दुर्लभ है। आज की रुचि भी बदल गई है।

केशव के श्लेष की इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए हम उनका उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते हैं—

भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर।
भूषन जराइ जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख सुखमा ससी की नैन,
अमल कमल-दल दलित निकाई है।
केसोदास प्रबल करेनुका गमन हर।
मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई है।
अंबर-बलित मति भो है नीलकण्ठ जू की,
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है।।[2]

प्रस्तुत पद केशव के शताधिक पदों का प्रतिनिधि है। इसकी शैली पर अनेक पदों

---

१. भाषा बोल न जानई जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति तिहि कुल 'केसवदास'।।
—कबिप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १७

२. कविप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द ३२

की रचना केशव ने की है। अतः इसकी अलंकार-पद्धति का कुछ अधिक विवेचन आवश्यक है।

इस पद में प्रधान अलंकार है 'सन्देह', जो अंतिम पंक्ति 'कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है' द्वारा व्यक्त हुआ है। अतः समस्त पद में श्लेष को प्रधान मानकर प्रत्येक शब्द के दोहरे अर्थ खोजना भूल होगी। जब लोग इसमें श्लेष को प्रधान मानकर प्रत्येक शब्द के दोहरे अर्थ खोजते हैं तो उन्हें 'द्रविड़प्राणायाम' करना पड़ता है। फिर वे लोग केशव में अस्पष्टता, दुरूहता आदि के दोषारोपण करते हैं। प्रथम पंक्ति में सुरचाप में भौंहों का आरोप, पयोधर (मेघों) में पयोधर (उरोजों) का श्लिष्ट आरोप तथा तड़ित रलाई में भूषणों की ज्योति का आरोप है। अतः सीधे तीन रूपक हैं, एक रूपक में श्लेष अंगभूत है। द्वितीय पंक्ति में वर्षा में छिपे हुए चन्द्रमा और दलित कमलों के विषय में हेतूत्प्रेक्षा की गई है कि कालिका के मुख एवं नेत्रों के सौंदर्य के प्रभाव से ऐसा हुआ है। प्रतीप इस हेतूत्प्रेक्षा का अंग हैं। वर्षा में चन्द्र का छिपना सत्य है, कमलों का मलिन होना कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध। स्वतःसम्भवी एवं कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध दोनों प्रकार के अर्थों की हेतु-कल्पना की गई है। 'प्रबल करेनुका गमन हर' तथा 'मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई' को 'प्रबलकरेणुकागमनहरा' तथा 'मुक्तसुहंसकशब्दा' के समासमय रूप में यदि पाठक समझ सकता है तो उसे कोई कठिनाई नहीं। इसके लिए उसे निस्संदेह संस्कृत भाषा तथा संस्कृत-साहित्य का ज्ञान चाहिए। अंबर वलित भी वलिताम्बरा के अपने संस्कृत रूप में ठीक समझ पड़ सकता है। तीनों पदों में श्लेष अलंकार है। प्रत्येक पद के दोहरे अर्थ है। एक वर्षा-पक्ष में, दूसरा कालिका-पक्ष में। नीलकण्ठ शब्द भी श्लेषयुक्त है। इस प्रकार प्रथम तीन पंक्तियों में रूपक, श्लिष्ट-अश्लिष्ट प्रतीप, पुष्ट हेतूत्प्रेक्षा तथा श्लेष अलंकार हैं; किन्तु ये सब अलंकार स्वतन्त्र नहीं, अपितु चतुर्थ पंक्तिगत सन्देह के अंग हैं। अलंकार-विवेचन की इस पद्धति को ठीक-ठीक न समझनेवाले आलोचक समस्त पद में श्लेष मानकर व्यर्थ पचते हैं। केशव के काव्य को समझने के लिए उनकी यह श्लेष-शैली जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्णनात्मक स्थलों में प्रायः केशव ने इसी चमत्कार-विधायिनी शैली से काम लिया है। इस प्रकार के काव्य का स्थान मध्यम कोटि का है। रसप्रधान काव्य उत्तम कोटि में तथा कोरा शब्दप्रधान काव्य अधम कोटि में आता है। केशव का अधिकांश काव्य मध्यम कोटि में ही समा जाता है। हम चमत्कार-सम्बन्धी उनका एक स्थल और प्रस्तुत करते हैं जो 'रामचन्द्रिका' के दण्डकवनी-वर्णन से उद्धृत है—

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ।
है सुभगा सम दीपति पूरी।
सिन्दूर कौं तिलकावलि रूरी।

राजति है यह ज्यौं कुलकन्या।
धाइ विराजति है सँग धन्या।।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में दण्डकवनी उपमेय के लिए तीन उपमान पाण्डव-प्रतिमा, सुभ्रा नारी तथा कुलवती कन्या सामने किए गए हैं। उपमान और उपमेय के बीच रूप, गुण, क्रिया में से किसीको आधार न बनाकर केवल शब्द-साम्य को आधार बनाया गया है। अर्जुन, भीम, सिंदूर, तिलक तथा धाय शब्दों के श्लिष्ट प्रयोग से तीन उपमाएं कवि ने रखी हैं। जहां तक प्रभाव-साम्य की बात है तीनों उपमान महत्त्व एवं सौंदर्य की भावना मन में जगाते हैं। दण्डकवनी के सुन्दरपक्ष की यत्किंचित् भावना मन में लाने में ये उपमान सहायक ही कहे जाएंगे। किन्तु कवि का मुख्य उद्देश्य शब्द-चमत्कार द्वारा प्रभावोत्पादन ही है। इस स्थल में प्रधान अलंकार है उपमा, श्लेष उसका अंग है। यह काव्य भी साहित्यशास्त्र के वर्गीकरण के अनुसार मध्यम कोटि का ही है। प्रायः वर्णनात्मक स्थलों में केशव के काव्य का यही मूल्यांकन है तथा अलंकार-योजना का यही स्वरूप है।

अनेक स्थलों पर केशव की अलंकार-योजना प्रस्तुत भावोपयोगिनी एवं सूक्ष्म निरीक्षणपूर्ण भी है। भावात्मक स्थलों में केशव के अलंकार भाव-प्रवणता का परिचय देते हैं। वियोगिनी सीता का यह चित्र अपनी अप्रस्तुत योजना में ही अधिक मर्मस्पर्शी है—

धरे एक बेनी मिली मैल सारी। मृनाली मनो पंक तें काढ़ि डारी।।
सदा राम नामै ररै दीन बानी। चहूँ ओर हैं राकसी दुःखदानी।।
ग्रसी बुद्धि सी चित्तचितानि मानौ। किधौं जीभ दंतावली में बखानौ।।
किधौं घेरि कै राहु नारीन लीनी। कला चन्द्र की चारु पीयूष-भीनी।।[2]

एकवेणीधरा, मलिन साड़ी-धारिणी, कुम्हलाई सीता के लिए पंक से निकालकर फेंकी हुई मृणालिनी की उत्प्रेक्षा अत्यन्त मर्मस्पर्शिनी है। राक्षसियों से ग्रस्त सीतादेवी चिन्ताग्रस्त बुद्धि के रूप में, दन्तावलि के बीच फंसी जिह्वा के रूप में तथा राहु-नारियों से घिरी चन्द्रकला के रूप में उत्प्रेक्षित की गई है। सन्देह इन मर्मस्पर्शक्षम उत्प्रेक्षाओं की कड़ी जोड़ने का काम कर रहा है। सभी अप्रस्तुत अत्यन्त भाव-सापेक्ष हैं।

लंका-गमन करते हुए हनुमान के चित्र की अप्रस्तुत योजना में भी सूक्ष्म निरीक्षण तथा विभिन्न अनुरूप प्रभावों की समंजस योजना हुई है।[3] जब आकाश में कोई वस्तु अधिक तीव्र गति से उड़ती है तो गतितीव्रता के कारण एक रेखा-सी बनती चली जाती है। हनुमान भी नभःशिला के ऊपर एक लीक-सी छोड़ते चले जा रहे थे। तीव्र गति के कारण वे हरिवाहन गरुड़-से तथा स्वर्णिम वर्ण के कारण ब्रह्मा के हेमहंस-से प्रतीत हो रहे थे। रूप, गुण, क्रिया के त्रिविधसाम्य की सुन्दर योजना केशव ने एक ही पंक्ति में

१. रामचन्द्रिका, एकादश प्रकाश, छन्द २१
२. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ५३, ५४
३. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ३८

प्रस्तुत की है।

परम्परायुक्त उपमानों का तो मुक्त प्रयोग केशव ने किया ही है। नवीन उपमानों के ऊपर भी उनकी दृष्टि जाती रही है। प्रस्तुत पद में आसमान में छूटी हवाई और कमान के गोले की कल्पना बंधी-बंधाई लीक-मात्र पर चलनेवाले कवियों में नहीं आ सकती।

परम्परायुक्त अप्रस्तुतों को लेकर कवि लोग प्रस्तुतों से सर्वदा साम्य ही स्थापित नहीं करते, उनमें वैधर्म्य दिखाकर प्रतीप, व्यतिरेक, अनन्वय आदि अनेक अलंकारों की सृष्टि भी करते हैं। इस प्रकार के वर्णनों में चमत्कार-सौंदर्य तो होता ही है, भाव के साथ लगाव भी होता है। इनमें कवि-प्रसिद्धि एवं कवि-प्रौढ़ोक्ति दोनों के सम्मिश्रण से अनूठा चमत्कार आ जाता है। सीता की सखियों द्वारा उनके मुख पर केशव की यह कवि-प्रौढ़ोक्ति दर्शनीय है—

एकै कहैं अमल कमल मुख सीताजू को,
एकै कहैं चन्द सम आनन्द को कन्द री।
होइ जौं कमल तौ रयनि में न सकुचै री,
चंद जौ तो बासर न होइ दुति मंद री।
बासर ही कमल रजनि ही में चंद, मुख,
बासर हू रजनि हू बिराजै जगबंद री।
देखे मुख भावै अनदेखई कमल चंद,
तातें मुख मुखै सखी कमलै न चंद री॥[1]

अन्तिम पंक्ति में वर्णित 'मुख मुखै' में अनन्वय अलंकार है। इस अनन्वय की सिद्धि के लिए कवि मुख के प्रचलित उपमानों में से दो प्रतिनिधि उपमान कमल और चन्द्र चुन लेता है। समस्त पद्य में वाक्यार्थमूलक काव्यलिंग द्वारा कवि कमल और चन्द्र की साम्यविधान-सामर्थ्य का तिरस्कार करता हुआ अन्त में यही सिद्ध करना चाहता है कि मुख का सौन्दर्यातिशय अनुपमेय है 'तातें मुख मुखै, सखि कमलै न चन्द री'। इस प्रकार काव्यलिंग अनन्वय का अंग है। ऊपर की पंक्तियों में तीन अलंकार हैं—हेतु, प्रतीप, व्यतिरेक। यदि मुख कमल होता तो रात्रि में संकुचित न हो जाता। यदि चन्द्र-तुल्य होता तो दिन में वह मंदद्युति नहीं होता। यह उक्ति कमल तथा चन्द्र की साम्य-शक्तिहीनता का हेतु है। 'वासर ही कमल रजनि ही में चन्द्र' शोभित होते हैं। किन्तु मुख तो 'वासर हू रजनि हू विराजै जग बन्द री' यह व्यतिरेक हुआ। फिर कवि प्रतीप शैली अपनाता है। कमल और चन्द्र का सौंदर्य तो अप्रत्यक्ष है, वे अनदेखे ही भाते हैं। मुख तो साक्षात् दृश्यमान होकर सौंदर्यानुभूति करा रहा है। अतः चन्द्र और कमल का सौंदर्य मुख-सौंदर्य से हीन है। परिस्थिति एवं कवि की भावना का ध्यान न रखकर अथवा

१. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द ४२

जान-बूझकर शुक्लजी ने इस पद की इस पंक्ति को उठाकर जो केशव पर हृदयहीनता का आरोप किया है वह सर्वथा असमीचीन है।

यमक और अनुप्रास की छटा निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है। कठोर टवर्गीय ध्वनि से भी कोमल व्यंजना की अभिव्यक्ति में व्याघात नहीं हुआ।

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हूँ घटी, जग जीव जतीनि की छूटि तटी।
अघ ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी।
चहुं ओरनि नाचति मुक्ति नटी, गुण धूरजटी वन पंचवटी।

इस पद में शब्दश्लेष नहीं, अर्थश्लेष है और उसके दोनों पक्ष स्पष्ट हैं। प्रभाव-साम्य की दृष्टि से भी कवि सफल है, दुःख-दुपटी, जग-तटी, अघ-बेड़ी, ज्ञान-गटी तथा मुक्ति-नटी के रूपक भी बड़े ही भावपूर्ण हैं किन्तु यमक और अनुप्रास के भार से छन्द इतना दब गया है कि विवेचित अर्थ-सौन्दर्य पर दृष्टि देर में ही जाती है।

केशव के अलंकार-प्रयोग की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वे एक-एक छन्द में कई-कई अलंकार बड़ी ही सफलता से गूंथ सकते हैं। अनेक स्थल उनकी रचनाओं में ऐसे भरे पड़े हैं कि जहां एकाधिक अलंकारों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। हम यहां केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं--

विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस,
विविध बिबुधजुत मेरु सो अचलु है।
दीपति दिपति अति सातो दीप दीपियतु,
दूसरे दिलीप सो सुदक्षिना को बलु है।
सागर उजागर की बहु बाहिनी को पति,
छनदानप्रिय किधौं सूरज अमलु है।
सब विधि समरथ राजै राजा दसरथ,
भगीरथपथगामी गंगा कैसो जलु है।[1]

इस छन्द में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, उल्लेख, श्लेष तथा कई प्रकार के अनुप्रासों का बड़ा ही सफल एवं संसृष्ट प्रयोग हुआ है।

भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर।
भूषन जराइ जोति तड़ित रलाई है,
.......................................[2]

पूर्वोद्धृत इस पद्य में भी एकाधिक अलंकारों का संकर है यह हम दिखा चुके हैं।

केशव की अलंकार-योजना का यह सामान्य विवेचन हो चुका है। यहां हम उनके

---

१. रामचंद्रिका, दूसरा प्रकाश, छंद १०
२. कविप्रिया, सातवां प्रकाश, छंद ३२

कुछ प्रमुख अलंकारों को लेकर उनकी योजना-पद्धति को समझाने की चेष्टा करेंगे। केशव के बहुप्रयुक्त अलंकार हैं––उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, सन्देह, श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास एवं अतिशयोक्ति। इनमें श्लेष के ऊपर हम पर्याप्त विस्तार से पीछे विचार कर चुके हैं अतः उसे छोड़ सकते हैं। शेष सात अलंकारों को क्रमशः लेते हैं।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा में कवि-कल्पना की विविध तरंगों को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त होता है। केशव की उत्प्रेक्षाओं में भी कल्पना की ऊंची उड़ानें भरी पड़ी हैं। केशव की उत्प्रेक्षाओं के विषय में प्रो० पंडित जगन्नाथ तिवारीजी ने ठीक ही कहा है कि "केशव एक-एक दृश्य लेकर उत्प्रेक्षा और सन्देह की लड़ी-सी बांध देते हैं।"[1] यहां कुछ उत्प्रेक्षाओं के दृश्य प्रस्तुत हैं। रावण के हाथ पड़ी हुई सीता का यह चित्र कितना कल्पना-प्रवण है–

धूमपुर के निकेत मानो धूमकेतु की,
सिखा कै धूमजोनि मध्य रेखा सुधाधाम की।
चित्र की सी पुत्रिका कै रूरे बगरूरे माहिं,
संबर छड़ाइ लई कामिनी कै काम की।
पाखँड की श्रद्धा कै मठेसबस एकादसी,
लीनी कै स्वपचराज साखा सुद्ध साम की।
केसव अदृष्टसाथ जीवजोति जैसी तैसी,
लंकनाथ हाथ परी छाया जाया राम की॥[2]

'नख-शिख' में नायिका की दन्तावली का चित्र भी अनुरंजक है।[3]

परम्पराभुक्त उपमानों के साथ-साथ पौराणिक गाथाओं का भी पूर्ण उपयोग किया गया है। रामचन्द्रिका में सीता की दासियों के स्वरूप-वर्णन में उनके भाल पर लगी, भृकुटियों के मध्य तिलक-रेखा पर क्रीड़ा करती हुई यमुना और सूर्य की ओर बढ़े हुए उनके हाथ की कल्पना की गई है––

भृकुटी कुटिल बहु भाय न भरी।
भाल लाल दुति दीसत खरी।
मृग मद तिलक रेख जु बनी।
तिनकी सोभा सोभति घनी।
जनु जमुना खेलति सुभगाथ।
परसन पितहि पसारे हाथ॥[4]

'विज्ञानगीता' में वाराणसी-वर्णन में उत्प्रेक्षित अप्रस्तुत वाराणसी के महत्त्व को

---

१. पं० जगन्नाथ तिवारी, संक्षिप्त रामचंद्रिका की भूमिका, पृ० ३१
२. रामचंद्रिका, बारहवां प्रकाश, छंद २०
३. नखशिख—दन्त-वर्णन, छंद १३
४. रामचंद्रिका, इकतीसवां प्रकाश, छन्द १०-११

और भी चौगुना कर देता है।[1]

अनेक स्थलों पर उत्प्रेक्षित अप्रस्तुत बड़े सूक्ष्म निरीक्षण के साथ भी संजोए गए हैं। 'वीरसिंहदेवचरित' में अबुलफजल की मृत्यु पर अकबर की आंखों में झलमलाते हुए अश्रुकणों का यह चित्र बड़ा स्वाभाविक है—

चंचल लोचन जल झलमलै।
पवन पाइ जनु सरसिज हलै॥[2]

अयोध्या में फहराती हुई अरुण ध्वजाओं पर यह उत्प्रेक्षा कल्पना का मधुर, सूक्ष्म एवं गोचर प्रत्यक्षीकरण कराती है—

बहु वायु वस वारिद बहोरहि उरभि दामिनि-दुति मनो।[3]

कवि की कल्पना है कि जो दामिनि-द्युतियुक्त मेघावलियां आया करती हैं वे तो प्रचंड वायु के वश होकर बह गई, उड़ गई किन्तु उनकी अरुण दामिनि-द्युतियां उच्च आवासों के शिखरों में उलझकर रह गई हैं। वस्तुतः केशव के समस्त ग्रंथों में आई उत्प्रेक्षाएं उनकी सतरंगी, प्रौढ़ एवं उच्च कल्पनाओं का ठीक उसी भांति प्रमाण हैं जिस प्रकार श्लेष उनकी चमत्कार-प्रवणता का।

उपमा

साम्यमूलक अलंकारों में उपमा का एक विशिष्ट स्थान है। केशव का साहित्य उपमाओं से भरा पड़ा है; जिनमें चमत्कारवाले अनेक स्थल तो हैं ही, अनेक स्थल भावुकता तथा सूक्ष्म निरीक्षण का भी पता देते हैं। उपमा में रूप, गुण, क्रिया तथा केवल शब्द सभीको औपम्य का आधार बनाया गया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

अर्थश्लेष के आधार पर आई हुई उपमाओं द्वारा विरहिणी नायिका का यह चित्र अत्यन्त निखरा हुआ है—

भौंरिनी ज्यों भ्रमत रहति बनबीथिकानि हंसिनी ज्यों मृदुल मृनालिका चहति है।
हरिनी ज्यों हेरति न केसरी के काननहिं, केका सुनि व्यालि ज्यों बिलान ही कहति है।
पिउपिउ रटति रहति चित्त चातकी ज्यों, चंद चितै चकई ज्यों चुप ह्वै रहति है।
सुनहु नृपति राम विरह तिहारे ऐसी, सूरतिन सीता जू की मूरति गहति है॥[4]

विरहिणी राधा की झांकी भी भावानुकूल उत्प्रेक्षा से समन्वित है।[5]

कहीं-कहीं केशव की दृष्टि पूर्ण व्यापार पर भी गई है और उसकी बड़ी ही भावानुरूप योजना की गई है। अबुलफजल की मृत्यु पर अकबर की आंसू-झरती आंखों के लिए रहटघरी का चित्र बड़ा ही मोहक है—

---

१. विज्ञानगीता, एकादश प्रभाव, छन्द ३
२. वीरसिंहदेवचरित, ना० प्र० स०, पृ० ३९
३. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ३९
४. रामचन्द्रिका, चौदहवां प्रकाश, छन्द ३९
५. रसिकप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द १७

भरि भरि रीति रीति, रीति रीति भरे पुनि।
रहट घरी सी आंख साहि अकबर की॥[1]

प्राकृतिक वस्तु-वर्णनों में प्रयुक्त उपमान-योजना में प्रायः केशव का ध्यान बिम्ब-ग्रहण की ओर न रहकर, चमत्कारपूर्ण वर्णन की ओर रहा है। अतः केशव में श्लेषमूलक उपमाओं की पाण्डित्यपूर्ण योजना मिलती है। दण्डकवनी का यह अत्यन्त प्रसिद्ध वर्णन ही ले लीजिए—

शोभत दण्डक की रुचि बनी। भांतिन भांतिन सुन्दर घनी॥
सेव बड़े नृप की जनु लसे। श्रीफल भूरि भाव जहँ बसे॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहां जगमगै॥
नैनन कों बहु रूपनि ग्रसे। श्रीहरि की जनु मूरति लसे॥[2]

इन पंक्तियों में यदि अन्तिम पंक्ति के 'जनु' का आग्रह मानकर उत्प्रेक्षा कहें तो ऊपर दो उपमाएं आती हैं जिनमें औपम्य का आधार है श्रीफल और अर्कसमूह शब्दों का प्रयोग। यहां शब्द ही साधारण धर्म है। इसके अतिरिक्त सेव, वेर, नैन, वृक्षवाची शब्दों का प्रयोग मुद्रा-अलंकार के रूप में हुआ है। पूर्वार्धालियों में जो लोग श्लेष समझते हैं उन्हें खींचतान करनी पड़ेगी ही। यहां श्लेष प्रधान अलंकार है ही नहीं, प्रधान अलंकार है उपमा। केशव की अलंकार-पद्धति का ठीक ज्ञान न होने से यह गड़बड़ी पड़ती है।

सारांश यह कि केशव की उपमाओं में अनेक उदाहरण भावुकता एवं सूक्ष्म निरीक्षणपूर्ण भी हैं और अनेक चमत्कारपूर्ण भी। चमत्कारी स्थलों में प्रायः अंगभूत श्लेष के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। ऐसे स्थानों में भी दुरूहता नहीं। दुरूहता केवल उन लोगों के सामने आती है जो अंगी और अंगभूत अलंकार का विवेक नहीं कर सकते।

रूपक

रूपक भी केशव का प्रिय अलंकार है। रूपकों में निरंग, सांग, परम्परित, श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट सभीका सफल प्रयोग मिलता है। 'रामचन्द्रिका' के निम्न वर्णन में संशय में चिता का, कोप में फुफकारते सर्प का, काम में सागर की लहरियों का तथा यौवन में चोर का आरोप ऐसा ही है—

जारति चित्त चिता-दुचिताई। दीह त्वचा अहि-कोप चबाई।
काम समुद्र झकोरिन झूल्यो। जोवन चोर महाप्रभु भूल्यो।[3]

इसी प्रसंग में काम में पिशाच का रूपक भी दर्शनीय है।[4]

कभी-कभी इस नश्वर जगत् में सुखभावना भी हो उठती है। किन्तु जैसे ही वह कुछ सांसारिक सुखों को समझ पाता है, समय-रूपी चूहा उसके जीवन-पट के तंतुओं को

---

१. वीरसिंहदेवचरित, ना० प्र० स०, पृ० ४०
२. रामचंद्रिका, एकादश प्रभाव, छंद १९-२०
३. रामचंद्रिका, चौबीसवां प्रकाश, छंद ५
४. रामचंद्रिका, चौबीसवां प्रकाश, छंद ६

झट से काट देता है—

जो केहूं सुख भावना कहू कों जग होति।
काल-आखु पटतन्तु ज्यों तबहीं काटत जोति ।।[१]

'विज्ञानगीता' में भी ज्ञान एवं अज्ञान की उभयपक्षीय सामग्रियों पर बांधे हुए अनेक रूपक बड़े ही सफल हैं तथा प्रभाव-साम्य को ध्यान में रखकर बांधे गए हैं। आरोपित प्रतीकों के रूप में तो 'विज्ञानगीता' की रचना ही हुई है। अनेक निरंग तथा सांग आरोपों से यह रचना भरी पड़ी है। संसार में पेट की समस्या बड़ी भयंकर है। इसके चक्कर से कौन बचा है। उदर पर सागर का यह रूपक देखिए—

तृषा बड़ी बड़वानलो, क्षुधा तिमिंगिल क्षुद्र।
ऐसे को निकसै जु परि, उदर उदार समुद्र ।।[२]

सांग रूपकों में प्रायः रूप, गुण, क्रिया का साम्य नहीं देखा जाता।

केशव के अनेक रूपक चमत्कारवाले लक्ष्य को भी लेकर चले हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

चढ़यौ गगन तरु धाइ दिनकर वानर अरुनमुख।
कीन्हों झुकि झहराइ सकल तारका कुसुम बिन ।।[3]

संदेह

अपनी कल्पना के चित्रों की विविधता के लिए केशव ने सन्देहालंकार का प्रचुर प्रयोग किया है। सन्देह के सहारे वे उत्प्रेक्षाओं की लड़ी जोड़ते चले जाते हैं। वस्तुतः ऐसे स्थलों में स्वयं संदेह में सौंदर्य अथवा चमत्कार नही होता, अपितु उन उत्प्रेक्षाओं की अथवा अन्य अलंकारों की योजना में होता है। इस शैली को स्पष्ट करने के लिए केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

अरुन गात अतिप्रात पद्मिनी-प्राननाथमय,
मानहु केसवदास कोकनद कोक प्रेममय।
परिपूरन सिन्दूर पूर केधौं मंगलघट,
किधौं सक्र को छत्र मढ़यो मानिक मयूख पट।
कै श्रोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल केधों लसत दिग्भामिनि के भाल को ।।[४]

उपर्युक्त छंद में केशव ने सूर्य के सुन्दर एवं भयंकर दोनों पक्षों को लेकर सन्देह के सहारे कई उत्प्रेक्षाएं प्रस्तुत की है।

---

१. रामचंद्रिका, चौबीसवां प्रकाश, छंद २३
२. विज्ञानगीता, तृतीय प्रभाव, छन्द २९
३. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द १३
४. रामचंद्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द १०

परिसंख्या

बाण की ही भांति केशव को भी नगरों, वनों आदि के वर्णनों में श्लिष्ट-अश्लिष्ट परिसंख्याएं बड़ी प्रिय हैं। जिसे थोड़ा भी संस्कृत-साहित्य का परिचय है केशव की परिसंख्याओं की सराहना किए बिना नहीं रह सकेगा।

मूलन ही की जहां अधोगति 'केसव' गाइय।
होम हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कवि कुल के जी में॥[1]

रामराज्य में भ्रम ही भ्रमित है, शोक ही सशोक है, दुःख ही दुःखी है, ताप ही तप्त है और दारिद्रय ही दरिद्र है। प्रजा इन संकटों से मुक्त है।[2]

'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' में भी जहांगीर की शासन-व्यवस्था का वर्णन परिसंख्या द्वारा किया गया है।[3]

परिसंख्याओं के प्रयोग में कवि संस्कृत-साहित्य से, विशेषकर बाण की 'कादम्बरी' से, प्रभावित हुआ है। उसने श्लिष्ट, अश्लिष्ट, उभयविध परिसंख्याओं का प्रयोग किया है। किन्तु अधिकता के साथ नहीं। इस अलंकार के प्रयोग में केशव को अच्छी सफलता मिली है।

विरोधाभास

परिसंख्या के समान ही इस अलंकार का प्रयोग भी बहुत अधिक नहीं है। किन्तु जितना भी है, प्रायः भावोपयोगी चमत्कार-विधायक है। केशव अनेक स्थलों में विरोध की रचना श्लेष की छाया में भी करते हैं।

जनक की जिज्ञासा शान्त करते हुए विश्वामित्रजी राम-लक्ष्मण का परिचय देते हुए कहते हैं—

दानिन के सील पर दान के प्रहारी दिन,
दानवारि ज्यों निदान देखिजै सुभाय के।
दीप, दीप हू के अवनीपन के अवनीप,
पृथु सम 'केसोदास' दास द्विज गाय के।
आनन्द के कंद सुर पालक से बालक ये,
परदारप्रिय साधु मन बच काय के।
देह धर्मधारी पै विदेहराजजू से राज,
राजत कुमार ऐसे दसरथ राय के॥[4]

---

१. रामचंद्रिका, प्रथम प्रकाश, छंद ४८
२. रामचन्द्रिका, सत्ताईसवां प्रकाश, छंद ५
३. जहांगीर-जस-चंद्रिका, छंद संख्या ३५, पृ० सं० १४
४. रामचंद्रिका, पांचवां प्रकाश, छंद ३१

इसी प्रकार रामस्तुति-वर्णन में भी कवि ने विरोधाभास का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है।[1] गोदावरी के वर्णन में भी एक सुन्दर विरोधाभास मिलता है—

विषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देति
केशव जीवन हाट को, दुख अशेष हरि लेत।[2]

'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' में भी विरोधास के कुछ सफल प्रयोग मिलते हैं।[3]

अतिशयोक्ति

किसी राजा के वैभव के वर्णनों में, किसी नायिका के सौंदर्य अथवा विरह के चित्रों में, युद्ध आदि के वर्णनों में कवियों को अतिशयोक्तियां बड़ी प्रिय होती हैं। अतिशयोक्तियों द्वारा कवि वर्ण्यवस्तु का गहरा प्रभाव डालना चाहता है। केशव ने राजवैभव, सौंदर्य, विरह, युद्ध आदि के वर्णनों में अतिशयक्तियां का प्रयोग किया है। वर्णन-प्रसंग एवं वर्ण्यवस्तु के अभीष्ट प्रभाव को ध्यान में रखकर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि केशव को इसके प्रयोग में भी सफलता मिली है। नीचे अतिशयोक्ति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

रामचन्द्रिका का कुम्भकर्ण-युद्ध का प्रसंग है—

सँभारचौ घरी एक द्वै में भरू कै।
फिर्यौ रामहीं सामुहें सो गदा लै।
हनूमन्तजू पूँछि सौं लाइ लीन्हो।
न जान्यौ कबै सिन्धु में डारि दीन्हो।[4]

मूर्छा के उपरान्त चेत आने पर कुम्भकर्ण अपनी गदा लेकर राम की ओर झपटा, किन्तु हनुमान ने उसकी गदा को अपनी पूंछ में लपेट ऐसी शीघ्रता से समुद्र में फेंक दिया कि स्वयं कुम्भकर्ण भी न जान सका।

रामराज्य के प्रसंग में हुआ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी बड़ा प्रकृतभाव सापेक्ष है।[5]

रसिकप्रिया की कामाभिसारिका का यह वर्णन भी द्रष्टव्य है—

उरझत उरग चपत चरननि फन,
देखत विविध निसिचर दिस चारि कै।
गनति न लागत मुसलधार सुनत न,
झिल्लीगन घोष, निरघोष जलधारि के।

---

१. रामचंद्रिका, सत्ताईसवां प्रकाश, छंद २
२. रामचंद्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छंद २६
३. जहांगीर-जस-चंद्रिका, छंद ३३, पृष्ठ १३,
हस्तलिखित याज्ञिक संग्रहालय, का० ना० प्र० सभा
४. रामचन्द्रिका, अठारहवां प्रकाश, छन्द २६
५. रामचन्द्रिका, अट्ठाईसवां प्रकाश, छन्द २

जानति न भूषन गिरत, पट फाटत न।
कंटक अटकि उर उरज उजारि के।
प्रेतनि की पूछें नारि कौन पै तें सीख्यौ यह।
जोग कैसो सारु अभिसारु अभिसारिके।[1]

राजवैभव-वर्णन में अतिशयोक्ति-प्रयोग की दृष्टि से 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' के अनेक स्थल द्रष्टव्य हैं। जहांगीर के सभासद धीर के दान का वर्णन इसी अतिशयोक्ति द्वारा हुआ है।[2]

नायिका के सौन्दर्य का यह अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी कम चमत्कारोत्पादक नहीं—

चलिहै क्यों चन्द्रमुखी कुचनि के भार भएँ।
कचन के भार तें लचकि लंक जाति है।[3]

अश्वमेध-वर्णन में निम्न अतिशयोक्ति द्वारा रथ-पताकाओं की उच्चता की व्यंजना की गई है—

सूर तुरंगन के उरझै पग तुंग पताकन की पट साजनि।[4]

इनके अतिरिक्त विभावना, अपह्नुति, स्वभावोक्ति, प्रतीप, समाहित, सहोक्ति, उदात्त, संकर तथा सृष्टि आदि भी केशव के प्रिय अलंकार हैं।

वस्तुतः केशव-प्रयुक्त किसी भी अलंकार की सूची बहुत दूर तक बढ़ाई जा सकती है। यहां हमारा उद्देश्य उनके प्रत्येक अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करना-मात्र नहीं। हमने केवल कुछ अलंकारों और उनके उदाहरणों को लेकर उनकी अलंकार-योजना का मूल्यांकन किया है। रसभाव-प्रधान स्थलों में उनका अलंकारों का आग्रह नहीं रहता। वर्णन-प्रधान स्थलों में अलंकार-चमत्कार ही प्रभावोत्पादन का प्रमुख साधन बनाया गया है जिसमें केशव को पर्याप्त सफलता मिली है। सब मिलाकर केशव के अलंकारों में उनके पाण्डित्य, अध्ययन, कौशल एवं चमत्कार की गहरी छाप है, जो एक सुदीर्घकाल से पाठक के हृदय का चमत्कारपूर्ण अनुरंजन करती चली आ रही है।

केशव का प्रकृति-चित्रण

मनुष्य का जन्म और उसका विकास प्रकृति के मध्य प्रकृति के ही सम्पर्क और सहचार में हुआ है। वह आदिकाल से मनुष्य के क्रिया-कलापों की क्रीड़ास्थली रही है। प्रकृति की ही सुरम्य क्रोड़ में मनुष्य नेत्र खोलता है और मृत्युपर्यन्त उसीकी लीलाभूमि पर अपने जीवन के नाना खेल खेला करता है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति का घनिष्ठ

---

१. रसिकप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द ३२
२. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, छन्द सं० ८७, हस्तलिखित याज्ञिक संग्रहालय, ना० प्र० स० काशी
३. कविप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १०
४. रामचंद्रिका, पैंतीसवां प्रकाश, छन्द ८

संबंध है। प्रकृति का अनन्त वैभव मनुष्य के लिए आश्चर्य, कौतूहल, श्रद्धा, अनुराग आदि विभिन्न भावनाओं का विषय रहा है और साहित्य में भी इसी कारण प्रकृति का प्रमुख स्थान है। साहित्य में प्रकृति के भव्य और सुरम्य दृश्यों का नाना प्रकार से प्रयोग किया गया है। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने तो प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत जागरित भावों को उद्दीप्त करनेवाले रूप में ही माना है। और नियम निर्धारित कर दिए हैं कि इसी रूप में प्रकृति के कुछ विशिष्ट अंगों जैसे वन, उपवन, जलाशय, काल, ऋतु आदि का महाकाव्यों में वर्णन हो; किन्तु प्राचीन संस्कृत-साहित्य में प्रकृति के उद्दीपनरूप के अतिरिक्त आलम्बनरूप में यथातथ्य चित्रण, और अलंकरणरूप में प्रकृति का प्रचुर प्रयोग भी मिलता है। मनुष्य के कार्य-कलापों तथा भावनाओं की पृष्ठभूमि-रूप में भी प्रकृति का पर्याप्त चित्रण साहित्य में हुआ है। साथ ही प्रकृति के मानवीकरण की भी प्रवृत्ति कवियों की रही है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कवियों ने अपनी अलग-अलग मान्यताओं के आधार पर कभी तो प्रकृति में ईश्वर के अनिवार्य नियम को चरितार्थ होते पाया, कभी उससे जीवन-तथ्यों का उपदेश ग्रहण किया। कहीं उसमें क्रूरता और असहिष्णुता पाई तो कभी उसे सहानुभूति और सहृदयता से परिपूर्ण पाया है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि प्रकृति-प्रेमी कवियों ने प्रकृति की सुषमा में मग्न होकर प्रकृति के सुन्दर आदि यथातथ्य चित्र प्रस्तुत किए हैं। किन्तु बाद के साहित्य में प्रकृति के शुद्ध स्वरूप के सहज और स्वाभाविक तथा संश्लिष्ट चित्र उपलब्ध नहीं होते हैं। कारण यही प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन में प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गई, उसकी सत्ता ब्रह्म के साथ ही है। प्रकृति को महापुरुषों की अनुचरी के रूप में माना गया है। अतः 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' वाली काव्य-परिभाषा में भी स्वतन्त्र रूप से प्रकृति-चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं दिया गया। हिन्दी में आचार्य केशव ही प्रकृति के विशद तथा स्वतन्त्र चित्रण की ओर सर्वप्रथम आकर्षित हुए।

आलम्बन-रूप में

रीतिकाल के सभी आचार्य-कवियों देव, भिखारीदास आदि ने रस-निरूपण करते हुए प्रकृति को शृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में ही मान्यता दी है। किन्तु केशवदास ने इस समस्त परम्परा के विरुद्ध प्रकृति-रूपों को आलम्बन के अन्तर्गत रखा है। 'कोकिल कलित वसन्त फूलि फल दलि अलि उपवन' के द्वारा प्रकृति को भी आलम्बन-सूची में स्थान दिया है।[1]

प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में केशव की अपनी मान्यताएं थीं और उन्हें ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रकृति का चित्रण किया है। परन्तु वे प्रकृति के परम्परा-भुक्त उपादानों के चित्रण के ही पक्ष में हैं। प्रकृति-वर्णन के प्रमुख उपादान यों गिनाए गए हैं—

१. कविप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ६

देश, नगर, वन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल
रवि, शशि, सागर भूमि के भूषन रितु सब काल।[१]

'रामचन्द्रिका' में उन्होंने यथास्थान इन सभीका वर्णन किया है। केशव अलंकार-वादी कवि थे, अतः उनके वर्णनों में अलंकारों की संश्लिष्ट योजना को ही प्रधानता मिली है।

अपनी कृतियों में केशवदास ने प्रकृति-वर्णन की सभी शैलियों को अपनाया है। आलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण भी उन्होंने पर्याप्त मात्रा में किया है। केशव की 'राम-चन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन की दो शैलियां दृष्टिगत होती है—रामायण की शैली तथा महा-काव्य की। परम्परा के अनुसार केशव ने कृत्रिम पर्वत और नदी का वर्णन किया है, जिनका उल्लेख संस्कृत-काव्यों में क्रीड़ाक्षेत्र के नाम से हुआ है। यह राजसी वातावरण का प्रभाव माना जा सकता है। उपर्युक्त प्रकृति-विषयों का वर्णन आधुनिक हिन्दी-काव्य का सा सश्लिष्ट और बिम्बग्राहक नहीं है। केशव का आदर्श माघ, श्रीहर्ष, बाण आदि का आदर्श था और उन्हींकी तरह उनकी प्रवृत्ति प्रकृति के तथ्य-चित्रण की ओर न होकर उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि के रूप में मिलती है। प्राकृतिक दृश्यों पर पदार्थों का वर्णन नाम-परिगणनात्मक शैली में भी है। 'रामचन्द्रिका' के अधिकांश प्रकृति-वर्णन इसी शैली में हैं। केशवदास के काव्य-सिद्धान्तों के अनुसार वन, वाटिका तथा कहीं समुद्र आदि के वर्णन में कुछ विशिष्ट बातें अनिवार्य हैं और इन वस्तुओं के वर्णनों में उन्हें गिनाकर काम चला लेते हैं। उदाहरण के लिए विश्वामित्र के आश्रम के निकटस्थ वन का वर्णन प्रस्तुत है—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर,
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर बर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारो सुककुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं।
सुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूरगन।
अतिप्रफुलित फलित सदा रहे केसवदास बिचित्र बन।।[२]

यहां उल्लेखनात्मक रीति पर कवि ने देश-काल की सीमा का ध्यान रखते हुए वृक्षों और पदार्थों के नाम गिना दिए हैं। इस तथ्य से कवि को कोई प्रयोजन नहीं है कि दक्षिण में पाए जानेवाले एला, लवंग और पुंगीफल अयोध्या और मिथिला के मध्य स्थित वन में कैसे हो सकते हैं। सम्भवतः विचित्र वन कहकर कवि ने इसे विश्वामित्र के तप-प्रभाव से प्रसूत माना हो; परन्तु ऐसा वर्णन करते समय कवि केवल कवि-परम्परा का पालन-मात्र कर रहा है।

१. कविप्रिया, सातवां प्रभाव, छंद १
२. रामचंद्रिका, तृतीय प्रकाश, छंद २

इसीके आधार पर 'रामचन्द्रिका' में उन्होंने राम की वाटिका का वर्णन किया है।[1]

इस वर्णन को पढ़कर वाटिका की पुष्प, फल और सुगंध-समृद्ध शोभा का संश्लिष्ट चित्र पाठक के सम्मुख नहीं आता। वाटिका-वर्णन में जो-जो बातें आनी चाहिए थीं कवि ने निरपेक्ष भाव से उपस्थित कर दी हैं। फिर भी एक ही स्थल पर प्रकृति का इतना विस्तृत वर्णन केशव के पूर्व हिन्दी-साहित्य में किसी कवि ने नहीं किया है।

सरोवर के वर्णन में भी कवि के अनुसार कमलों, भ्रमरों, पक्षियों तथा जलचरों का वर्णन होना चाहिए। केशवकृत अयोध्या के सरोवर के वर्णन में यह सभी प्रस्तुत है—

सुर सर सोभे, मुनि मन लोभे।
सरसिज फूले अलि रस भूले।
जलचर डोलैं, बहु खग बोलैं।
बरनि न जाहीं, उरझाहीं॥[2]

सरिता-वर्णन में जलचर, हय, जलज, तट, जड़ामुण्ड, मुनिवास, स्नान आदि का वर्णन केशव के अनुसार आवश्यक है। सरयू-वर्णन इन्हीं मान्यताओं के आधार पर है।[3]

यहां भी सरिता की शोभा के प्रति केशव का अनुराग परिलक्षित नहीं होता। नामोल्लेख-मात्र है। पंचवटी, पम्पासर, प्रवर्षण पर्वत आदि का वर्णन भी कवि ने आवश्यक वस्तुओं की सूची देकर कर दिया है और इससे उनकी प्राकृतिक सुषमा का कोई चित्र पाठक के मन में नहीं उभरता। वास्तव में परिगणन-शैली में किए गए ये वर्णन प्रकृति-वर्णनों में परम्परा-पालन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। प्रस्तुत को छोड़कर कवि अप्रस्तुत पर दृष्टि डालने लगता है। दण्डक वन का वर्णन ऐसा ही है—

सोभत दंडक की रुचि बनी।
भाँतिन भाँतिन सुन्दर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसे।
श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै।
बेर भयानक सी अति लगै।
अर्कसमूह जहाँ जगमगै।
नैननि की बहु रूपनि ग्रसे।
श्रीहरि की जनु मूरति लसे॥[4]

अलंकार-योजना के अंतर्गत हम देख चुके हैं कि ऐसे स्थलों का कवित्व चमत्कारी

---

१. रामचन्द्रिका, बत्तीसवां प्रकाश, छन्द ३, ४, ६
२. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ३२, ३३
३. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २५, २७
४. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द १९, २०

वर्णन की प्रवृत्ति से दब जाता है और काव्य मध्यम कोटि का रह जाता है। ऐसे वर्णनों में कवि की दृष्टि प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा की ओर कम ही आ पाती है। वह आलंकारिक चमत्कार की ओर उन्मुख हो जाता है।

चन्द्र-वर्णन में चन्द्रमा की नैसर्गिक सुषमा का किंचिन्मात्र भी आभास न देकर कवि उपमानों की माला गूंथने लग जाता है। पर चन्द्रमा के वर्ण से साम्य रखनेवाले उपमानों को उतनी प्रगल्भता के साथ उपस्थित किया है कि काव्यानन्द तो मिलता ही है—

फूलन की सुभ गेंद नई। सूंघि सची जनु डारि दई।
दर्पन सो ससि श्री रति को। आसन काम महीपति को।
फेन किधौं नभसिंधु लसै। देवनदी जल हंस बसै।
संख किधौं हरि के कर सोहै। अम्बर सागर ते निकसो है।।[1]

इन्हीं कतिपय वर्णनों को देखकर कुछ आलोचक शुक्लजी के इस कथन से सहमत हैं कि "केशव के लिए प्राकृतिक दृश्यों में कोई आकर्षण नहीं था। केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था, उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।"[2] परन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं हैं। यदि हम छिद्रान्वेषण करने ही बैठें तो हिन्दी के तथाकथित श्रेष्ठ कवियों में भी अनेक दोष निकाले जा सकते हैं। केशव में प्रकृति के प्रति सहृदयता थी। यत्र-तत्र चमत्कार के कारण वर्णन दब अवश्य गए हैं, जहां कवि ने बिम्ब ग्रहण कराने की सफल चेष्टा की है। ऐसे स्थल इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि केशव में प्रकृति का शाब्दिक चित्र खींचने की पर्याप्त क्षमता थी। इस प्रतिभा का परिचय 'रामचन्द्रिका' में अनेक स्थलों पर मिलता है। राम जिस समय जनकपुरी में प्रवेश करते हैं वैसे ही सूर्य का उदय होता है और वहां अलंकृत शैली में कवि ने सूर्य की प्रातःकालीन अरुणिमा की शोभा का चित्रण किया है।

अरुन गात अतिप्रात पद्मिनी-प्राननाथ मय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय।
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं सक्र को छत्र मढ्यो मानिकमयूख पट।
कै श्रोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को।[3]

कमल और चकवा का अरुण अनुराग, सिन्दूरी वर्ण का मंगल कलश, मणिकांति-सुशोभित इन्द्र का छत्र, सभी उपमान तेज संचय करते हुए प्रातःकालीन सूर्य की भली-भांति अभिव्यंजना करते हैं। संभवतः उसे सूर्य की प्रचण्डता दर्शित कराने का स्मरण हो

---

१. रामचन्द्रिका, तीसवां प्रकाश, छन्द ४१, ४२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०६
३. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द संख्या १०

आता है। फलतः वह ऐसा उपमान उपस्थित कर देता है जो इस दृश्य की मनोरमता में बाधक बन जाता है। सूर्य उसे वैसा ही लाल प्रतीत होता है जैसे कापालिक के हाथ में रक्तरंजित कपाल। परन्तु शीघ्र ही वह एक मनोरम कल्पना कर उस व्याघात को हटाकर सम्पूर्ण दृश्य की मनोहारिता को व्यंजित कर देता है—सूर्य मानो दिग्वधू के भाल की सौभाग्यसूचिका लालमणि है। कहना न होगा कि प्रत्येक पंक्ति में नवीन अप्रस्तुत की योजना होते हुए भी यहां प्रस्तुत अर्थात् उदीयमान सूर्य का ही चित्र प्रधान है।

इससे भी अधिक अलंकृत शैली में कवि ने प्रभात-वर्णन किया है। पर यह वर्णन अत्यन्त संश्लिष्ट और बिम्बग्राही है।[१] प्रातःकाल देखते-देखते कैसे सब तारे छिप जाते हैं और सूर्य कहां से कहां पहुंच जाता है। इस दृश्य का वर्णन कवि ने एक सुन्दर रूपक के सहारे कर दिया है।

चढ़ो गगन तरु धाइ, दिनकर बानर अरुनमुख।
कीन्हों झुकि झहराइ, सकल तारका कुसुम बिन।[२]

कवि की यह सूझ प्रशंसनीय है। प्रकृति के गण्यात्मक रूप की अत्यन्त सजीव अभिव्यक्ति यहां कवि ने की है।

प्रकृति में ऐसे ही कल्पनात्मक सौन्दर्य के दर्शन कवि ने अन्यत्र भी किए हैं। भ्रमरों-सहित सुगन्धित कमलोंवाली गोदावरी मानो बहुनयन इन्द्र की शोभा धारण किए हुए है—

अति निकट गोदावरी पाप संहारिनी।
चल तरंग तुंगावली चारु संहारिनी।
अलि कमल सौगन्ध लीला मनोहारिनी।
बहुनयन देवेस सोभा मनोधारिनी।[3]

पहले दिए गए वन-वर्णन में जहां नामोल्लेख-मात्र है वहां 'वीरसिंहदेवचरित' में यही वर्णन बिम्ब-ग्रहण लिए हुए है।[४] यहां केवल सूचना-मात्र नहीं है वन के दृश्य का विस्तृत और यथार्थ चित्रण करने की वृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। देश-काल की उपेक्षा यहां भी है, पर उसके लिए केशव को दोषी न ठहराकर कवि-संप्रदाय की परम्परा को दोषी मानना होगा।

कवि-प्रकृति का भली भांति निरीक्षण करना जानता था और जहां-जहां वह हृदय को साथ लेकर चला है, वहां उसने प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर दृश्य प्रस्तुत किए हैं। वर्षा का अत्यन्त मनोरम चित्र कवि ने खींचा है।[५]

किन्तु कवि का अलंकार-वैभव-सम्पन्न हृदय उसे प्रकृति को उसके सहज स्वाभा-

१. रामचन्द्रिका, तीसवां प्रकाश, छन्द १८, २१
२. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द १३
३. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द २३
४. वीरसिंहदेवचरित
५. देखिए रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द ११-१४

विक रूप में अधिक काल तक नहीं देखने देता और श्लेष आदि का आग्रह उसे ऋतु की रम्यता भुलाकर उसका भयप्रद रूप-वर्णन करने में लगा देता है। वर्षा कभी उसे कालिका के रूप में दिखाई देती है तो कभी वियोगिनी-रूप में। अन्य ऋतुएं भी अपने प्रकृत रूप में न आकर बहुरूप बनाकर उगती हैं। वसंत शिव समान और ग्रीष्म शबर-समूह बन जाती है। शरद् शारदा जैसी है तो हेमन्त विमुख प्रिय की प्रिया है और शिशिर वर नारी। और ऐसे अस्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करते समय कवि प्रकृति से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं कर पाया है, किन्तु जहां वह ऐसा कर सका है वहां प्रकृति के सहज स्वरूप की अत्यन्त मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। 'रसिकप्रिया' में कवि ने घने बादलों द्वारा फैलाए गए अंधकार की अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक व्यंजना की है—

राति ह्वै आई चले घर कौं दसहूँ दिसि मेह महा मढ़ि आयो।
दूसरो बोल ही तें समुझै कहि केसव यों छिति में तम छायो।[1]

कहीं-कहीं वातावरण का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी सुन्दर है। यथा।

केसोदास मृगज-बछेरू चोषैं बाघनीन चाटत सुरभि बाघबालक बदन है।
सिंहन की सटा ऐंचै कलम करनि करि सिंहन को आसन गयंद को रदन है।[2]

इस प्रकार प्रकृति के शुद्ध स्वरूपों का चित्रण कवि ने विस्तार के साथ किया है। अधिकतर नामपरिगणनात्मक शैली में है। सजीव फड़कते हुए अलंकृत एवं चमत्कारपूर्ण वर्णनों की प्रचुरता है। अधिकांश स्थलों का प्रकृति-काव्य आचार्यत्व के भार से अभिभूत हो जाता है, जिसमें संस्कृत के परवर्ती चमत्कार-प्रवण साहित्य का बहुत कुछ दायित्व है। आधुनिक ढंग के स्वतंत्र संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण केशव में नहीं मिलते, पर ऐसे वर्णन भी कम नहीं हैं जहां कवि ने विम्ब-ग्रहण कराने की सफल चेष्टा की है और जो इस बात के परिचायक हैं कि केशव में भी प्रकृति के यथातथ्य निरीक्षण और सूक्ष्म चित्रण की क्षमता थी।

उद्दीपन-रूप में

भारतीय काव्यशास्त्रों में प्रकृति की मान्यता उद्दीपन विभाव के रूप में भी स्वीकृत की गई है। जब किसी स्थायीभाव का आलम्बन प्रकृति न होकर अन्य कोई प्रत्यक्ष आलम्बन होता है उस समय प्रकृति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही आती है। प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध चिरस्थायी होने के कारण मन की किसी भी दशा में प्रकृति उसके समानान्तर लगती है। चित्त की आनन्दमयी स्थिति में प्रकृति का उल्लास आनन्द को द्विगुणित करता है और कभी मनुष्य की व्यथा से निरपेक्ष रहकर उसे कष्ट पहुंचाता है। प्रकृति के सुन्दर और भयंकर दृश्य संयोग या विप्रयोग में, आश्रय के हृदय में जगे हुए भाव को तीव्रतम कर देते हैं। यही कारण है कि काव्यशास्त्रों में और विशेषकर शृंगाररस के कवियों में प्रकृति के उद्दीपन पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

---

१. रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द ३०
२. रामचंद्रिका, बीसवां प्रकाश, छन्द ४०

प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप के सम्बन्ध में केशव की शास्त्रीय धारणा कुछ भिन्न है, यह बात हम आचार्यत्व-सम्बन्धी परिच्छेद में देख चुके हैं। वे जहां तक शृंगार का सम्बन्ध है, उसकी व्यापकता एवं मनोवैज्ञानिकता के आधार पर, प्राकृतिक समञ्जस रूपों एवं दृश्यों में उद्दीपनात्मक ही नहीं, आलम्बनात्मक क्षमता स्वीकार करते हैं। अयोध्या नगरी के उपवन को उन्होंने कामोद्दीपन रूप में वर्णित किया है—

देखि बाग अनुराग उपज्जिय। बोलत कलध्वनि कोकिल सज्जिय।
राजति रति की सखी सुवेषनि। मनहु बहति मनमथ संदेसनि।[1]

यहां केशव ने अपनी धारणा के अनुसार उपवन के रमणीक दृश्य को रत्युद्भावन की क्षमता प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

हम देख चुके हैं कि केशव का यह दृष्टिकोण आचार्य-परम्परा से भिन्न रहा है। अतः उस परम्परा का अनुसरण करते हुए हम इस प्रकार के स्थलों को अपनी आलोचना में उद्दीपनात्मक रूपों में ही रख सकते हैं और अपनी धाराबद्ध दृष्टि से ही उसकी समीक्षा कर सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि केशव ने प्रकृति को जो आलम्बन-रूपता प्रदान की है, वह शृंगाररस के सन्दर्भ के एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही।

प्रिय के समीप होने पर तो आनन्द ही आनन्द है, इसी कारण तप्त धूल और आतप का आधिक्य राम के साथ सीता को शीतल प्रतीत होता है।

धाम को राम समीप महाबल। सीतहिं लागत है अति सीतल।
मारग की रज तापित है अति। केशव सीतहिं सीतल लागति।।[2]

'कविप्रिया' के आक्षेपालंकार के प्रसंग में प्रकृति के उद्दीपक-रूप का अत्यन्त स्पष्ट अंकन कवि ने किया है। प्रकृति के साथ मानव-हृदय का तादात्य जैसा इस बारहमासे में कवि ने दिखाया है वह प्रशंसनीय है। प्रत्येक मास अपनी-अपनी प्राकृतिक विशेषताओं से संयोगियों के सुख की अभिवृद्धि करता हुआ उनकी भावनाओं को उद्दीप्त करता है और वे बिछुड़ने के नाम से घबराने लगते हैं। निम्न पद में ही नारी-हृदय चारों ओर की प्रकृति को हर्षित और अपने-अपने प्रिय से संयुक्त होते देख आन्दोलित हो उठता है—

केसव सरिता सकल मिलित सागर मन मोहैं।
ललित लता लपटात तरुन तन तरुवर सोहैं।
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन।
मन भावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन।
इहि रीति रमन रमनी सकल लागे रमन रमावनै।
प्रिय गमन करन की को कहै गमन सुनिये नहिं सावनै।।[3]

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ३०
२. रामचंद्रिका, नवम प्रकाश, छंद ३७-३८
३. कविप्रिया, दशम प्रभाव, छन्द २८

वास्तव में उद्दीपन की दृष्टि से काव्यशास्त्रों में वसंत और वर्षा को विशेष स्थान दिया गया है। संयोगी हो या विरही दोनों के ही मन को वर्षा उत्कण्ठित कर देती है। इसी कारण कालिदास ने इसे 'कामिजनप्रियः' कहा है। और यह मानमोचन करानेवाली ऋतु है। केशव के राधा और कृष्ण का मान भी वर्षा के प्रभाव से स्वतः ही भंग हो जाता है।[1]

घनमाला अभिसारिका को आमंत्रण देने लग जाती है और विद्युत् उसकी पथ-प्रदर्शिका बन जाती है—

लीनी हम मोल अनबोलों आई जान्यौ मोह,
मोहिं घनस्याम घनमाला बोलि लाई है।
देख्यो ह्वै है दुख जहाँ देह हू न देखी परे।
देखी कैसें बाट 'केसो' दामिनी दिखाई है॥[2]

विरह में शीतल चन्द्रमा सूर्य-सा प्रतीत होता है, दिशाएं अग्नि-सी प्रतीत होने लगती हैं—

हिमांसु सूर सो लगै सो बात वज्र सो बहै।
दिसा लगे कृसानु ज्यों विलेप अंग कों दहै।
विसेष कालराति सी कराल राति मानिये।
वियोग सीय को न, काल लोकहार जानिये॥[3]

यहां अपह्नुति के आवरण में अनुभूति की प्रधानता का सुन्दर प्रकाशन कवि ने किया है। सीता के अपहरण के पश्चात् राम को विरहावस्था के कारण जड़ और चेतन-भेद भी विस्मृत हो जाता है।[4] इतना ही नहीं चकोर से भी सहायता की याचना करते हैं। सीताकृत चकोर के प्रति पूर्वउपकार का स्मरण कराते हुए राम चकोर से सीता के सम्बन्ध में पूछते हैं।[5]

अब तक तो वे मनुष्येतर प्राणिवर्ग से ही सहायता की याचना करते हैं पर विरह का आवेग जैसे-जैसे बढ़ता है वे प्राणहीन पदार्थों, वृक्षों व वनस्पतियों तक से सीता-सम्बन्धी वार्ता पूछने लगते हैं। अन्य वृक्षों को कठोरहृदय बतलाते हुए वे करुण वृक्ष से सहायता की प्रार्थना करते हैं।[6]

प्रिया के अभाव में प्रकृति के विभिन्न उपादानों को जो उनकी प्रिया के अंगों से साम्य रखते थे देखकर जैसे-तैसे वे जीवन धारण किए हुए थे। पर वर्षाऋतु ने आकर

१. रसिकप्रिया, दशम प्रभाव, छंद २७
२. रसिकप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द २८
३. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छंद ४२
४. रामचंद्रिका, बारहवां प्रकाश, छंद ३९
५. रामचंद्रिका, बारहवां प्रकाश, छंद ४०
६. रामचंद्रिका, बारहवां प्रकाश, छंद ४१

उनका यह अवलम्ब भी छीन लिया—

कलहंस कलानिधि खंजन कंज कछू दिन केसव देखि जिये।
गति आनन लोचन पाइन के अनुरूपक से मन मानि लिये।
यहि काल कराल ते सोधि सबै हठिकै वरषा मिस दूरि किये।
अब धौं बिनु प्रान प्रिया रहिहैं कहि कौन हितू अवलम्बि हिये॥[1]

किन्तु कभी-कभी प्रकृति में चिरदग्ध हृदय का साम्य देखकर विरही राम को यत्किंचित् संतोष भी मिलता है। निरन्तर जल-वर्षण के कारण और घनघोर घटाच्छन्न आकाश के कारण से सूर्य की ज्योति कम हो जाती है और चन्द्रमा भी मन्द-दुति रहता है। राम को इन दोनों में अपने उल्लासहीन हृदय का साम्य मिलता है।[2]

इस प्रकार प्रकृति को मानवीय भावनाओं के आधार पर अंकित करते हुए उद्दीपन शैली का आश्रय कवि ने लिया है और मानव तथा प्रकृति के बीच सुन्दरता और सहृदयता से एक कोमल भावना प्रदर्शित करने का सफल प्रयास किया है। यद्यपि प्रत्येक शब्द में यहां भी कवि ने अपना काव्य-कौशल दिखाया है, पर इन प्रकृति-चित्रणों में उनकी अलंकारवादी मनोवृत्ति और रस-परिपाक-शक्ति का उचित सामंजस्य बन पड़ा है।

उपमान-रूप में

उपमान-योजना करते समय भी सभी कवियों ने प्रकृति के असीम भण्डार से लाभ उठाया है और यह स्वाभाविक भी है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ, आंधी, समुद्र, वन, पर्वत, लता, वृक्ष, पुष्प, भ्रमर आदि हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है और इसी कारण ये हमारी दृष्टि से ओझल भी नहीं होते। किसीके मुख पर झलकते हुए तेज की अभिव्यक्ति के लिए हम सूर्य को उपमान बनाते हैं तो कभी शरीर की कोमलता की व्यंजना कराने के लिए उसे लता जैसा बताते हैं। किसी वस्तु का वर्णन करते समय सादृश्य-स्थापना के लिए प्रकृति ही हमारी सहायिका हुई है। मानवीय सौंदर्य की पूर्ण और प्रभावमयी अभिव्यंजना के लिए कवि को प्रकृति में सब कुछ मिल जाता है और कवियों के ऐसे ही प्रयोगों को देखकर काव्यशास्त्रियों ने कुछ उपमानों को रूढ़ कर दिया है। हां, उसके साथ-साथ अपनी प्रतिभा के बल से नये उपमानों का आविष्कार भी करते हैं या प्रसिद्ध उपमानों को नवीन ढंग से भी रखते हैं। जो कवि साहित्यिक परम्परा में बंधे होते है वे प्रकृति का अप्रस्तुत रूप में उपयोग रूढ़ि के आधार पर ही करते हैं और रीतिकाल के कवियों में यही चीज़ मिलती है। किन्तु कुशल और प्रतिभाशाली कवियों ने अवश्य कुछ नये और सुन्दर प्रयोग किए हैं। केशव इन्हींमें से हैं। राधा की शोभा के वर्णन में प्रकृति के सभी रूढ़ उपमान कवि ने प्रयुक्त कर दिए हैं।[3]

---

१. रामचंद्रिका, तेरहवां प्रकाश, छंद २२
२. रामचंद्रिका, तेरहवां प्रकाश, छंद ६
३. रसिकप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छंद ५

कंज, दारयों, बिम्ब, पिकबैनी, कल्पतरु आदि क्रमशः नायिका के नेत्र, दशन, अधर आदि अवयवों के लिए प्रसिद्ध उपमान हैं और प्रायः सभी कवियों ने अपने-अपने काव्य में उनका प्रयोग किया है। सीता के नख-शिख-वर्णन में भी कवि ने प्रचलित उपमानों का प्रयोग किया है। मुख के लिए चन्द्रमा प्रसिद्ध उपमान है और केशव श्लेष-पुष्ट उपमा के द्वारा सीता के मुख की शोभा का वर्णन करते हैं।

चन्द्रमा सी चन्द्रमुखी सब जग जानिए।[1]

यहां कवि ने चन्द्र की सभी विशेषताओं को सीता के मुख में भी दर्शित करा दिया है। परन्तु शीघ्र ही वह सीता के मुख के लिए बड़े तार्किक ढंग से चन्द्रमा को अनुपयुक्त उपमान ठहराकर कमल जैसा दर्शित करता है—

सुन्दर सुवास अरु कोमल अमल अति।
सीता जू को मुख सखि केवल कमल सो।।[2]

कहीं-कहीं कवि प्रसिद्ध उपमानों की अपेक्षा उपमेय के सौन्दर्य का उत्कर्ष दिखाते हैं। केशव ने भी उपमेय मुख में उत्कर्ष और उपमान कमल तथा चन्द्र में अपकर्ष दिया है—

एकै कहैं अमल कमल मुख सीता जू को।
एकै कहैं चन्द्र सम आनन्द को कन्द री।
होइ जो कमल तो रयनि में न सकुचे री।
चन्द जो तो बासर न होइ दुति मन्द री।
बासर ही कमल रजनि ही में चन्द मुख।।[3]

कवि ने अपनी सभी रचनाओं में प्राकृतिक रूढ़ उपमानों का प्रयोग किया है, जिनमें कहीं-कहीं मौलिकता का भी संस्पर्श है।

अनेक प्राकृतिक रूपों की अप्रस्तुत रूप में परीक्षा शुद्ध सादृश्य की दृष्टि से बड़ी मनोहर और उपयुक्त बन पड़ी है। राम, लक्ष्मण आदि की बारात से जनकपुरवासियों के मिलन को दिखाने के लिए कवि ने सागर और सरिता के प्रेम-मिलन की स्वाभाविक उत्प्रेक्षा दी है।

बनि चारि बरात चहूँ दिसि आई, नृप चारि चमू अगवान पठाई।
जनु सागर कों सरिता पगुधारी, तिनके मिलिबे कहँ बाँह पसारी।।[4]

इसी प्रकार वन जाते हुए राम के पीछे उमड़ते हुए जन-सागर के लिए भगीरथ के पीछे बहती हुई गंगाधारा की उत्प्रेक्षा अत्यन्त भावपूर्ण हो गई है।[5]

---

१. रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ४०
२. रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ४१
३. रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ४२
४. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द ४
५. रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ३०

इसी प्रकार कहीं निजी अनुभव के सहारे उन्होंने प्रकृति के अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक चित्रों को अप्रस्तुत रूप में नियोजित किया है। वन में राम से भेंटने के लिए माताएं उसी आकुलता से दौड़ती हैं, जैसे घास चरकर आती हुई गायें अपने बछड़ों से मिलने को दौड़ती हैं—

मातु सबै मिलिवे कहँ आईं। ज्यौं सुत को सुरभी सु लवाईं ॥[1]

कहना न होगा कि ऐसे स्थलों पर कवि ने अत्यन्त सहृदयतापूर्वक प्रकृति के क्षेत्र से अप्रस्तुतों को चुना है। पर उनकी प्राकृतिक अप्रस्तुत-योजना का चरम उत्कर्ष वहीं है जहां वे चमत्कार का आश्रय लेते हैं। रावण के हाथ पड़ी सीता बवंडर के मध्य पड़े हुए सुन्दर चित्र जैसी है—

चित्र की सी पुत्रिका कै रूरे वगरूरे माँहि।[2]

रूप और आकार के वर्णन में भी कवि ने चमत्कार की प्रेरणा से उपमानों को ग्रहण किया है। मार्ग में जाते हुए राम, सीता और लक्ष्मण ऐसे प्रतीत होते हैं मानो—

मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसैं देहधारी मनो।
भूरि भागीरथी भारती हंसजा अंस के हैं मनो, भाग भारे भनो ॥[3]

अवधपुरी में अटारियों पर चढ़ी हुई स्त्रियों का सुन्दर चित्रण हुआ है। उनके शरीर की शोभा मेघों में से कौंधती हुई दामिनी और सूर्य-किरणों से अभिषिक्त कमलिनी के समान व्यंजित की है।

प्राकृतिक उपमानों का उपयोग केशव ने पर्याप्त रूप से किया है। वे संस्कृत के अच्छे अध्येता थे और संस्कृत की अप्रस्तुत-योजना उन्होंने ग्रहण की थी। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं के अनुसार वे अप्रस्तुत-योजना में शब्द को भी रूप, गुण, क्रिया के समान ही साम्य-वैषम्य का आधार बनाकर चलते हैं। अपनी निजी प्रतिभा से उन्होंने उपमानों की नवीनता या प्रचलित उपमानों के नवीन प्रयोग दर्शित किए हैं तथा प्रकृति-रूपों का सफल प्रयोग किया है, किन्तु जहां बिना सुन्दर साम्य-स्थापना का विवेचन किए हुए कवि ने प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग किया है, वहां पर यह योजना आज के आलोचक की दृष्टि से उपहासनीय हो गई है।[4] यही कारण है कि केशव पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि प्रकृति-निरीक्षण का उन्हें अवकाश न था। परन्तु एक तो ऐसे चित्र केशव के काव्याकाश में दो-एक टिमटिमाते हुए तारों के समान ही हैं; दूसरे, उनके पीछे उनके कृतिकार का व्यक्तित्व एवं एक परम्परा है। केशव ने प्रकृति के मार्मिक, स्वाभाविक तथा सजीव चित्रों के लिए सफल अप्रस्तुत-योजना का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। साथ ही साथ उनमें ऐसे स्थलों का भी अभाव नहीं जहां प्रस्तुत-योजना का प्रयोग रूप-साम्य, भाव-

---

१. रामचन्द्रिका, दसवां प्रकाश, छन्द २८
२. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छन्द २०
३. रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ३५
४. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ८८

साम्य तथा वातावरण-निर्माण के लिए किया गया है।

मानव-भावनाओं के रूप में

निरन्तर प्रकृति के साथ रहते-रहते मनुष्य को प्रकृति बिलकुल निरपेक्ष और जड़ नहीं प्रतीत होती। यह स्वाभाविक है कि वह चराचर प्रकृति को सचेतन और भावशील पाए। यही कारण है कि प्राचीनकाल से काव्यकार प्रकृति को मानव का सा रूपाकार देते आए हैं और उनमें मानव-क्रिया और मानव-व्यापारों को खोजते रहे हैं। प्रकृति के चेतन प्राणियों में तो मनुष्य की सी भावनाएं ममत्व, रक्षा, विरह-व्यथा आदि मिलती ही हैं। किन्तु प्रकृति के उपासक कवियों ने जड़ प्रकृति में भी, पेड़-पौधे आदि में भी, मानव-संसार का अनुकरण पाया है और उनमें भी सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, ईर्ष्या-संवेदना आदि का अनुभव किया है, प्रकृति के इस प्रकार के मानवीकरण के क्षेत्र में कालिदास सर्वश्रेष्ठ है। केशव को भी इस दृष्टि से पर्याप्त सफलता मिली है। यद्यपि उनके काल में प्रकृति से अधिक महत्त्व मनुष्य को दिया जाने लगा था, तथापि उन्होंने प्रकृति में मानव-सुलभ भाव को खोजने का सफल प्रयत्न किया है। अलंकारों से नाक-मुंह सिकोड़नेवाले लोगों के पल्ले कुछ न पड़े यह बात दूसरी है। वर्षा को चण्डी के विकास-रूप में तथा शरद् को कुलीन सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है। इतना ही नहीं, यह शरद् उन्हें उस वृद्धा दासी की तरह भी दर्शित होती है जो उन्हें प्रातःकाल उठाने आती थी—

लक्ष्मन दासी वृद्ध सी आई सरद सुजाति।
मनहु जगावन को हमहिं बीते बरषा राति॥[1]

यहां पर वृद्धा से शरद् का रूप-साम्य न दिखाकर कवि ने कर्म-साम्य की उत्प्रेक्षा कर डाली है। इसी प्रकार शरद् कहीं उन्हें शारदा जैसी प्रतीत हुई है। शिशिर वरना की सी शोभा धारण करती है।

वर्षा में बाढ़युक्त नालियां अपने किनारों को डुबा देती हैं जैसे अभिसारिकाएं अपने धर्म के मार्ग को मिटा देती हैं—

अभिसारिनि सी समझौ परनारी। सतमारग मेटन कौं अधिकारी॥[2]

जिस प्रकार से सज्जन पुरुष निरपराधी को कष्ट देनेवाले आततायी को दंड देने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्र भी अपने दल-बलसहित सूर्य पर चढ़ाई कर बैठते हैं, क्योंकि उसने निरपराध पृथ्वी के शरीर को ताप पहुंचाया है।[3]

प्रायः कविगण ऐसा वर्णन करते रहे हैं कि अवतारी पुरुषों के सम्मान में प्रकृति नम्र और अनुकूल हो जाती है। केशव ने भी राम के सम्मान में प्रकृति की विषम परि-स्थितियों का अनुकूल हो जाना दिखाया है, मानो ईश्वर के सम्पर्क में प्रकृति अपनी

---

१. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द २७
२. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द २०
३. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द १५

मलिनता त्यागकर प्रफुल्लित हो उठी हो।[1]

यह राम के संसर्ग का ही प्रभाव है। एक स्थल पर कवि ने प्रकृति का अत्यन्त कमनीय और मनोरम वातावरण प्रस्तुत किया है। राम और सीता जब एकत्र बैठते हैं तब सीता के वीणा-वादन पर मुग्ध होकर पशु-पक्षी घिर आते हैं और राम द्वारा प्रेम-पूर्वक पहनाए गए आभूषणों को भी निश्शंक भाव से ग्रहण करते हैं—

जब जब धरि बीना प्रकट प्रबीना बहु गुनलीना सुख सीता।
पिय जियहि रिझावै दुखनि भजावै विविध बजावै गुनगीता।
तजि मति संसारी विपिनबिहारी सुखदुखकारी घिरि आवैं।
तब तब जगभूषन रिपुकुलदूषन सबकों भूषन पहिरावैं॥[2]

इस प्रकार हिंस्र पशुओं में भी संगीत-प्रेमी होना कवि ने पाया है। महान विभूतियों के साक्षात्कार से प्रकृति-जीवों में वैषम्य-भावना ही तिरोहित हो जाती है। तभी तो भारद्वाज आश्रम के पशु सहज विरोध को भुलाकर जीवन-यापन करते हैं—

'केसोदास' मृगज-बछेरु चौषैं बाघनीन।
चाटत सुरभि बाघबालक बदन है॥[3]

उपदेशात्मक रूप में

इतना ही नहीं, प्रकृति का उपदेशात्मक रूप भी कवि के सम्मुख आया है। प्रकृति के स्वाभाविक तथ्यों को दृष्टि में रखकर कवि उनसे जीवन-तथ्यों का संग्रह करता है—

तरनि-किरनि उदित भई, दीप जोति मलिन गई।
सदय हृदय बोध-उदय, ज्यों कुबुद्धि नासै॥[4]

इसी प्रकार कहीं उन्होंने मानव-जीवन के सत्यों को प्रकृति में चरितार्थ होने दिया है। ब्राह्मण जब सुरापान करने में लीन होता है तो उसकी शोभा व सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार चन्द्र भी वारुणी की इच्छा करने-मात्र से श्रीहीन हो गया है—

जहीं बारुनी की करी रंचक रुचि द्विजराज।
तहीं कियो भगवन्त विन सम्पति सोभा साज॥[5]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि केशव ने प्रकृति के चित्र खींचे हैं और पर्याप्त मात्रा में। प्रकृति का उन्होंने आलम्बन, उद्दीपन, उपमान, पृष्ठभूमि, प्रतीक, अलंकार, उपदेश, दूती, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, मानवीकरण, रहस्य तथा मानव-भावनाओं का आरोप आदि सभी शैलियों में वर्णन किया है। प्रकृति का यथातथ्य और सुन्दर चित्रण

१. रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ३६
२. रामचंद्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छंद २७
३. रामचंद्रिका, बीसवां प्रकाश, छंद ४०
४. रामचंद्रिका, तीसवां प्रकाश, छंद १६
५. रामचंद्रिका, पांचवां प्रकाश, छंद १४

करने की क्षमता उनमें थी और वे चाहते तो उसको अपना आलम्बन बनाकर और प्रकृति का स्वच्छन्द व स्वाभाविक चित्रण कर प्रकृति-कवि के रूप में प्रसिद्ध हो सकते थे। वैभव और विलास के वातावरण में रहने के कारण उनकी मनोवृत्ति कला-पक्ष की ओर विशेष रही। संस्कृत-साहित्य के अति सम्पर्क के कारण उनकी दृष्टि बहुत कुछ बद्ध रही। फलतः प्रकृति-चित्रण यत्र-तत्र दुरूह प्रतीत होते हैं। उनमें हृदय की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य हो गया है। यदि उनमें चमत्कारप्रियता न होती तो उनके प्रकृति-चित्र भी भवभूति और कालिदास के समकक्ष हो सकते थे। परन्तु उन्होंने प्रकृति को कवि की दृष्टि से नहीं अपितु कवि-सम्प्रदाय की दृष्टि से देखा है। अतः वे अपने उद्देश्य में सर्वथा सफल हुए हैं।

केशव की प्रबन्ध-पटुता

साहित्य में प्रबन्ध का स्थान

विज्ञान-युग के बुद्धिवादी मानव ने साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया है। काव्य, शास्त्र और इतिहास। हमारी विवेचना का विषय केवल काव्य है। अतः काव्य की विधाएं ही विचारणीय हैं। काव्यशास्त्र-मर्मज्ञों ने काव्य के तीन प्रकार निर्धारित किए हैं। गद्य, पद्य और चम्पू। महाकवि केशव का मन गद्य एवं चम्पू के प्रणयन में नहीं रमा। उन्होंने काव्य के पद्य-भाग की रचना में ही अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का प्रयोग किया। पद्य की दृष्टि से भारतीय समीक्षा-पद्धति में श्रव्य काव्य के दो भेद किए गए हैं, एक प्रबन्ध और दूसरा मुक्तक। इसके भी भेद-प्रभेद, जो नीचे दिए हैं, साहित्य-वृक्ष द्वारा सरलता से बोधगम्य हो सकते हैं—

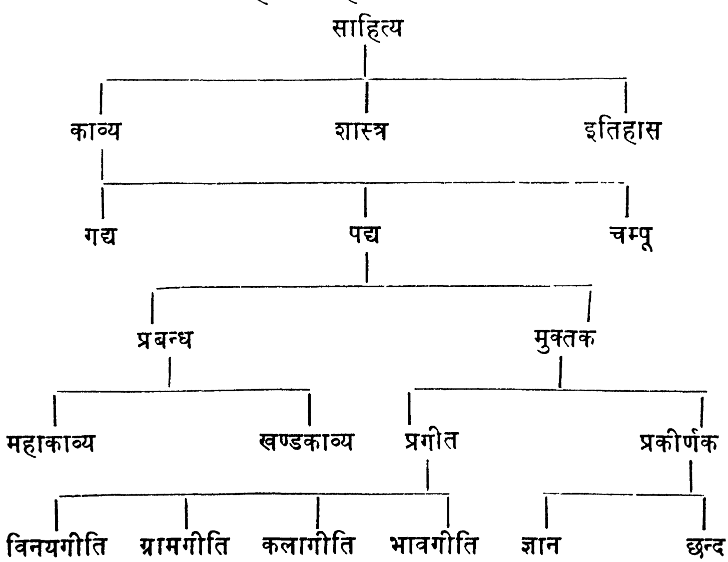

उपर्युक्त साहित्य-वृक्ष से स्पष्ट है कि साहित्य में प्रबंध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमें यहां प्रबन्धकाव्य तथा उसके भेद महाकाव्य पर ही विशेष रूप से विचार करना है। केशव ने कवि और आचार्य-रूप में लक्ष्य और लक्षण दोनों प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके लक्ष्य-ग्रन्थ प्रबन्धकाव्य की कोटि में तथा लक्षण-ग्रन्थ शैली की दृष्टि से लक्षण-प्रबन्ध की कोटि में रखे जा सकते है।

रामचन्द्रिका (महाकाव्य)
वीरसिंहदेवचरित (चरितकाव्य)
विज्ञानगीता (रूपक-प्रबन्ध)
जहांगीर-जस-चन्द्रिका (खण्डकाव्य)
रतनबावनी (खण्डकाव्य)
रसिकप्रिया (रस-प्रबन्ध)
कविप्रिया (अलंकार-प्रबन्ध)
छन्दमाला (छन्द-प्रबन्ध)

प्रथम पांच लक्ष्य-प्रबन्ध तथा अन्तिम तीन लक्षण-प्रबन्ध कहे जा सकते हैं।

रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका में महाकाव्य की दृष्टि से केशव को कहां तक सफलता मिली है इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृत-साहित्य के आचार्य ने महाकाव्य की कौन-कौन विशेषताएं बतलाई हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है--

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
आदौ नमस्क्रियाशीर्षा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः।
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैलर्तुवन सागराः॥[1]

अर्थात्—

१. महाकव्य सर्गों में बंधा हुआ होता है।

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, ३१२-५

२. इसमें एक नायक होता है जो देवता या उत्तम वंश का धीरोदात्त गुणों से समन्वित पुरुष होता है । उसमें एक वंश के बहुत-से राजा भी हो सकते हैं जैसे 'रघुवंश' में।

३. शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस अंगी रूप से रहता है, नाटक की सब संधियां होती हैं ।

४. इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है।

५. इसीमें मंगलाचरण और वस्तु-निर्देश होता है ।

६. कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कीर्तन रहता है जैसे 'राम-चरित-मानस' ।

७. एक सर्ग में एक ही छंद रहता है और अन्त में वह बदल जाता है । यह नियम शिथिल भी हो सकता है, जैसे 'रामचन्द्रिका' में प्रभाव के लिए छन्द की एकता वांछनीय है । सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है । कम से कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं ।

८. इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, अभ्युदय आदि विषयों का वर्णन रहता है ।

यदि हम संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध', 'नैषध-चरित' आदि पर विचार करते हैं तो इनमें उपर्युक्त नियमों का पूर्ण रूप से अनुसरण पाते हैं।

केशवदासजी के महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' में उक्त लक्षणों का उचित निर्वाह भी हुआ है । उनके काव्य का कथानक विश्व-विश्रुत है । इतिहास और काव्य सभीका विषय रामकथा रह चुका है । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम धीरोदात्त नायक हैं । कवि ने आठ से अधिक सर्ग अथवा प्रकाश रखे हैं । शृंगार, वीर और शान्त तीनों रसों का सांगोपांग निरूपण मिलता है । शास्त्रोक्त मंजुल वर्णन को पढ़कर हृदय हर्षोत्फुल्ल हो जाता है । हां, केवल छन्दों के सम्बन्ध में कवि ने कुछ हेर-फेर किया है । एक सर्ग में अनेक प्रकार के छन्दों को और ऐसे छन्दों को, जो अपनी लघुता के कारण प्रबन्ध-प्रवाह में व्याघात-सा करते दीख पड़ते हैं, रखकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

छन्दों की विविधता के कारण किसी प्रकार की त्रुटि होने की अपेक्षा यहां अपूर्व सौन्दर्य और नवीनता के दर्शन होते हैं । चमत्कारपूर्ण अलंकृत योजना की दृष्टि से 'राम-चन्द्रिका' उत्तम कोटि की रचना है । रस और भावों का मानो यह आगार है । केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में नाना विस्तृत वर्णनों एवं दृश्यों को जितना स्थान दिया है उतना सम्भवतः रामाश्रयी शाखा के किसी भी कवि ने नहीं दिया । पूर्वार्ध में सरयू, दशरथ के हाथी, बाग, अवधपुरी, राजसभा, मुनि-आश्रम, सूर्योदय, मिथिला, पंचवटी, दण्डकवन, गोदावरी, वर्षा, शरद्, सीता की अग्नि-परीक्षा, त्रिवेणी, तथा भारद्वाज आश्रम आदि के वर्णन उल्लेखनीय हैं । उत्तरार्ध में रामराज्य, राम-महल, राम-शयनागार, वसनशाला, जलशाला, गंधशाला, मेवाशाला, मंत्रशाला, कृत्रिम सरिता, पर्वत तथा जलाशय आदि के अनेक सुन्दर वर्णन हैं । इन वर्णनों में अनेक स्थलों पर केशवदासजी ने मौलिकता का

परिचय दिया है। कुछ आलोचकों को इन वर्णनों से पाण्डित्य-प्रदर्शन की गन्ध भले ही आए, परन्तु केशव की काल्पनिक उड़ान का लोहा तो उनको भी मानना ही पड़ता है।

कुछ प्रसंगों की सूचना-मात्र, तथा कुछ वर्णनों के विस्तार से प्रेरित होकर कुछ अर्वाचीन आलोचक 'रामचन्द्रिका' में महाकाव्य की दृष्टि से त्रुटियां बतलाते हैं। उनका कथन है कि महाकाव्य में प्रबन्धत्व के लिए कथावस्तु की शृंखला में सब कड़ियों का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए। परन्तु रामचन्द्रिका में इसका अभाव है। इसके समाधान में यह जान लेना अपेक्षित है कि महाकाव्य, जीवन-चरित अथवा इतिहास में अंतर है। इतिहास में तो कथानक की सभी घटनाओं का रहना आवश्यक होता है, परन्तु प्रतिभाशाली कवि तो अपनी वृत्ति के अनुकूल कुछ स्थल-विशेष चुन लेता है और इन्हींका क्रमिक वर्णन करके प्रबंधत्व की अवतारणा करता है। गोस्वामी तुलसीदासजी को प्रबंधात्मकता की दृष्टि से 'आगे चले बहुरि रघुराई' का महत्त्व भले ही हो, केशव के लिए इस यथातथ्य चित्रण में कोई आकर्षण नहीं। दूसरी बात यह है कि रामकथा भारत जैसे धर्मप्राण देश के जन-जीवन में ऐसी घुल-मिल गई है कि यदि उसके कुछ विवरण छोड़ भी दिए जाएं, तब भी एकसूत्रता में व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि पाठक या श्रोता बहुश्रुत होने के कारण शेष वस्तु का स्वयं अध्याहार कर लेता है। तीसरे, केशव ने अपनी राजनीति एवं कूटनीति की विद्वत्ता के कारण अनेक स्थलों पर अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए परम्परागत कथा-वस्तु में ऐसा मोड़ दिया है कि वह देखते ही बनता है। प्रबन्धात्मकता के अभाव की अपेक्षा हमें तो सरसता का ही अनुभव होता है। चौथे, केशव को राम की चन्द्रिका अभीष्ट थी। वे राम के वैभव तथा राजसी ठाट-बाट का वर्णन करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम 'रामचन्द्रिका' रखा। इसके लिए राम-राज्याभिषेक के उपरान्त उन्हें पूरा-पूरा अवसर मिला।

कुछ आलोचकों को संवादों की बहुलता के कारण भी प्रबन्ध-धारा में गति-रोध दिखाई पड़ता है। यह कथन तो ऐसा प्रतीत होता है मानो बिना समझे कह दिया गया हो। क्या स्रोतस्विनी के किनारे पर अवस्थित मनोहर पादप-राशि से उसके पयः की पूर्णता में किसी प्रकार की रुकावट आ सकती है? सचाई तो यह है कि सजीव और फड़कते हुए संवादों द्वारा 'रामचन्द्रिका' की प्रबंध-धारा अपेक्षाकृत मनोरम बन जाती है।

कुछ आलोचक कहते हैं कि केशवदासजी में कथानक के गंभीर और मार्मिक स्थलों को पहचानने की क्षमता नहीं है। इसके उत्तर में केवल हमारा इतना ही निवेदन है कि 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के आधार पर सभी आलोचकों के लिए मार्मिकता की कोई विशेष कसौटी नहीं। एक व्यक्ति को मार्मिक प्रतीत होनेवाले स्थलों में अन्य व्यक्ति को उसका अभाव मालूम पड़ सकता है। तुलसी के मार्मिक स्थल तुलसी के ही लिए थे अथवा किसी अन्य कुटियावाले कवि के लिए हो सकते हैं, कम से कम केशव के लिए नहीं। केशव कोर्ट के कवि थे, भला कुटिया के पैमाने से कोर्ट को कैसे नापा जा सकता है। केशव के मार्मिक

स्थल कोर्ट के थे और उनमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। कुटिया और कोर्ट में सदैव से अन्तर चला आया है और सदैव रहेगा। अतः तुलसी के मापदण्ड द्वारा केशव की कटु आलोचना करना उस महान कवि के साथ अन्याय करना है। इसके अतिरिक्त रामकथा के जो मार्मिक स्थल उन आलोचकों द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं, उनपर केशव से पूर्व वाल्मीकि, तुलसी आदि ने विशद चित्रण कर दिया था। फिर क्षण-क्षण पर नवीन होनेवाली रमणीयता के अवगुंठन को खोलनेवाले महाकवि केशव को पिष्टपेषण कैसे अभीष्ट लगता। इन आलोचकों के बतलाए हुए करुणा तथा शोक-समन्वित स्थलों को संस्कृत-आचार्यों की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के विचार से केशव ने ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वहां करुणा को प्राधान्य कहां! यदि सहृदयता से सोचा जाए तो 'रामचन्द्रिका' में भी अनेक मार्मिक और गंभीर स्थल दृष्टिगोचर होते हैं। केवल रामाश्वमेध का विश्लेषण करने पर भी भावुकता, सरलता और कौतूहल का प्रवाह दीख पड़ेगा।

वीरसिंहदेवचरित

वीरसिंहदेवचरित ऐतिहासिक काव्य है। अतः वीरसिंहदेवचरित में केशवदासजी विशेष परिवर्तन नहीं कर सके। इसमें ऐतिहासिक घटनावली का वर्णन सांगोपांग रूप से किया है। इतिहास एवं कल्पना दोनों के योग से केशवदासजी ने इस सुन्दर प्रबन्ध-काव्य की रचना की।

काव्य का प्रारम्भ दान एवं लोभ के संवाद से होता है। तर्क-वितर्कों के साथ यह दीर्घ संवाद[1] केशव की काल्पनिक प्रतिभा एवं वाक्चातुर्य का आभास तो कराता है, परन्तु कथावस्तु विशेष आगे नहीं बढ़ती। आगे चलकर वीरसिंहदेव के पूर्वजों की नामावली[2] का उल्लेख आता है। यह भी कथावस्तु को रोचक बनाने में असमर्थ रहता है। तदुपरान्त विन्ध्यवासिनीदेवी युक्तियुक्त शास्त्रार्थ को सुनकर उन्हें वीरसिंहदेव के नगर जाने का आदेश देती है। इसी बीच में उनकी जिज्ञासा का शमन करती हुई देवी संक्षेप में कथानक की घटनाओं का कथन कर देती है। विन्ध्यवासिनी के इस कथन में अनेक स्थलों पर नाटकीय त्वरा एवं रोचकता के दर्शन होते हैं। कल्पना के प्राचुर्य से शुष्क इतिवृत्तात्मकता की मात्रा भी बहुत कम हो जाती है।[3] प्रासंगिक घटनाओं का समावेश अपने चरित-नायक के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए किया गया है।[4] केशव ने कथानक के वर्णन में पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप से किया है।

आगे चलकर शेख और पठान के वार्तालाप में अबुलफज़ल के कतिपय गुणों की प्रशंसा केशवदासजी ने मुक्तकण्ठ से की है। अबुलफज़ल की मृत्यु पर सम्राट अकबर को जो महान शोक हुआ तथा वीरसिंहदेव पर जो क्रोधादि उत्पन्न हुआ उसकी सुन्दर

१. वीरसिंहदेवचरित, पृ० १-१३
२. वीरसिंहदेवचरित, पृ० १४,१६
३. वीरसिंहदेवचरित, पृ० १६, २०, २१, २८, ४४, ५५, ५६, ७२
४. वीरसिंहदेवचरित, पृ० २८

अभिव्यक्ति भी की है। प्रबंध-पटुता, चरित्र-चित्रण तथा भावुकता आदि सभीकी दृष्टि से कृति सुन्दर बन पड़ी है।[१] आगे चलकर जहांगीर ने वीरसिंहदेव के साथ मित्रता का परिचय दिया है। इस स्थल पर जहांगीर की कृतज्ञता, गुणग्राहकता तथा चरित्र-निष्ठा का पूर्ण परिचय मिलता है।[२]

वर्णन भी प्रबंध-पटुता का आवश्यक अंग है। केशवदासजी ने संगम-दर्शन, युद्ध-वर्णन, ऋतु-वर्णन, बेतवा-वर्णन तथा उपदेश आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन कर प्रबंधात्मकता में चार चांद लगा दिए हैं।[3] कथानक में रोचकता लाने के लिए युवपाल और क्षेत्रपाल के दीर्घ संवाद की कल्पना कवि ने की है। इसमें शरीर की नश्वरता, मृत्यु की निश्चितता, सेवा की महत्ता, क्षत्रिय गुण, गाय, द्विज, नियमादि, वीरक्षमा तथा सामाजिक गुणों का चित्रण किया गया है।[४]

यहां वीरसागर का वर्णन उल्लेखनीय है।[५] 'मदन महोत्सव' का वर्णन भी अनूठा है। कदाचित् साहित्य-जगत् में इससे बढ़कर वर्णन फिर नहीं मिल पाता। उस समय के राजदरबार को देखने के लिए केशव का पठन नितान्त अनिवार्य है।

इससे आगे दान ने बड़े चाव से राजधर्म और राजकर्म का व्याख्यान किया। अंत में राज्याभिषेक का समय आ जाता है। नृप वीरसिंहदेव सबको सम्मानित करते हैं। सभी आशीर्वाद देते हैं। इसके पश्चात शुक-सारिका-संवाद से ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

कहने का सारांश यह है कि धीरोदात्त नायक के साथ इतिहास-प्रसिद्ध कथानक में पात्रों का समुचित चरित्र-चित्रण, आवश्यक वर्ण्य विषय, राजनीति, धर्मनीति, प्रकृति का सुन्दर छन्द तथा अलंकारों के सहयोग से कोमलकांत पदावली में मनोरम शैली के सन्निवेश से चित्रण होने पर यह प्रबन्धकाव्य सचमुच सुन्दर बन पड़ा है।

विज्ञानगीता

कवि की महत्त्वपूर्ण दार्शनिक रचना 'विज्ञानगीता' है। दर्शन जैसे नीरस एवं कठिन विषय को काव्य द्वारा कितना सरस बनाया जा सकता है, यह बात 'विज्ञानगीता' से स्पष्ट है। संवादों में सिद्धहस्त केशव ने संवादात्मक शैली को अपनाकर ग्रंथ की रोचकता में चार चांद लगा दिए हैं। 'विज्ञानगीता' का उद्देश्य श्रीमद्भागवत की भांति अशुभ वृत्तियों पर शुभ वृत्तियों की विजय प्राप्त कराना ही है। संवादात्मक रूप के कारण गीतान्तर्गत मनोभावों को पात्रों में परिणत कर दिया गया है। विवेक के द्वारा मोह का नाश होने पर प्रबोध का उदय होता है। परिणामस्वरूप जीव जीवन्मुक्त होता है। इसमें हिन्दू दार्शनिक पद्धति से वैराग्यमूलक ज्ञान का वर्णन किया गया है। प्रबोधोदय जीवन्मुक्त अवस्था

---

१. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ३८, ४०
२. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ३७, ४५, ५८, ५६
३. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ३०, ३२, ५०, ५७, ६७, ७१
४. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ७६, ८१
५. वीरसिंहदेवचरित, पृ० १७

के लिए परमावश्यक है । केशवदासजी ने महामोह और विवेक के युद्ध तथा मोह की पराजय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ इक्कीस प्रभावों में विभाजित है। कवि एवं राजवंश-वर्णन के उपरान्त ग्रन्थ की कथावस्तु का प्रारम्भ संवाद से ही होता है।[1] केशवदासजी शंकर-पार्वती-संवाद के रूप में कथानक को प्रस्तुत करते हैं।

दूसरे प्रभाव से बारहवें प्रभाव तक महामोह एवं विवेक का संघर्ष एवं युद्ध होता हैं। युद्ध में महामोह पूर्णतया पराजित होता है। यह युद्ध असत् एवं सत् शक्तियों का युद्ध है, जिसके अन्त में जाकर सत् शक्तियों की विजय होती है। अंतिम नौ प्रभावों में ज्ञान का विशद वर्णन है। ज्ञानोपदेश के लिए नाना अन्तर्कथाओं का समावेश किया गया है। सरस्वती शोकाकुल मन को समझाने के लिए गाधि ऋषि की कथा सुनाती है।[2]

आगे चलकर सरस्वती 'मन' को शुकदेव की कथा सुनाती है।[3] तदुपरान्त विवेक जीव को ज्ञानोपदेश देते समय वसिष्ठ के तप करने पर शिव द्वारा दिए गए उपदेश का वर्णन करता है।[4] इसी प्रसंग में विवेक जीव को शिखीध्वज तथा चूड़ाला की कथा समझाता है।[5] आगे उपनिषद्, यज्ञविद्या, मीमांसा, तर्कविद्या तथा गीता का भी उल्लेख करते हैं। सत्रहवें प्रभाव के अन्त में उपनिषद् ने जीव के समझाने के लिए ज्ञान-अज्ञान की भूमिकाओं का वर्णन किया है। अट्ठारहवें एवं उन्नीसवें प्रभावों में क्रमशः जीव के पूछने पर उपनिषद् जीव को प्रह्लाद की कथा तथा बालि की कथा द्वारा ज्ञानोपदेश देती है। बीसवें प्रकाश में उपनिषद् ने जीव को सृष्टि तथा योग की सात भूमिकाओं का वर्णन कर ज्ञानोपदेश दिया है। इक्कीसवें अथवा अन्तिम प्रभाव में योग वर्णित है। सत, रज तथा तम की व्याख्या करती हुई उपनिषद् प्रबोधोदय के लिए अहंकार एव भ्रम का नाश अनिवार्य समझती है। प्रबोधोदय होने पर ही जीव जीवन्मुक्त हो जाता है। उपनिषद् के इस ज्ञानोपदेश के परिणामस्वरूप जीव को यह मिथ्या भासित होने लगता है और ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक कथानक बड़ा कौतूहलवर्धक है। केशवदासजी के इस ग्रंथ का मुख्य आधार कृष्ण मिश्र द्वारा विरचित संस्कृत का 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक है। जहां कहीं अन्तर दृष्टिगत होता है वहां 'योगवाशिष्ठ' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' का आश्रय लिया गया है। कथावस्तु में यत्र-तत्र कवि ने मौलिकता से भी काम लिया है। 'विज्ञानगीता' एवं 'प्रबोधचन्द्रोदय' में अन्तर होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि 'विज्ञान-

---

१. एक समय नृपनाथ, सभा मध्य बैठे सुमति।
बूझी उत्तम गाथ, कवि नृप केसवदास सों ॥
—विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द २७-३३

२. विज्ञानगीता, तेरहवां प्रभाव, छन्द ८८

३. विज्ञानगीता, चौदहवां प्रभाव

४. विज्ञानगीता, पंद्रहवां प्रभाव

५. विज्ञानगीता, सोलहवां प्रभाव

गीता' एक काव्य-ग्रन्थ है तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' एक नाटक।

'रामचन्द्रिका' की भांति 'विज्ञानगीता' में भी प्रत्येक प्रभाव के आरम्भ में कथा-सार देकर प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख कर दिया गया है।

महामोह इस प्रबन्धकाव्य का नायक है, किन्तु फलागम उसके प्रतिकूल होते हुए भी सामाजिकों के लिए सुखकर है। केशव की प्रतिभा, कल्पना और सूझ सचमुच सराहनीय है। महामोह के प्रस्थान पर चार्वाक द्वारा वर्णित शरद् का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है।[1]

कथा के बीच में आगत व्यक्ति-चरित्रों से प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में रोचकता और उसकी बोधगम्यता की अभिवृद्धि हुई है। कवि के मत में दिल्ली दम्भपुरी और मथुरा पाखण्डपुरी है। केवल वाराणसी ही, बिन्दुमाधव और विश्वनाथ के निवास के कारण, विवेकनगरी के रूप में प्रतिष्ठित है, और हो भी क्यों न, इसका सृजन भी तो वरणा और नाशी के योग से हुआ है। इसका स्थान त्रिकुटी में बतलाया गया है।[2]

महाकाव्य को रूपक और रूपक को महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत न करते हुए भी उनका प्रयास स्तुत्य कहा जा सकता है। यह प्रबन्ध हिन्दी-साहित्य में एक विधा का प्रवर्तक है। परन्तु खेद का विषय है कि रीतिकाल में केशव के समान कोई दूसरा प्रतिभाशाली कवि पैदा नहीं हुआ जो इस विधा को आगे बढ़ाता। इस दृष्टि से केशवदासजी का यह रूपक-प्रबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जहांगीर-जस-चन्द्रिका

'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' भी केशव का एक छोटा प्रबन्धकाव्य है। इसमें पतिपाद्य विषय का उचित विकास हुआ है। इसकी रचना 'वीरसिंहदेवचरित' की पद्धति पर हुई है। राजधानी की छटा दर्शनीय है। उद्योग और भाग्य के तर्कपूर्ण वाद-विवाद से ग्रन्थ आरम्भ होता है। निर्णय बादशाह जहांगीर करते हैं। जहांगीर का शुभ्र यश और शीतल प्रताप देखते ही बनता है। अपने देशवासियों के अनुरूप केशवदास ने जहांगीर को शक-साहि कहा है और उन्हें अनेक सुल्तानों से श्रेष्ठ माना है। इसमें महत्त्वपूर्ण बात शिव को मथुरा में अधिष्ठित देखना है। भाग्य और उद्यम को जहांगीर के न्याय और प्रभुता की शरण में भेज दिया जाता है। आगरा के दरबार की सुषमा और अनुशासन विप्र-वेशधारी भाग्य और उद्यम पर अपना अधिक प्रभाव जमाते हैं। बादशाह के समक्ष अपने यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन कर दोनों अर्चना के भाजन बनते हैं। भाग्य और उद्यम में किसे प्रमुख समझा जाए यह बात सभा में पूछी गई, किन्तु मानसिंह के अनुनय पर बादशाह निर्णय देते हैं—

उदय भाग अति उदित मति, मुनि सर्वज्ञ प्रमान।
जग में उद्यम कर्म ये मेरे जान समान।

---

१. विज्ञानगीता, १०।१५
२. जाबालोपनिषत् २

करम फले उद्यम करे उद्यम कर्महि पाय।
एके कर्म दुहूनि को कीनो विधि सुखदाय।
दुहुँ विधि उद्यम कर्म है शुभ अरु अशुभ अपार।
काटन या संसार को समझो बुद्धि उदार।
जौलों ये संसार में तौलों यह संसार।
इन्हें नसे ते नसत हैं यह सिगरो भ्रम भार॥[1]

बादशाह के इस समाधान से सभी सन्तुष्ट हो गए। भाग्य और उद्यम से सराहना करते हुए वरदान मांगने को कहा तो उन्हें ही सपरिवार रहने को कहा गया। केशव के काव्य पर मुग्ध होकर जहांगीर ने कुछ मांगने के लिए कहा। इसपर केशवदास ने ब्राह्मणोचित मर्म-भरा उत्तर दिया है।[2]

जैसाकि पुस्तक के शीर्षक से प्रतीत होता है, कवि को जहांगीर की 'चन्द्रिका' अभीष्ट है, यद्यपि कथांश बहुत सूक्ष्म है, तथापि उसमें सम्बद्धता है। बीच-बीच में नाना वर्णन रसानुभूति कराने में अत्यन्त सहायक हैं। संवादों में सिद्धहस्त एवं पारखी यहां भी उद्यम एवं भाग्य का संवाद प्रारम्भ कर देते हैं। संवाद अत्यन्त तर्कयुक्त, सरस एवं आकर्षक हैं। कवि की अंतिम रचना होने के कारण इसमें कवि-प्रतिभा मुखरित हो उठी है। कथा का सूत्र कहीं भी टूटने नहीं पाया है। यद्यपि यह प्रशस्ति-काव्य है तथापि उसे हम खण्डकाव्य की कोटि में रख सकते हैं।

रतनबावनी

यह ग्रंथ केशवदासजी की प्रथम रचना है। इसमें मधुकरशाह के सोलह वर्षीय पुत्र रतनसेन के शौर्य का वर्णन है। स्वाभिमान के लिए पिता के आदेश पर यह युद्ध अकबर के साथ होता है। राजकुमार को समझाने के लिए ब्राह्मण-रूप में भगवान तक आते हैं, परन्तु वह अपने निश्चय से नहीं डिगता। युद्ध होता है और रतनसेन उसी युद्ध में वीरतापूर्वक मारा जाता है। साधारण रूप से देखने से यह ग्रंथ मुक्तक की कोटि में प्रतीत होता है, परन्तु जब हम इसके कथासूत्र पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि इसका कथानक उखड़ा हुआ नहीं है। वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। नायक के चरित्र का स्वाभाविक विकास हुआ है। कथानक बहुत छोटा होने पर भी कथा का सूत्र निरन्तर चलता रहता है।

रसिकप्रिया, कविप्रिया एवं छन्दमाला

महाकवि केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' को क्रमशः रस-प्रबंध, अलंकार-प्रबंध के नामों से अभिहित किया जा सकता है। इन नामों को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने भी मान्यता दी है। श्री विश्वनाथजी का कथन है—

---

१. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, १०६-१०९
२. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, १९८

पूर्वेभ्यो भामहादिभ्यः सादरं विहितांजलिः ।
वक्ष्ये सम्यगलङ्कारशास्त्रसर्वस्वसंग्रहम् ।
चिरेण चरितार्थोऽभूत् काव्यालङ्कारसंग्रहः ।
प्रतापरुद्रदेवस्य कीर्तिर्येन प्रकाश्यते ।
रसप्रधानाः शब्दार्था गुणालंकारवृत्तयः ।
रीतयश्चेयती शास्त्र प्रमेयं काव्यपद्धतिः ।।
यद्यप्यसो प्रबन्धेषु प्राचां साधुनिरूपिता ।
तथाप्यस्याः स्वयं नेतुर्नोदाहरणमाहृतम् ।
पुण्यश्लोकस्य चरितमुदाहरणमर्हति ।
न कश्चित्तादृशः पूर्वैः प्रबन्धा भरणीकृतः ।
प्रबन्धानां प्रबन्धृणामपि कीर्ति प्रतिष्ठयोः ।।
मूलं विषय भूतस्य नेतुर्गुण निरूपणम् ।
यद् वेदात्प्रभु संमितादधिगतं शब्द प्रधानाच्चिरं ।
यच्चार्थ प्रवणात् पुराण वचनादिष्टं सुहृत् संमितात् ।
कान्ता सम्मितया यथा सरसतामापाद्य काव्यश्रिया ।
कर्त्तव्ये कुतुकी बुधौ विरचितस्तस्यै स्पृहां कुर्महे ।
प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः ।
अलंकारप्रबन्धोऽयम् सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तुवः ।।[1]

इस महत्त्वपूर्ण अवतरण के द्वारा भामह से लेकर विश्वनाथ तक प्रबंध-धारा का प्रवाह दिखाकर 'अलंकार-प्रबंध' की पद्धति का निर्देशन किया है। 'रसिकप्रिया' में नन्द-नन्दन की रति-क्रीड़ा में सभी रसों का आस्वादन मिलता है। 'कविप्रिया' में अलंकारशास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है। 'बारहमासा' एवं 'नखशिख' मुक्तक प्रतीत होते हैं, परन्तु जब वे 'कविप्रिया' में भी पाए जाते हैं तो उनकी गणना उसी अलंकार-प्रबंध के अन्तर्गत हो जाती है। उसी प्रकार 'छन्दमाला' भी छन्द-प्रबंध के अन्तर्गत आती है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि केशव प्रबन्ध में पटु ही नहीं अपितु उसके पारखी भी थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में प्रायः प्रबन्धात्मकता पाई जाती है।

केशव का चरित्र-चित्रण

काव्य जीवन-विटप का मधुमय सुमन है। यदि प्रबन्धकाव्य का विषय मानव है तो चरित्र-चित्रण उसका सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व उसके चरित्र में है। चरित्र ही के आधार पर मनुष्य मनुष्य में अन्तर किया जा सकता है।

---

१. प्रतापरुद्रीय, बम्बई संस्कृत सीरीज, काव्य-प्रकरण २-९

चरित्र के कारण ही मानव का व्यक्तित्व प्रकाश में आता है। आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के व्यक्तित्व चरित्र-चित्रण के द्वारा ही जाने जाते हैं। बाह्य व्यक्तित्व में मनुष्य के आकार-प्रकार, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, चाल-ढाल, संलाप के विशेष प्रकार और कार्य-कलाप भी आ जाते हैं। आभ्यन्तर व्यक्तित्व इन सब बातों से अनुमेय रहता है। बाह्य व्यक्तित्व के चित्रण की अपेक्षा आभ्यन्तर-चित्रण कुछ कठिन है। उसमें पात्र के सभी मानवी गुणों अथवा दुर्गुणों का चित्रण रहता है। कवि-प्रतिभा की परख उसके चरित्र-चित्रण-कौशल से होती है। महाकवि केशव के चरित्र-चित्रण-प्रावीण्य को परखने के लिए उनकी अमर कृति 'रामचन्द्रिका' विशेष रूप से नयन-पथ में आती है। उनके अन्य प्रबन्धकाव्य प्रायः ऐतिहासिक हैं। 'विज्ञानगीता' में मनोवृत्तियों को पात्रों का स्वरूप दिया गया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनके ग्रन्थ प्रायः सफल हैं।

केशव की रामचन्द्रिका लोक-विश्रुत कथानक की आधारशिला पर अवस्थित है। इस संवाद-सुन्दर कथानक में रुढ़िवाद की शृंखलाओं का भेदन कर मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक युग के अनुरूप नवीन चेतना-संवलित सजीव पात्रों का चित्रण केशव की प्रतिभा की दाद देने के लिए विवश करता है।

राम

आदिकवि वाल्मीकि एवं कविवर तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम को एक ऐसे आदर्श पात्र के रूप में चित्रित किया है जिनमें सभी मानवीय गुण विद्यमान हैं। वे शील, शक्ति और सौंदर्य के आगार हैं। उनकी धीरता, वीरता, गांभीर्य और सौजन्य को देखकर, श्रद्धापुलक होकर हम नतमस्तक हो जाते हैं। मानव-काव्य-प्रणेता केशव ने मानव-लीला करनेवाले राम में मानव-सुलभ वृत्तियों के उतार-चढ़ाव को दिखाते हुए भी उनके ब्रह्मरूप को अक्षुण्ण बनाए रखने का उपक्रम किया है। जनकपुर में राम द्वारा महादेवजी के कोदण्ड का खण्डन हो जाने पर कोपाकुल भृगुनन्दन सभा के सभी सदस्यों, किंवा स्वयं विदेहराज तक, के प्रति अशोभनीय शब्दों का प्रयोग कर जाते है। परिणामस्वरूप प्रकृति-गंभीर राम भी क्षुब्ध हो उठते हैं—

अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन ते होई॥[1]

उग्रता के उद्रेक को संवरण करते हुए वे परशुराम से कहते हैं, "भवितव्यता के कारण सब कुछ संभव है। वज्र तृण और तृण वज्र में परिणत हो सकता है। फिर किसीको अपराधी कहना उचित नहीं।" परशुराम के उद्दीपक वचनों से इनकी उग्रता परिधि के परिवेश को तोड़ने लगती है। वे चुभनेवाली शब्दावली का प्रयोग करने लगते हैं।[2]

वन में सुग्रीव और राम का मिलन होता है। दोनों में मित्रता हो जाती है।

---

१. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास
२. रामचंद्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ४२

राम सुग्रीव का संकट दूर करने के लिए बालि का वध करते हैं और इसके बदले सुग्रीव से अपहृत विदेहतनया की खोज कराने की आशा रखते हैं। पर वह नवीन-प्राप्त राज्य के सुखोपभोग में सब कुछ भूल बैठा है। ऐसे अवसर पर निसर्ग-गंभीर तुलसी और वाल्मीकि के राम में भी क्रोध प्रस्फुटित होने लगता है, परन्तु वे उसे अपनी महत्ता से दबा लेते हैं।[1]

माता-पिता और प्रियतमा का त्याग करके वन में हिम, आतप और झंझा के झोंकों को सहन करते हुए, राम के परम भक्त लक्ष्मणलाल रणस्थल में मूर्छित हो जाते हैं। करुणासींव राम का हृदयद्रावी रोदन सुनकर 'अपि ग्रावा रोदीत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'[2] का वातावरण उपस्थित हो जाता है। केशव ने यह स्थल रस-विभोर होकर लिखा है—

लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यो, नैनन तें न रह्यो जल रोक्यो।
बारक लक्ष्मन मोहि विलोको, मो कहँ प्रान चले तजि, रोकौ।
हौं सुमरौं गुन केतिक तेरे, सोदर, पुत्र, सहायक मेरे।
लोचन बाहु तुही धनु मेरो, तू बल विक्रम बारक हेरौ।[3]

इसके बाद तुरन्त ही वे अपनी क्रोधाग्नि में समस्त चराचर जगत् को नष्ट कर देना चाहते हैं। गन्धर्व, किन्नर, वसु और विद्याधरों की खैर नहीं।

केशव के राम में एक कूटनीतिज्ञ का सा संशय भरा है। 'न विश्वसेत् कुमित्रस्य मित्रस्यापि न विश्वसेत्' की विचारधारा के मानने के कारण भरत के प्रति सौहार्द और निश्छल स्नेह रखते हुए भी भरत की ओर से दुरभिसन्धि की क्रूर कल्पना करते हैं।[4]

ताड़का के मारने के लिए शर-संधान हो चुका है, पर तुरन्त ही स्त्री-जाति का विचार करके उन्हें उसका वध अभिप्रेत नहीं। तब विश्वामित्र के द्वारा आततायिनी समझकर ही उसका हनन किया जाता है

तुलसी के राम जिस प्रकार अनुनय-विनय करती हुई सीता को साथ लेते है, उसी प्रकार केशव के राम भी उसे घर रहने की सीख देते हैं और जब वह हठ करती है, उचित तर्क करती है, तो परम दयालु राम अपने साथ ले लेते हैं—

तुम जननि-सेव कहँ रहहु वाम।
कै जाहु आजु ही जनक-धाम।
सुनि चन्द्रबदनि गजगमनि ऐनि।
मन रुचै सो कीजे जलजनैनि॥[5]

तुलसी के समान कविवर केशव ने भी राम को निराकार, साकार और नराकार

---

१. रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृष्ठ ३६१
२. उत्तररामचरित, महाकवि भवभूति
३. रामचन्द्रिका, सत्रहवां प्रकाश, छन्द ४३-४६
४. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द २७
५. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द २३

तीनों रूपों में स्वीकार किया है। निराकारावस्था में राम साक्षात् ब्रह्म हैं।[1]

भक्तवत्सल राम निर्गुण होते हुए भी भक्तों के स्नेह के कारण सगुण बन जाते हैं। दशरथ के घर भी उन्होंने भक्तवत्सलता के कारण ही जन्म ग्रहण किया। वे विष्णु-रूप में क्षीर-सागर में शयन करते थे। ब्रह्मादि देवताओं की विनय से उन्होंने दशरथ का पुत्र होना स्वीकार किया है।[2]

अपनी साकारावस्था में वे परम सत्यसन्ध, अशत्रु, महादानी, अक्रोधी, मर्यादा-नायक और यशस्वी आदि सभी कुछ हैं।[3]

सीता

कवि ने जग-जननी जानकीजी को एक आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित किया है। अप्रतिम सुन्दरी, पतिपरायणा, साध्वी सीता में सभी गुण निहित हैं। हां, उसमें आधुनिक युवती की आभा भी परिलक्षित होती है। अपने कार्य-कलाप से वह बहुत कुछ राधा के समान प्रतीत होती है। अपने पति के साथ वह वन को जाती है। आदर्श पत्नी सच्चे अर्थों में वही है जो अनेक आपत्तियों के बीच पति के समक्ष मुस्कराती रहे, न कि विषादमग्ना होकर उसके अवसाद को और बढ़ाए। ठीक इसी सिद्धान्त के अनुरूप—

श्रम तेऊ हरें तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों।[4]

केशव की सीता आधुनिक सभ्यता में पली युवती के सदृश वीणा-वादन में प्रवीण है। वन में अन्यमनस्क अपने पति को रिझाने के लिए इसीका सहारा लेती है—

जब जब धरि वीना प्रकट प्रवीना बहु गुन लीना सुख सीता।
पिय जियहि रिझावै दुखनि भजावै विविध बजावै गुनगीता॥[5]

केशव की सीता पतिपरायणा नारी है। उसमें चातक का सा प्रेम है। चाहे वह चपला चमकावे, उपल-वर्षण करे पर चातक कभी अपने प्रिय पयोद के दोषों की ओर दृष्टिपात करता है? कभी नहीं, क्योंकि जिसे एक बार प्रिय मान लिया फिर उसके अवगुणों का अवलोकन प्रेम-राज्य की सीमा से अलग की बात है। पानी पीकर भी क्या जाति पूछी जाती है? राघवेन्द्र ने स्वयं उसको निरपराध वनवास दिया था, फिर भी परिवारसहित, परिजन-समेत राम की पराजय की सूचना कुश से पाकर वेदना-व्यथित सीता उनसे यहां तक कहती है—

पाप कहाँ हति बापहि जैहो।
लोक चतुर्दस ठौर न पैहो॥

१. रामचन्द्रिका, दशम प्रकाश, छन्द ४०
२. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द १२
३. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द १७
४. रामचन्द्रिका, वन-गमन
५. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द २७

राज कुमार कहै नहिं कोऊ।
जारज जाइ कहावहु दोऊ ।।[१]

वह कोई सामान्य वेदना न थी। उसमें सीताजी की सारी जलन बसी थी।

केशव के राजनीतिक कौटिल्य के कारण उनमें भी सन्देह का भाव भरा है। हनुमान के कथन को वे योंही नहीं मान लेतीं और न रावण की प्रवंचना का शिकार होती हैं।

लक्ष्मण

लक्ष्मणजी उन्हीं भारतीय आदर्श चरित्रों में से एक हैं जिनका गौरव देश के सांस्कृतिक इतिहास में अमर है। रामकथा के सभी पात्रों में लक्ष्मण का चरित्र परमोज्ज्वल है। 'रामचन्द्रिका' के लक्ष्मण बहुत ही शिष्ट एवं अनुशासित हैं। परशुराम के प्रकोप के समय भी वे भरत और शत्रुघ्न के बाद ही कुछ बोलते हैं, सो भी यही कि—

जिनको सु अनुग्रह वृद्धि करै। तिनको किमि निग्रह चित्त परै।
जिनके जग अक्षत सीस धरै। तिनको तन सक्षत कौन करै ।।[२]

किन्तु भृगुनन्दन इस विनीत वाणी को चाटुकारिता समझकर राम के विनय की भी उपेक्षा करते हैं, तो लक्ष्मण का खून खौल उठता है। वे व्यंग्य करते हैं—

क्षत्रिय ह्वै गुरु लोगन को प्रतिपाल करैं।
भूलिहु तो तिनके गुन औगुन जी न धरैं।
तौ हमकों गुरु दोष नहीं अब एक रती।
जौ अपनी जननी तुम ही सुख पाइ हती।[३]

राम को वनवास मिलने पर लक्ष्मण को राजसेवा और भरत की गतिविधि को देखने का आदेश मिला, पर राम के अनन्य भक्त लक्ष्मण का कण्ठावरोध हो गया। वे केवल इतना-भर कह सके—

शासन मेटी जाइ क्यों जीवन मेरे हाथ।
ऐसी कैसे बूझिए, घर सेवक वन नाथ ।।[४]

अन्याय की आशंका-मात्र से उस निसर्ग शूर का पारा गरम हो जाता है। भरत के दलबल का बोध होते ही वे आवेश में आ जाते हैं।[५]

उनके कोमल हृदय में करुणा भी है। वानरराज सुग्रीव की ओर से जब सन्धि का प्रस्ताव आता है तब लक्ष्मण हनुमान का अनुमोदन करते हैं।[६]

स्वभाव-शूर लक्ष्मण को सैन्य-उत्कर्ष अधिक अच्छा लगता है। वे शरणागत-वत्सल

---

१. रामचन्द्रिका, उन्तालीसवां प्रकाश, छन्द ३
२. रामचन्द्रिका, ७।३२
३. रामचन्द्रिका, ७।३५
४. रामचन्द्रिका, ६।२८
५. रामचन्द्रिका, १०।२५
६. रामचन्द्रिका, १२।५८

हैं। रावण की ब्रह्म-शक्ति विभीषण पर दौड़ पड़ी है और उसका अन्त होनेवाला है कि लक्ष्मण उस अमोघ शक्ति को स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं—

राख्यो गले शरनागत लक्ष्मन धूलि के फूल-सी ओढ़ि लई है।

औषध द्वारा जब उनकी मूर्छा दूर हुई तो वे ललकार उठे।[1]

मर्यादा का ध्यान उन्हें इतना है कि साकेत लौट आने पर राम के सामने न किन्तु—

पीछे दुरि सत्रुघ्न पै लखन धुवाए पाइ।
चरन सुमित्रि पखारियो अंगदादि के आइ॥[2]

जब राम अयोध्या की ओर रथ पर आसीन होते हैं तो भरत सारथी बनते हैं, प उन्हें सिया बनना ही अभिप्रेत है—

लीनी छरी दुहुँ बीर, सत्रुघ्न लक्ष्मन धीर।
टारैं जहाँ तहँ भीर, आनन्दजुक्त सरीर॥[3]

जिन मां जानकी के लिए उन्हें घोर संग्राम करना पड़ा था उन्हींको वन छोड़ की आज्ञा मिलने पर तो उनपर वज्रपात हो गया। निर्वासित वैदेही का करुण क्रंदन सु कर तो 'अपि प्रखर रोदित्यपिदलति वज्रस्य हृदयम्' की हालत हो गई। बौद्ध क दिङ्नागाचार्य के लक्ष्मण की करुणा शत-शत धाराओं में बह निकली—

आर्या स्वहस्तेन वने विमोक्तुं श्रोतुं च तस्याः परिदेवितानि।
सुखेन लंकासमरे हतं मामजीवयन् मारुतिरात्तवैरः॥[4]

केशव के लक्ष्मण का कंठावरोध हो गया है। नयन जलपूरित हैं। इस घटना बाद तो उन्हें संसार से विराग हो गया। कुश के सामने वे एक बाण से अधिक न चल सके और अन्त में मुग्ध होकर रथ पर गिर पड़े। उनकी असफलता पर आश्चर्यचकि राम का भरत समाधान करते हैं—

लक्ष्मन सीय तजी जब तें बन। लोक अलोकन पूरि रहे तन।
छोडोइ चाहत ते तब तें तन। पाइ निमित्त कर्‌यो मन पावन॥[5]

लक्ष्मण को अनेक गुणों का अधिष्ठान तो तब समझा जाता है जब उसके आरा राम सुमित्रा से कहते हैं—

पौरिया कहौं कि प्रतिहार कहौं किधौं प्रभु।
पुत्र कहौं मित्र किधौं मंत्री सुखदानियें।

---

१. रामचन्द्रिका, १७।४०
२. रामचन्द्रिका, २१।५६
३. रामचन्द्रिका, बाईसवां प्रकाश, छन्द २
४. कुन्दमाला नाटक
५. रामचंद्रिका, छत्तीसवां प्रकाश, छन्द ३०-३१

सुभट कहौं कि शिष्य दास कहौं किधौं दूत।
केसोदास हाथ को हथ्यार उर आनियै।
नैन कहौं किधौं तन, मन किधौं तन त्रान।
बुद्धि कहौं किधौं बल विक्रम बखानियै।
देखिवे कौं एक है अनेक भाँति कीन्हीं सेवा।
लखन के मात कौन-कौन गुन मानियै ॥[१]

भरत

वाल्मीकि और तुलसी के समान केशव ने अपनी काव्य-कृतियों के माध्यम से भरत के आदर्श चरित्र को राम से भी बढ़कर चित्रित किया है।

उस वरेण्य तपस्वी के शान्त मानस में परशुरामजी के कटु वचन सुनकर क्षोभ की उर्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। वे सबसे पूर्व कहना आरम्भ कर देते हैं और परशुरामजी को ललकार उठते हैं।[२]

तुलसी के भरत के समान केशव के भरत भी राम के अनन्य भक्त हैं। उन्हें राम-विरोधी से कोई सहानुभूति नहीं। अपनी माता कैकेयी को भी जीभ जलने और मुख में कीड़ा पड़ने की बात कहकर जो शिष्टाचार का भंग किया गया उसके मूल में राम के प्रति अनुराग-भावना ही है। केशव के भरत जब राम को लौटाने जाते हैं और जब राम नीति-धर्म के प्रमाण प्रस्तुत करके लौटना नहीं चाहते तो वाल्मीकि के भरत के अनशन व्रत की तरह हठ करके बैठ जाते हैं, साक्षात् भागीरथी प्रकट होकर राम के ब्रह्मरूप का उद्घाटन करती है।[3]

भरत की आंख खुली तो राम की पादुका लेकर राम और सीता को प्रदक्षिणा देकर नन्दिग्राम में आ बसे। भरतजी राम के आज्ञापालक हैं, उनके भक्त हैं। वे ऐसे न्यायप्रिय हैं कि जब राम सीता के निर्वासन का प्रश्न उठाते हैं तो वे डटकर उनका विरोध भी करते हैं।[४]

सीताजी के वनवास से वे विषादमग्न रहने लगते हैं।

रावण

केशव के रावण का चरित्र अपनी निजी विशेषता लिए हुए है। उनका रावण स्वभाव से अभिमानी है। बाणासुर जब धनुष तोड़ने को ललकारता है तब उसका अभिमान फूट पड़ता है।[५]

अक्ष के घातक पवन-तनय के मुंह से सेतु बांधकर सीता के चोर को मारने के

---

१. रामचंद्रिका, बाईसवां प्रकाश, छन्द २१
२. रामचंद्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द २२
३. रामचंद्रिका, दसवां प्रकाश, छन्द ३६
४. रामचंद्रिका, ३३।३२-३४
५. रामचंद्रिका, ४।६

लिए राम का आगमन सुनकर वह एकदम आगबबूला हो जाता है।[१]

'रामचन्द्रिका' का रावण कूटनीतिज्ञ है। सीता को राम के चरित्र में दोष लगाकर अपनी ओर मिलाना चाहता है—

तुम्हें देवि दूषै हितू ताहि माने।
उदासीन तोसों सदा ताहि जाने।
महा निर्गुणी नाम ताको न लीजे।
सदा दास मोपे कृपा क्यों न कीजे।।[२]

यहां पर कोई साधारण स्त्री रही होती और वह रावण की यह चाल समझकर बच निकलती तो उसका चरित्र कुछ ऊंचा हो गया होता। परन्तु सीताजी का चरित्र पहले से ही इतनी उच्चता पर प्रतिष्ठित है कि इस कल्पना से उनके चरित्र में कुछ विशेषता नहीं आती। किन्तु रावण की ओर से देखने से यह चाल बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होती है।

रावण का अंगद को फोड़ने का प्रयास भी बहुत कूटनीति से युक्त है। वह अंगद से कहता है कि देखो ये रामचन्द्र कुछ बहुत भले आदमी नहीं हैं। उन्होंने हमारे परम मित्र तथा तुम्हारे बाप बालि को निरपराध मार दिया, तुम्हारे ऐसे सपूत के लिए यह बहुत लज्जा की बात है। तुम हमारा सब दल लेकर उसे आज ही क्यों नहीं मार डालते ?[३]

इन चालों से रावण की कूटनीतिज्ञता तथा क्षुद्रता प्रकट होती है। राम और रावण के बीच में भी केशव ने कुछ कूटनीति के दाव-पेच दिखाए हैं। रावण का दूत राम से आकर कहता है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि तो हमसे विनती करते है इससे हमारा प्रताप और ऐश्वर्य समझ लो और मुझे होम की एक नवीन रीति भी ज्ञात हो गई है जिसका अनुष्ठान करने पर मैं तुम्हारे वंश का न रहूंगा।[४] अपने योग्य पुत्र के आकस्मिक निधन के कारण वह विषादमग्न हो जाता है, किन्तु रावण सदा रावण ही है। पुत्र-शोक उसे कायर नहीं बना सकता। निदान मन्दोदरी की कातर वाणी को सुनकर तड़प उठता है और गरजकर धीरज बंधाता है।[५]

वह सदा युक्ति का पुजारी रहा। वह केवल वाग्वीर ही नहीं युद्धवीर भी था। वह कहता ही नहीं, करता भी था। हस्तलाघव की दशा यह है कि—

मोगरा द्विविद तार कटरा कुमुद नेजा।
अंगद शिला गवाक्ष विटप विदारे हैं।

---

१. रामचंद्रिका, १४।२
२. रामचंद्रिका
३. रामचंद्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द १५
४. रामचंद्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द १६
५. रामचंद्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द २५

अंकुश सरभ चक्र दधिमुख सेष सक्ति।
बान तीन रावन श्रीरामचन्द्र मारे हैं।[1]

वीरसिंहदेवचरित

ओरछा-नरेश श्री वीरसिंह के दरबारी कवि होने के नाते केशव ने उनके चरित्र की अनेक विशेषताओं को व्यक्त किया है। राजनीति-विचक्षण वह सेवक-सेव्यभाव को भली भांति समझता है। जब सलीम अबुलफज़ल की हत्या का उपक्रम करता है तो वह समझाता है—

वह गुलाम तू साहिब ईश, तासो इतनी कीजहि रीस।
प्रभु सेवक की भूमि विचारि, प्रभुता यहै जो लेहि सँभारि॥[2]

वह रणकला में निपुण है और निर्भीक वीर है। उसके सामने शत्रु डट नहीं पाते।[3]

वीरसिंह ने सलीम के साथ मित्रता करके उसीकी हित-साधना के लिए जो कार्य किया उसकी उसने बहुत सराहना की। यहां तक कि वह उसके सुख-दुःख का साथी बन गया।[4]

वह एक महत्त्वाकांक्षी पुरुष है। उसकी रणनीति अपने समय की श्रेष्ठ है। समय पर अपने प्राण बचाने के लिए वह रणक्षेत्र से अलग भी रहता है, पर उचित समय जानकर टूट पड़ता है और शत्रु का संहार कर डालता है। उसके हृदय में करुणा के लिए भी स्थान है। उसका दरबार कवियों से भरा रहता है। वह अवसर देखकर काम करता है।

रतनसेन

ओरछा-नरेश मधुकरशाह के आज्ञाकारी धर्मपरायण पुत्र का चरित्र बहुत रोमांचकारी है। रतनसेन के कारुणिक अन्त को देखकर पाठक शोकाकुल हो जाता है।

राजा मधुकरशाह एक बार दरबार में पहुंचे। बादशाह और शाह के बीच दोनों के अहं की टक्कर होने लगी। अकबर ने कहा, 'हौं देखों तेरो भुवन।' तीर के समान उनके वचन मर्मस्थान को वेध गए। उन्होंने तुरन्त ही अपने वरेण्य पुत्र के लिए पत्र लिखा।

पुत्र! दिल्लीपति ओरछा देखना चाहता है और समूचे दलबल के साथ। तुम्हारी भुजाओं पर अब पूर्वजों की लाज बचाने का भार है।

उस पितृभक्त राजकुमार ने प्रण किया कि चाहे जीवन-लीला समाप्त हो जाए परन्तु पिता के वचनों का भंग अभिप्रेत नहीं। उसने रण का डंका बजा दिया और वीरोचित सेनासहित प्रस्थान किया।[5]

मार्ग में भगवान ब्राह्मण-वेश में उसकी परीक्षा लेते हैं। यदि भूमि बच रहेगी तो

१. रामचंद्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छंद ४६
२. वीरसिंहदेवचरित, पांचवां प्रकाश, छंद ६१
३. वीरसिंहदेवचरित, छठा प्रकाश, छंद ७४
४. वीरसिंहदेवचरित, सातवां प्रकाश, छन्द २२
५. रतनबावनी, ६

लताएं अनेक हो जाएंगी। एक लता के लिए भूमि खोदना जैसे ठीक नहीं, वैसे ही वल्लरी शेष है तो सुमन अनेक लग सकते हैं। एक पुष्प के पीछे पूरी लता को खो देना कहां की बुद्धिमानी है। ठीक वैसे ही यदि प्राण शेष रहते हैं तो कुल की लाज फिर भी बचाई जा सकती है, अतः मर्यादा-रक्षा में प्राण-विसर्जन मत कीजिए। लेकिन वह धर्मवीर समुचित उत्तर देता है—

गई भूमि पुनि फिरहिं वेलि पुनि जये जरे तें।
फल फूले तें लगहि फूल फूलत झरें तें॥

× × ×

फिरि होइ स्वभाव सुशील मति जगत् गीत यह गाइए।
प्राण गए फिरि फिरि मिलहि पतिन गए पति पाइए।[1]

दोनों में जो उत्तर-प्रत्युत्तर होते हैं वे वचन साहित्य की संपदा हैं।

वह बहादुर मुट्ठी-भर वीर सैनिकों के साथ यवनों की विशाल वाहिनी के सामने अड़ जाता है। रतनसेन का रण-कौशल दर्शनीय है।[2]

बाद में अनेक यवनों के एकसाथ उसीपर वार होने लगते हैं। साथी खिसक जाते हैं। मुंड गिरता है तो रुण्ड ही पर्याप्त समय तक युद्ध की विभीषिका की अभिवृद्धि करता रहता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव के चरित्र-चित्रण में कई वे विशेषताएं हैं जो उनके महाकवित्व की साक्षिणी है। उनके चरित्र आदर्श हैं, किन्तु तुलसी के समान आदर्शवादिता ने उनकी स्वाभाविकता को विक्षत नहीं किया। वस्तुतः उनके चरित्र-चित्रण में वाल्मीकि की यथार्थता एवं तुलसी की आदर्शवादिता का सामंजस्य है। तभी उनके पात्रों की रेखाएं तुलसी से भी स्पष्ट हैं। उनके पात्रों में अनेक स्थलों पर आधुनिक युग के अनुरूप मनोवैज्ञानिकता का भी समावेश हुआ है।

केशव के संवाद

काव्य की आत्मा रस है तथा भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष दोनों का सुन्दर सामंजस्य ही कविता की सच्ची कसौटी है। इस दृष्टि से भी जब हम केशव पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि उनकी कविता में अनेक स्थल ऐसे हैं जहां दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय हुआ है। ऐसे स्थलों में केशव के संवादों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हें संवादों में अत्यधिक सफलता मिली है। उनमें निदर्शना एवं गूढ़ोत्तर आदि अलंकारों की सुन्दर व्यंजना हुई है। वहां अलंकार सचमुच अलंकार-रूप में ही आए हैं कुछ भार के रूप में नहीं।

---

१. रतनबावनी, १२
२. रतनबावनी

नाटकों में जो प्रत्यक्षानुभूति अभिनय द्वारा आती है वही महाकाव्यों में सुन्दर, सजीव एवं उत्कृष्ट संवादों द्वारा आती है। उन स्थानों पर उनका काव्य साधारण भूमि से बहुत ऊंचा उठ जाता है। केशव के आलोचक प्राय: उनके चरित्र-चित्रण के विषय में कहते हैं कि केशव अपने पात्रों में प्राण-प्रतिष्ठा न कर सके। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं। कथोपकथन में केशव अपने पात्रों के पीछे स्वयं खड़े होकर नहीं बोलते और न दाएं-बाएं से झांकते ही हैं। कथोपकथन की यह बहुत बड़ी विशेषता है। इस दोष से स्वनामधन्य गोस्वामी तुलसीदास भी न बच सके। उनके बहुत-से पात्रों की बातचीत में उनके साधुस्वभाव की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। केशव ने अपने पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का निर्वाह कथोपकथनों में बड़े कौशल से किया है। उनके पात्रों में हम जीवन का पूर्ण स्पन्दन पाते हैं।

केशव का जीवन ही राजदरबारों में व्यतीत हुआ था, अत: राजनीतिक दाव-पेच और कूटनीति का जितना ज्ञान केशव को था उतना हिन्दी-साहित्य के किसी अन्य कवि को नहीं। भाषा-प्रवीणता और व्यवहार-कुशलता जैसे गुण, जो एक संवाद-लेखक के लिए अनिवार्य हैं, केशव में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। केशव के संवाद उनकी प्रत्युत्पन्नमति और सूक्ष्म मनोविज्ञान के परिचायक हैं। व्यंग्य केशव के संवादों की प्रमुख विशेषता है।

उनकी सभी कृतियों में संवादों का प्रयोग मिलता है। अब हम सबसे पहले केशव की अमर कृति 'रामचन्द्रिका' के संवादों पर विचार करेंगे। इस ग्रन्थ में निम्नलिखित संवाद महत्त्वपूर्ण हैं—

१. सुमति-विमति-संवाद
२. रावण-बाणासुर-संवाद
३. परशुराम-संवाद
४. भरत-कैकेयी-संवाद
५. शूर्पणखा-राम-संवाद
६. सीता-रावण-संवाद
७. सीता-हनुमान-संवाद
८. रावण-अंगद-संवाद
९. लव-कुश-भरत-संवाद

'रामचन्द्रिका' के तृतीय प्रकाश में सुमति एवं विमति का संवाद 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक के नूपरक तथा मंजरीक का संवाद है। केवल नामों में अन्तर है। जयदेव के वन्दियों को केशव ने कहां तक अपनाया है यह बात दोनों की तुलना से स्पष्ट हो जाएगी। भेद बस इतना ही है कि नाटक गद्य में बोलता है तो काव्य पद्य में। 'प्रसन्नराघव' में नूपरक कहता है—

वअस्स मंजरीअ, को इमो सीताकरग्गहवासनसन्तलच्छीविलसन्तुपुलअमुउल-

जालमण्डिदं णिग्रभुसहम्रारसाहिजुम्रलं पुलोवन्ता चिट्ठादि ।[1]

मंजरीक उत्तर देता है--

स एष निजयशः परिमलप्रमोदितचारणचंचरीकचयकोलाहलमुखरितदिक्चक्रवालक्ष्मापालकुन्तलालंकारो मल्लिकापीडो नाम ।।[2]

प्राकृत एवं संस्कृत की बात को केशव सुमति-विमति के संवाद में इस प्रकार परिणत करते हैं--

सुमति पूछता है—

को यह निरखति आपनों, फुलकित बाहु विसाल ।
सुरभि स्वयंवर जनु करी, मुकुलित साख रसाल ।।[3]

विमति उत्तर देता है--

जेहि जस-परिमल-मत्त, चंचरीक-चारन फिरत ।
दिसि विदिसन अनुरक्त, सुतौ मल्लिका-पीड नृप ।।[4]

केशव का यह पूरा प्रसंग जयदेव का प्रसाद है । चौथे प्रकाश में 'रावण-बाणासुर-संवाद' है, वह भी 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक के आधार पर है । यह संवाद आदि से अन्त तक नाटकीय है । बातचीत दोनों समान बलशाली योद्धाओं के उपयुक्त है । दैनिक बोल-चाल की भाषा में दोनों एक-दूसरे पर बड़े ही अनूठे ढंग से व्यंग्य-प्रहार करते हैं । रावण रंगशाला में प्रवेश कर अपनी वीरता के उपयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करता है—

शंभु कोदण्ड है । राजपुत्री किते ।
टूक द्वै तीन कै । जाउँ लंकाहि ले ।।[5]

अब ज़रा बाण का व्यंग्य सुनिए—

जुपै जिय मोर । तजो सब सोर ।
सरासन तोरि । लहो सुख कोरि ।।[6]

इस प्रकार उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण व्यंग्यात्मक संवाद चलता है ।

परशुराम-संवाद में राम अत्यन्त गंभीर बड़ों के प्रति पूज्य-बुद्धि रखनेवाले, संकोची तथा उचित भाषा का प्रयोग करनेवाले चित्रित किए गए हैं । तुलसी के लक्ष्मण का प्रतिनिधित्व यहां भरत करते हैं । केवल एक बार हमें लक्ष्मण के मुख से यह सुनाई पड़ता है—

अपनी जननी तुम ही सुख पाइ हती ।[7]

---

१. प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, पृष्ठ २७
२. प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, पृष्ठ २७
३. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १८
४. रामचंद्रिका, तृतीय प्रकाश, छंद १९
५. रामचंद्रिका, चौथा प्रकाश, छंद ४
६. रामचंद्रिका, चौथा प्रकाश, छन्द ८
७. रामचंद्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ३५

उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी के लक्ष्मण की भांति बहकने नहीं दिया है, शिष्टता एवं सभ्यता की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने दिया है। जिन परशुरामजी ने पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन इक्कीस बार बनाया था, बड़े-बड़े महर्षि एवं राजर्षि जिनकी ओर आंख उठाकर नहीं देख सकते थे, उन्हें लक्ष्मण सब प्रकार की उलटी-सीधी सुनाते हैं।[1]

केशव के भरत को कुछ क्रोध आता है, परन्तु वह अत्यन्त शिष्ट एवं संयत है। राम के प्रति परशुरामजी जब अपमानसूचक शब्द कहते हैं तो भरत कहते हैं—

चन्दन हू में अति तन घरषे, आगि उठे यह गुनि सब लीजे।
हैहय मारे, नृपति संघारे, सो जस लै किन जुग जुग जीजै॥[2]

परशुराम के पूछने पर कामदेव कहता है—

महादेव को धनुष यह परशुराम रिषिराज।
तोर्‌यो 'रा' यह कहत ही समुझ्यो रावनराज॥[3]

आगे चलकर सीता-हनुमान-संवाद, हनुमान-रावण-संवाद तथा अंगद-रावण-संवाद भी केशव के वाग्वैदग्ध्य के सुन्दर प्रमाण हैं। बीच-बीच में सुन्दर, मनोहारिणी तथा मर्मस्पर्शिनी उक्तियां कहकर केशव ने केशवता का ही नहीं अपितु मौलिकता का भी परिचय दिया है। जैसे सीताजी द्वारा कही हुई मुद्रिका के प्रति यह उक्ति—

श्रीपुर में वनमध्य हौं तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की, को करिहै परितीति॥[4]

हनुमान एवं रावण-संवाद की व्यंग्य एवं वैदग्ध्यपूर्ण शैली देखिए—

रे कपि कौन तू ? अक्ष को घातक दूत बली रघुनन्दन जू को।
को रघुनन्दन रे ? त्रिशिरा-खरदूषन-दूषन भूषन भू को।
सागर कैसे तर्‌यो ? जस गोपद, काज कहा ? सिय चोरहि देख्यो।
कैसे बँधायो ? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेख्यो॥[5]

कवि ने मानो गागर में सागर ही भर दिया है।

इसके अतिरिक्त हनुमानजी तुलसी के हनुमानजी की भांति सठ, महा अभिमानी, अधम, मूढ़ गालियों से रावण को सुशोभित नहीं करते और न राम के परब्रह्म-स्वरूप के संबंध में एक बड़ा व्याख्यान देते हैं।

अंगद-रावण-संवाद की सरसता एवं सजीवता स्वतः ही आकर्षक है—

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि ? न जानिये !
काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिये॥

---

१. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, बालकाण्ड, पृष्ठ २५७
२. रामचंद्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द २२
३. रामचंद्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ४
४. रामचंद्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ८५
५. रामचंद्रिका, चौदहवां प्रकाश, छन्द १

है कहाँ वह ? वीर अंगद देवलोक बताइयो।
क्यों गयो ? रघुनाथ-बान-विमान बैठि सिधाइयो ॥[1]

गूढ़ोत्तर अलंकार की कितनी सुन्दर व्यंजना हुई है इसके कहने की आवश्यकता नहीं, साथ ही साथ अंगद ने मर्यादा का ध्यान भी रखा है। ऐसे उत्कृष्ट संवादों से 'रामचन्द्रिका' भरी पड़ी है। परिणामस्वरूप महाकाव्य नाटक की सजीवता से फड़क उठा है।

'वीरसिंहदेवचरित', 'विज्ञानगीता', 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' तथा 'रतनबावनी' आदि ग्रंथ तो आदि से अन्त तक संवाद के रूप में ही लिखे गए हैं। 'वीरसिंहदेवचरित' में कथा का प्रारम्भ दान एवं लोभ के संवाद से होता है।[2]

दोनों एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं।[3]

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह संवाद बहुत सुन्दर है। लोभ हृदय की संकीर्णता का द्योतक है और दान हृदय की विशालता का। हृदय की इसी संकीर्ण मनोवृत्ति को लेकर लोभ दान को बुरी-भली, खरी-खोटी सभी सुनाता है। उधर दान हृदय की विशालता के कारण लोभ के मित्र राजाओं की दुर्दशा का केवल संकेत-मात्र करता है।[4]

कुछ संवाद व्यर्थ के तर्क एवं उपदेश से परिपूर्ण हैं। उपदेशों में आदर्शवाद का तथा तर्कों में दरबार का प्रभाव है।[5]

'विज्ञानगीता' में आद्योपान्त शिव-पार्वती-संवाद हैं। यद्यपि इसके अन्तर्गत भी बहुत-से संवाद हैं जैसे—कलहरति-काम-संवाद, अहंकार-दम्भ-संवाद, मिथ्यादृष्टि-मनोमोह-संवाद तथा विवेक-जीव-संवाद आदि। महामोह को जब रण की सूझी तो उसने अपनी स्त्री मिथ्यादृष्टि से कहा कि अपने शत्रु विवेक को समाप्त करना चाहता हूं।[6] उसपर मिथ्यादृष्टि ने समझाया कि वह सहसा कोई कार्य न करे।

आगे मिथ्यादृष्टि ने यह कह दिया—

गंगा अरु वाराणसी, महादेव तिहि ठौर।
पाउँ न धरिये पंथ तिहि, सुनो रसिक शिरमौर ॥[7]

तब तो महादेव की क्रोधाग्नि भड़क उठी।[8] काशीपुरी में भी उनके गण पहुंच गए।[9]

---

१. रामचंद्रिका, सोलहवां प्रकाश, छंद ६
२. वीरसिंहदेवचरित, द्वितीय प्रकाश, छन्द ६
३. वीरसिंहदेवचरित, द्वितीय प्रकाश, छन्द ६४, ६६
४. वीरसिंहदेवचरित, द्वितीय प्रकाश, छन्द ६, ११
५. वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ २-१४
६. विज्ञानगीता, पांचवां प्रभाव, छन्द १५
७. विज्ञानगीता, पांचवां प्रभाव, छन्द १७
८. विज्ञानगीता, पांचवां प्रभाव, छन्द १८-१९
९. विज्ञानगीता, पांचवां प्रभाव, छन्द २०

इस ग्रन्थ का आधार संस्कृत का प्रसिद्ध रूपक 'प्रबोधचन्द्रोदय' है।

जिस प्रकार से 'वीरसिंहदेवचरित' में दान-लोभ का संवाद है, उसी प्रकार 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' में उद्योग एवं भाग्य का संवाद है। अन्त में निर्णय बादशाह जहांगीर करते हैं। वादविवाद में उद्यम एवं भाग्य के उत्तर-प्रत्युत्तर बहुत ही सुन्दर हैं। भाग्य एवं उद्यम दोनों ही जहांगीर की प्रशंसा करते हैं।[1]

भाग्य और उद्यम दोनों ही अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। दोनों विप्र-रूप धारण किए हुए थे। जब जहांगीर पर यह रहस्य खुला तो उन्होंने उद्यम एवं भाग्य में कौन बड़ा है इसका निर्णय दिया।

उदय भाग अति उदित मति, सुनि सर्वज्ञ प्रमान,
जग में उद्यम कर्म ये, मेरे जान समान।
करम फले उद्यम करे, उद्यम कर्महि पाय।
एकै कर्म दुहूनि को, कीनो विधि सुखदाय॥
जौलों ये संसार में तौलौं यह संसार।
इन्हें नसे ते नसत है, यह सगरो भ्रमभार॥[2]

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'रतनबावनी' में भी सुन्दर संवाद पाए जाते हैं। यह संपूर्ण ग्रन्थ संवादों पर ही आश्रित है। राजकुमार रतनसेन पिता की आज्ञानुसार अकबर से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध है। सभी लोग समझाते हैं परन्तु किसीकी न मानकर दल-बल के साथ गगन को कंपाता हुआ युद्ध के लिए चल देता है। यह देखकर भगवान स्वयं विप्र-वेश में रतनसेन को समझाने के लिए आते हैं[3] और युद्ध से विरत करने की चेष्टा करते हैं।

जो फल पक्व तो काम सब परिपक्वहि जग मंडिये।
प्रान जुतौ पति बहु रहै, पति लगि प्रान न छंडिये॥[4]

राजकुमार रतनसेन विप्र-वचनों को सुनकर शीघ्र ही उत्तर देते हैं—

फिरि होइ स्वभाव सुशील मति जगत गीत यह गाइये।
प्राण गये फिरि फिरि मिलहिं पतिन गये पति पाइये॥[5]

ग्रन्थ में यह संवाद बहुत दूर तक चलता है। इस संवाद के अतिरिक्त रतनसेन का अन्य साथियों के साथ संवाद चलता है। इन संवादों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनमें शिथिलता नहीं आने पाई।

केशव के संवादों पर एक विहंगम दृष्टिपात करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंच

---

१. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, छन्द १६७, १६८
२. जहांगीर-जस-चन्द्रिका, छन्द १७६
३. तहँ है दयाल गोपाल विप्र भेष बुल्लिय वयन। —केशव-पंचरत्न, छन्द १०
४. केशव-पंचरत्न, छन्द ११, लाला भगवानदीन
५. केशव-पंचरत्न, छन्द १२, लाला भगवानदीन

जाते हैं कि केशव दरबारी कवि होने के कारण दरबारी कूटनीति तथा राजनीतिपूर्ण वार्ता में प्रवीण थे। व्यंग्य एवं वाग्वैदग्ध्य में पटु होने के कारण संवादों के पारखी केशव के अधिकांश संवाद सुन्दर बन पड़े हैं। फड़कती हुई सजीव भाषा में पात्रानुकूल रस-व्यंजना, व्यंग्य-विदग्धता, मुंहतोड़ उत्तर-प्रत्युत्तर तथा भावानुकूल छन्द-योजना इनके संवादों की कतिपय विशेषताएं हैं। संवादों में केशव की आत्मा मुखरित हो उठी है। हिन्दी-साहित्य में कहीं भी अन्यत्र इतने सुन्दर संवाद नहीं मिलते और इस दृष्टि से केशव का स्थान निर्विवाद सर्वोच्च है। संक्षेप में केशव के संवाद ही केशव का सर्वस्व हैं और उनका व्यंग्य ही केशव का सब कुछ।

केशव की छन्द-योजना

वेद भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ-रत्न हैं। वेद की ऋचाएं और मंत्र छन्दों के आवरण में अपना कलेवर संभाले हुए हैं। वेद के छः अंगों में मान्य होने के कारण छन्दःशास्त्र की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते।[1]

छन्द वेदों का चरण होते हुए सर्वप्रथम वर्णित होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर भारतीय काव्य जो शब्द एवं अर्थ के सम्मिलन से बनता है नाद पर अवलम्बित है। जहां शब्द है वहां नाद का होना अनिवार्य है। पाश्चात्य साहित्य में शब्द का अप्राधान्य होने के कारण अर्थ-व्यंजना मुखर हो उठती है, तभी तो उसे संगीत-कला से अधिक श्रेष्ठ माना है पर भारतीय साहित्य तो संगीत से अधिक मेल रखता है। संगीत जीवन है। उसमें न केवल चेतन अपितु अचेतन को भी मुग्ध करने की अपूर्व क्षमता है। यदि काव्य जीवन के लिए है तो संगीत अर्थात् छन्द-बन्धन की अवहेलना करना उसकी सम्मोहक शक्ति को कम करना है, क्योंकि छन्दशास्त्र नाद-सौन्दर्य (संगीत) उत्पन्न करने के नियमों का शास्त्र ही तो है। छन्दों की सर्जना मानव-सृष्टि के साथ-साथ हुई, यह कहना ही समुचित प्रतीत होता है।

छन्दों के प्रकार

काव्य-मनीषी छन्दों को दो प्रकार का मानते हैं, एक वैदिक और दूसरे लौकिक। लौकिक छन्द भी तीन प्रकार के बतलाए जाते हैं, मात्रिक, वार्णिक तथा अक्षर छन्द। हिन्दी-साहित्य में तीसरे प्रकार के छन्द नामावशेष हैं। उन्हें पूर्णवृत्तों में ही अन्तर्भूत कर दिया गया है।

केशव के छन्द विकास-क्रम की चरम परिणति हैं। वैदिक युग से लेकर महाकवि केशव के समय तक अनेक घात-प्रतिघातों से टकराते, सुधरते-संवरते वे अन्तिम कलेवर पा गए। सीधे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि छन्दों ने ऋग्वेद में जन्म ग्रहण किया,

---

१. छन्दप्रभाकर-भानु, भूमिका, पृ० २

शास्त्र, पुराण और संस्कृत काव्य-ग्रन्थों में परिपुष्ट होते रहे और हिन्दी के जैन-साहित्य तथा नामपंथियों के साहित्य से लेकर कवि केशव तक अनेक प्रकार की साज-सज्जा प्राप्त करके उन्होंने अन्तिम स्वरूप केशव में प्राप्त किया।

केशव की छन्दावली

महाकवि केशवदासजी ने मात्रिक तथा वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। हिन्दी के किसी कवि ने उतने छन्दों का प्रयोग नहीं किया जितना अकेले केशव ने। इनके ग्रन्थों में हिन्दी-साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध सभी छन्द प्रायः मिल जाते हैं। हिन्दी के प्रारम्भयुग में 'दूहा' छन्द का प्रचलन रहा। उसके बाद 'रासो' नामक ग्रन्थों में छप्पय, तोमर, दूहा, गाहा, भोटक एवं आर्या आदि प्राप्त होते हैं। भक्तियुग की निर्गुण शाखा के संतों ने दोहा छन्द ही अधिक अपनाया। प्रेमाश्रयी अर्थात् सूफी सन्त अपनी दोहा-चौपाई शैली के लिए ही प्रसिद्ध रहे हैं। अष्टछाप के कवि अधिकतर पद-रचना में व्यस्त रहे। उनमें से कुछ ने—सूर, नन्ददास, परमानन्ददास आदि ने—सार, सरसी, दोहा, चौपाई और रोला आदि का भी प्रयोग किया है। केवल एक कवि तुलसी ही ऐसे हैं जो केशव के सामने इस क्षेत्र में भी सीना ताने खड़े हैं। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि छन्दों के क्षेत्र में केशव उनसे भी आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने लिखा भी है—

भाषाकवि समुझै सबै, सिगरे छन्द सुभाइ।
छन्दन की माला करी सोभन केसवराइ॥[1]

केशव ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में जितने छन्दों का प्रयोग किया है उनकी नामावली से परिचित हो जाना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

रसिकप्रिया

मात्रिक—दोहा, छप्पय और सवैया।

वर्णिक—कवित्त।

कविप्रिया

मात्रिक—दोहा, छप्पय, सवैया, पद्मावती, रोला, सोरठा और चौपाई।

वर्णिक—कवित्त और प्रमानिका।

नखशिख

मात्रिक—दोहा और सवैया।

वर्णिक—कवित्त।

रामचन्द्रिका

इस ग्रन्थ की रचना में भिन्न-भिन्न छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत करने की ओर कवि का आग्रह रहा है। क्योंकि ग्रन्थारम्भ में ही कवि ने इस इच्छा को प्रकट कर दिया है।

---

१. छन्दमाला, दोहरा छन्द ३

जागति जाकी ज्योति जग एक रूप स्वच्छंद।
रामचन्द्र की चन्द्रिका वरनत हौं बहु छन्द ॥[1]

मात्रिक छन्द—दोहा, रोला, धत्ता, छप्पय, पज्झटिका, अरिल्ल, पादाकुलक, त्रिभंगी, सोरठा, कुण्डलिया, सवैया, गीतिका, डिल्ला, मधुभार, मोहन, विजया, शोभना, सुखदा, हीर, पद्मावती, हरिगीतिका, चौबोला, हरिप्रिया और रूपमाला।

वर्णिक छन्द—श्री, सार, दंडक, तरणिजा, सोमराजी, कुमारललिता, नगस्वरूपिणी, हंस, समानिका, नाराच, विशेक चंचला, शशिवदना, शार्दूलविक्रीड़ित, चंचरी, मल्ली, विजोहा, तुरंगम, कमला, संप्रता, मोदक, तारक, कलहंस, स्वागता, मोटनक, अनुकूला, भुजंगप्रयात, तामरस, मत्तगयंद, मालिनी, चामर, चन्द्रकला, किरीट सवैया, मदिरा सवैया, सुन्दरी सवैया, तन्वी सुमुखी, कुसुमविचित्रा, वसन्ततिलका, मोतियदाम्र, सारवती, त्वरितगति, द्रुतविलंबित, चित्रपदा, मत्तमातंग, लीलाकरण, दण्डक, अनंगशेखर दण्डक, दुर्मिल सवैया, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, चन्द्रवर्त्म, वंशस्थविलम्, प्रमिताक्षाएं, पृथ्वी, मल्लिनग, गंगोदक, मनोरमा और कमल।

वीरसिंहदेवचरित

मात्रिक—छप्पय, चौपही, दोहा, हीर, कुण्डलिया और सोरठा।

वर्णिक—नगस्वरूपिणी, भुजंगप्रयात, कवित्त, दण्डक, नाराच।

रतनबावनी

मात्रिक—दोहा और छप्पय।

विज्ञानगीता

मात्रिक—छप्पय, सवैया, दोहा, सोरठा, कुण्डलिया, रूपमाला, मरहट्टा, हरिगीतिका, गीतिका, त्रिभंगी और तोमर।

वर्णिक—नाराच, दण्डक, तारक, हीरक, भुजंगप्रयात, दोधक, नगस्वरूपिणी, कवित्त, चामर, मल्लिका, सुन्दरी, तोटक, हरिलीला, नलिनी, स्वागता, मदिरा और समानिका।

जहांगीर-जस-चन्द्रिका

मात्रिक—छप्पय, दोहा, सवैया, सोरठा, चंचरी, रूपमाला।

वर्णिक—कवित्त, भुजंगप्रयात, समानिका, निशिपालिका।

यह सूची इस बात की सूचक है कि केशव ने अपने अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा 'रामचन्द्रिका' में छन्दों का अधिक प्रयोग किया है। अपने लक्षण-ग्रन्थों 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'नखशिख' में उन्होंने परिभाषाएं दोहों में दी हैं तथा उदाहरणों के लिए बहुधा कवित्त और सवैया का प्रयोग किया है। केशव के पूर्ववर्ती मोहनलाल, गोप आदि के ग्रन्थ अब अप्राप्य हैं। अतः स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किस-किस छन्द का प्रयोग

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २१

किया। परन्तु केशव के बाद के कवि-आचार्यों ने केशव-प्रयुक्त छन्दों को ही अपनाया है। आवश्यकता के अनुरूप बड़े और छोटे छन्दों का प्रयोग किया गया है। छन्द-बहुल रचना 'रामचन्द्रिका' का अनुशीलन करने के पश्चात् स्वर्गीय डॉ० बड़थ्वालजी ने उसके सम्बन्ध में छन्दों का अजायबघर कहकर अपना क्षोभजनित अभिमत प्रकट किया है। केशव ने छोटे से छोटे और बड़े से बड़े छन्दों का प्रयोग करके अपनी रचना-शक्ति और बहुज्ञता का परिचय दिया है। एकाक्षरी से लेकर अष्टाक्षरी छन्द तक के अनेक नमूने एक ही स्थल पर दिए गए हैं। यद्यपि प्रबन्ध-काव्य में इतने छोटे छन्दों का प्रयोग काव्य-समीक्षकों की दृष्टि में बहुत अनुपयुक्त है।

निदर्शन के लिए कुछ छन्द प्रस्तुत किए जाते हैं।

एकाक्षरी श्रीछन्द

सी, धी। री, धी।[1]

सार छन्द

राम नाम। सत्य धाम।
और नाम। कौन काम॥[2]

रमण छन्द

दुःख क्यों। टरि है।
हरि जू। हरि हैं॥
बरनिबो, बरन सो। जगत को सरन सो॥[3]

सोमराजी

गुनं एक रूपी, सुनौ वेद गावं।
महादेव जाकों सदा चित्त लावं॥[4]

अष्टाक्षरी नगस्वरूपिणी छन्द

भलो बुरो न तू गुनै।
वृथा कथा कहै सुनै।
न राम देव गाइ है।
न देव लोक पाइ है॥[5]

छन्दों में केशव की मौलिकता

महाकवि केशव छन्दशास्त्र के निष्णात विद्वान थे। कौन-से भाव को अभिव्यक्त करने के लिए कौन-सा छन्द उचित रहेगा, यह ठीक से उन्हें ज्ञात था। यशोवर्णन के लिए

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ८
२. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ९-१०
३. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ११-१२
४. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द १४
५. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द १६

कवित्त और सवैयों का अपनाया जाना, 'रतनबावनी' में वीररस का वर्णन वीर-गाथा-काल की द्वित्वाक्षर-संवलित शब्दावली में दोहे और छप्पयों में प्रस्तुत करना इस बात का प्रमाण है।

इसके साथ उन्होंने अनेक छन्दों के संयोग से अपने नवीन मौलिक प्रयोग भी किए हैं। 'रामचन्द्रिका' का तेईसवां प्रकाश इस दृष्टि से विशेष द्रष्टव्य है। उस प्रकाश के दो स्थलों पर चौबोला और जयकरी छन्द का अभूतपूर्व मिश्रण किया गया है। कहीं पहले दो चरण चौबोला के हैं तो बाद के दोनों जयकरी के और कहीं इसके विपरीत। नीचे लिखे उदाहरणों से यह बात भली भांति स्पष्ट हो सकेगी।

सोदर मंत्रिन के जु चरित्र। इनके हम पै सुनि मखमित्र।
इनहीं लगे राज के काज। इनही तें सब होत अकाज।[१]
कालकूट तें मोहन रीति। मनिगन तें अति निष्ठुर प्रीति।
मदिरा तें मादकता लई। मन्दर-उदर भई भ्रम-भई॥[२]

संस्कृत भाषा के काव्य-ग्रन्थों में एक विशेषता यह है कि एक ही भाव की अभिव्यक्ति वे डेढ़ श्लोक में करते हैं। केशव को छोड़ हिन्दी के किसी कवि ने इस परिपाटी को नहीं अपनाया। हिन्दी के कलाकार तो एक पद्य में अथवा अनेक पूर्ण पद्यों में एक भाव की अभिव्यंजना करते रहे हैं। केशव ने राम के अन्तःपुर की नारियों का नख-शिख-वर्णन करते समय संस्कृत के अपने पांडित्य का पूर्ण परिचय दिया है।

सीस फूल सुभ जर्‍यो जराय। माँगफूल सोहै सुभ भाय।
वेनी फूलन की वरमाल। भाल भले वेंदा जुत लाल।
तम-नगरी पर तेजनिधान। बैठे मनौ बारहौ मान॥[३]

ताटंक और स्नान के बाद कामिनी के शरीर की शोभा का वर्णन पद्धटिका और हाकलिका छन्द के केवल दो चरणों में ही किया गया है—

अति झुलमुलीन सह झलक लीन। फहरत पताका जनु नवीन॥[४]
अथवा—**केसनि औरनि सीकर रमै। रिक्षनि को तमपी जनु वमै॥[५]**

इसी सम्बन्ध में केशव के चौबोला और कुंडलिया छन्द भी उल्लेखनीय हैं। चौबोला पन्द्रह मात्राओं का छन्द है जिसके अन्त में लघु और गुरु आता है। केशव का चौबोला इस लक्षण के अनुरूप रहते हुए भी वर्णवृत्त है, जिसमें तीन भाग और अन्त में लघु-गुरु रखे जाते हैं—

---

१. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द १४
२. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द २४
३. रामचन्द्रिका, इकत्तीसवां प्रकाश, छन्द ९
४. रामचन्द्रिका, इकत्तीसवां प्रकाश, छन्द १५
५. रामचन्द्रिका, बत्तीसवां प्रकाश, छन्द ४१

संग लिये रिषि सिष्यन घने। पावक से तप तेजनि सने।
देखत बाग तड़ागन भले। देखन औधपुरी कहँ चले॥[1]

आदि में एक दोहा और अन्त में एक रोला छन्द का प्रणिधान करने से कुंडलियों में लब्धप्रतिष्ठ गिरिधरदासजी ने इस छन्द के दूसरे चरण की तीसरे के साथ एकरूपता रखी है, किन्तु कुछ ने इस पद्धति के साथ चौथे चरण को पांचवें के साथ भी एकरूप रखकर अपनी छाप लगा दी है। महाकवि केशव ने दोनों मार्गों का अनुसरण किया है।[2]

छन्दों के क्षेत्र में केशव की नवीन देन है अतुकान्त छन्दों का प्रयोग। यद्यपि उस समय के प्रायः सभी हिन्दी काव्य-ग्रन्थों में और हिन्दी ही के क्यों, मराठी, गुजराती, पंजाबी, फारसी, बंगला तथा अंग्रेज़ी के काव्य-ग्रन्थों में तुकान्त का ही प्रयोग दिखलाई देता है और इसका कारण है अन्त्यानुप्रास अथवा तुकान्त के कारण उत्पन्न हुई सरसता एवं कर्ण-मधुरता। हां, संस्कृत में अधिकांश काव्य-रचना भिन्न-तुकान्त ही है और संस्कृत-वृत्तों में इसकी उपयोगिता है। उसीकी शैली पर हरिऔध और अनूप शर्मा ने 'प्रियप्रवास' एवं 'सिद्धार्थ' में अपना सफल काव्य-कौशल दिखलाया है। किन्तु महाकवि केशव के ग्रंथों के अवलोकन से यह बात सिद्ध होती है कि हिन्दी में यह नवीन प्रयोग नहीं है। 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में अतुकान्त के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उपाध्यायजी ने बताया है कि कविवर चन्दबरदाई के काव्य में भी अतुकान्त रचनाएं उपलब्ध होती हैं। आज से तीन शताब्दी पहले कविवर केशव ने 'रामचन्द्रिका' में एक अनूठे ढंग से, जिसमें मध्य में तो अन्त्यानुप्रास था, अन्त में नहीं, अतुकान्त छन्द का सफल प्रयोग करके अपने परवर्ती कलाकारों का मार्ग प्रशस्त किया है—

गुन-गन-मनि माला चित्त चातुर्यसाला।
जनक सुखद गीता पुत्रिका पाइ सीता।
अखिल-भुवनभर्ता ब्रह्मरुद्रादि कर्ता।
थिर-चरअभिरामी कीय जामातु नामी॥[3]

रस एवं भाव के अनुरूप छन्द

किसी विशेष छन्द में कोई विशेष भाव अथवा रस अधिक मनोरम प्रतीत होता है, जबकि किसी-किसीमें आभाहीन हो सकता है। यद्यपि केशव का चमत्कार-प्रदर्शन का प्रायः आग्रह रहता है, फिर भी उनकी नैसर्गिक सहृदयता के कारण अनेक स्थलों पर भावों और रसों के सर्वथा अनुकूल छन्दों की रचना मिलती है। हिन्दी के सवैया, बरवै एवं मालिनी वृत्तों में शृंगार, करुण और शान्त जैसे कोमल रस प्रायः अधिक प्रभावोत्पादक हो जाते हैं।

वीर, रौद्र एवं भयानकरस की उत्तम अभिव्यंजना छप्पय, नाराच और वंशस्थ

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ३६
२. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द १६, २८
३. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द २७

आदि छन्दों में होती है। यही कारण है कि कवि ने अपने वीररसात्मक ग्रन्थ 'रतनबावनी' में अधिकांश छप्पय का ही प्रयोग किया है।

जहँ अमान पठान ठान हिय बान सु उट्ठिव।
तहँ केशव काशी-नरेश दल रोष भरिट्ठिव॥
जहँ तहँ पर जुरि जोर और चहुँ दुन्दुभि बज्जिय।
जहँ रतनसेन रण कहँ चलिव हल्लिय महि कंधो गगन।
तहँ ह्वै दयाल गोपाल तब विप्र भेष बुल्लिय वपन॥[1]

वंशस्थ का प्रयोग भी वीररस में सफलतापूर्वक हुआ है।[2]

जानकीजी की खोज में जाते हुए वानरों की गति त्रिभंगी छन्द में स्पष्ट झलकती है। इसी रस में त्रिभंगी का भी प्रयोग देखिए—

सुग्रीव-सँघाती, मुखदुति राती केसव साथहि सूर नए।
आकास-विलासी, सूर प्रकासी, तबहीं वानर आइ गए।
दिसि दिसि अवगाहन, सीतहि चाहन जूथप जूथ सबै पठए।
नल-नील रिक्षपति, अंगद के सँग दक्षिन दिसि को विदा भए।[3]

वाटिका-विहार के लिए भगवान राम अश्व पर आरूढ़ होते हैं। कवि घोड़े के वर्णन में चंचला छन्द को चुनता है, जिसकी गति अश्व की गति से मिलती है। छन्दको पढ़ने से प्रतीत होता है मानो घोड़ा खूंद रहा हो—

भोर होत ही गयो सु राजलोक मध्य बाग।
बाजि आनियो सु एक इंगितज्ञ सानुराग।
सुभ्र सुद्ध वारिहून अंस रेनु के उदार।
सीखि सीखि लेत हैं ते चित्त चंचला प्रकार॥[4]

'रामचन्द्रिका' में छन्दों के विविध एवं क्षण-क्षण परिवर्तित प्रयोग के कारण दो बातों की ओर आलोचक का ध्यान जाना स्वाभाविक है। एक तो यह कि एक प्रबन्धकाव्य में इतने शीघ्र छंद बदलने के कारण प्रबन्ध-धारा में शैथिल्य आता है, दूसरे यह कि किसी भी वर्णन का समन्वित प्रभाव नहीं पड़ता। निस्संदेह यदि कवि प्रबन्ध-धारा एवं समन्वित प्रभाव को ही उद्देश्य बनाकर चले तो इस प्रकार का छन्द-परिवर्तन वांछनीय नहीं, किन्तु केशव 'रामचन्द्रिका' में इतना ही उद्देश्य बनाकर नहीं चले। प्रबन्ध-धारा में बहने और बहाते चलने की अपेक्षा राम-कथा के अनेक पड़ावों की चमत्कारी झलकें दिखाते चलना उन्हें अधिक इष्ट है। निश्चय रूप से उन्होंने 'रामचरितमानस' का अनुगमन न करके संस्कृत

---

१. रतनबावनी, पंचरत्न, छन्द १०
२. रामचन्द्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द ३०
३. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ३१
४. रामचन्द्रिका, इकत्तीसवां प्रकाश, छन्द १

की परवर्तिनी महाकाव्य-परम्परा को सामने रखा है। संस्कृत के महाकाव्यों में पाण्डित्य-प्रदर्शन एवं चमत्कार छोड़ने की इच्छा से ही कवि एक-दो सर्गों की विविध बदलते छंदों में यमक आदि चमत्कारोत्पादक अलंकारों के साथ रचना करते थे। इस चमत्कारी प्रवृत्ति का उदय कालिदास से ही हो चुका था और भारवि, माघ, श्रीहर्ष तक प्रत्येक पग पर यह बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। संस्कृत महाकाव्यों में जो पद्धति एक-दो सर्ग तक ही सीमित थी, केशव में आकर सारे महाकाव्य के क्षेत्र को घेर बैठी। शायद केशव को उनसे अधिक चमत्कार की आवश्यकता अनुभव हुई हो। रही वर्ण्य-वस्तु के समन्वित प्रभाव की बात। वह भी लगभग उपर्युक्त प्रकार की ही है। केशव का उद्देश्य किसी भी वर्ण्य-वस्तु को लेकर विविध छन्दों में विविध अलंकारों के साथ विविध रूप से वर्णन करने की क्षमता दिखाकर पाठक को, विशेषकर अपनी राजसभा को, मंत्र-मुग्ध कर देना है। स्थान और अवसरों पर वे उसे रस-भावलीन भी करते चलते ही हैं। कहां रसमग्नता उत्पन्न करें और कहां चमत्कार का मन्त्र-प्रयोग, इसका चुनाव पाठक की अपेक्षा उनपर ही अधिक है।

कहीं-कहीं ऐसे छन्द भी दिखाई पड़ जाते हैं जो लक्षणों की कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। इनमें अधिक संख्या उन्हीं पुस्तकों के उद्धरणों की है जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकीं। हो सकता है कि प्रतिलिपिकर्ता ही कुछ का कुछ समझ बैठे हों। विभिन्न उपलब्ध प्रतिलिपियों को मिलाकर वैज्ञानिक शोध-पद्धति के साथ उनके साहित्य के प्रकाशन की आवश्यकता अब भी बनी हुई है।

यत्र-तत्र कुछ सुसम्पादित ग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरण दिखाई पड़ते हैं जिनमें यति-भंग, मात्रा-भंग आदि दोष हों। जहां तक यति का संबंध है, सामान्यतः कुछ भिन्नता के साथ एक भिन्न प्रवाह से पढ़ने पर वे दोष खटकनेवाले नहीं रहते। अतः अनुमान किया जा सकता है कि केशव ने गेयता एवं पठ्यता को ही यति के ऊपर स्थान दिया है। किंतु यह दृष्टि व्यावहारिक-मात्र ही है। उन्होंने 'श्रव्यतेव गरीयसी' वाले सिद्धान्त को शास्त्रीय रूप में नहीं दिया। दोष-विवेचन में उन्होंने यति-भंग को दोष ही माना है। रही मात्रा-भंग की बात उसके विषय में भी कई बातें संभव हो सकती हैं।

१. केशव ने 'अपि भाषस्य भषं कुर्यात्, छन्दोभंगं न कारयेत्' की कवि-लोकोक्ति को अपनाकर शब्दों को परिवर्तित करके छन्दों के अनुकूल रखा हो और लिपिकों ने उन शब्दों के स्थान में फिर पूर्ण शब्द रख दिए हों।

२. केशव लघु-दीर्घ के उच्चारणों में कुछ स्वतन्त्रता अपनाकर चलते हों और पाठक को असन्तोष उठता ही न हो।

३. उनकी ये वास्तविक भूलें हों। किसी भी सम्भावना को मान लेने पर उनका महत्त्व अक्षत है। पिछली संभावना को भी यदि स्वीकार कर लिया जाए, तो भी ऐसे स्थल इतने नगण्य हैं कि इतने बड़े साहित्य को इतने अधिक छन्दों में पूरी कुशलता से प्रस्तुत करनेवाले साहित्यकार के महत्त्व में उससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

केशव के साहित्य में भगवच्चरितगान के साथ विभिन्न प्रकार का कला-कौशल

अनुस्यूत है जो सोने में सुगन्ध है अथवा एक पंथ दो काज की कहावत को चरितार्थ करता है। 'गीतगोविन्द' के रचयिता के समान ही हमें तो यह कहना ही उचित लगता है कि यदि हरिस्मरण में आपका मन लगता है, यदि कला-विलास में कुतूहल है तो अनेक छन्दों से भरी, अलंकारों से आवृत केशव की सरस्वती का सहारा लीजिए।

केशव का भाषाधिकार

कवि केशव उनमें से नहीं थे, जो विश्व की सौन्दर्यमयी कृतियों को देखकर अपने हृदय-पटल पर अंकित चित्रों को उसी भाषा में व्यक्त करें जिसमें वे उनके मन में उठते हैं। वे संस्कृत में सोचते थे और हिन्दी में लिखते थे। यद्यपि हिन्दी में लिखने का उन्हें पश्चात्ताप भी था।[1]

पंडितकुल की छाप स्थल-स्थल पर उनकी भाषा में परिलक्षित होती है। उनकी काव्य-भाषा ब्रज ही है, परन्तु संस्कृत तथा बुन्देली आदि अन्य बोलियों का भी प्रभाव उनकी भाषा पर पड़ा।

संस्कृत का प्रभाव

केशवदासजी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। यद्यपि इन्होंने रचना भाषा में की, पर वास्तविक प्रेम संस्कृत से था। इन्होंने संस्कृत का अगाध अध्ययन किया था। वंश-परम्परा से उनके पूर्वज संस्कृत-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध रहे थे। कवि के अध्ययन का प्रभाव उसकी विचारधारा पर अवश्य पड़ता है। संस्कृत-ग्रन्थों में जो सुन्दर भाव और उक्तियां केशव का मिलीं उनको कवि ने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। उनके प्रत्येक ग्रन्थ में संस्कृत-शब्दों का तत्सम रूप में बहुल प्रयोग हुआ है। संस्कृत व्याकरण के ढंग के प्रयोग भी हैं।

कछु आपन् अधि अध गति चलंति।
फल पतितन् कों ऊरध पतन्ति।[2]

संस्कृत की विभक्तियों-सहित प्रयोग देखिए—

स्वलीलया, निजेच्छया लीलयेव।[3]

केशव की कृतियों पर शब्दों की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से, अनुवाद की दृष्टि से, संस्कृत का पूरा-पूरा प्रभाव है। इस कथन की विशद विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

बुन्देलखण्डी का प्रभाव

केशव की साहित्यिक ब्रजभाषा में बुन्देलखण्डी का मिश्रण काफी मिलता है और यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि उनके जीवन का अधिकांश भाग वहीं बीता और ग्रन्थों का निर्माण भी वहीं हुआ। बुन्देलखण्डी शब्द जैसे—स्यों (सहित), समदौ, भाट्यो, वोक, गेंड़ुआ (तकिया), गलसुई (छोटा तकिया गले के नीचे लगाना), गौरमदाइन,

---

१. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १७
२. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २६
३. रामचन्द्रिका, दशम प्रकाश, छन्द ४१

(इन्द्रधनुष), छन्दी (तंग गली), आनिवी, मानिवी, जानिवी, वरगा (कड़ी), घोरिला (खूंटी), खारक (छुहारा), मसकर (मुश्किलें), उपदि (गुरुजनों की इच्छा के विरुद्ध), उरगन (स्वीकार करना), पंचम (कुन्देला), चोली (पान रखने की पिटारी), छीय (छुए) आदि अनेक बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग किया है—

देवन स्यों जनु देवसभा सुभ सीय स्वयंवर देखन आई।[1]
दुहिता समदौ सुख पाइ अबै।[2]
कहूँ भाट भाट्यो करैं मान पावैं।[3]
कहूं वोक बाँके कहूँ भेष सूरे।[4]
अंगको कि अंगराग गेंड़ुआ कि गलसुई।[5]
धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।[6]
जाही में आनको आनिवी छाँड़िवो।[7]
मैलहू समान मन मेनका न मानिवी।[8]
केसोदास रति में रतीक ज्योति जानिवी।[9]

कहीं-कहीं पर मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है—

रामचन्द्र कटि सों यह बाँध्यौ।[10]
जबै धनु श्री रघुनाथ जू हाथ कै लीनो।[11]
ओली ओढ़त हों।[12]
दइ कारी भूरी माछरी।[13]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केशव की भाषा में बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग अधिकता से मिलता है। ब्रज की भाषा में बुन्देलखण्डी शब्दों को अलग करना असंभव है।

अवधी का प्रभाव

संस्कृत और बुन्देलखण्डी के अतिरिक्त अवधी भाषा के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

१. रामचन्द्रिका, तीसरा प्रकाश, छन्द १५
२. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द १
३. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द १३
४. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द १४
५. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छन्द ६२
६. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द १६
७. रसिकप्रिया, पृ० ५३
८. रसिकप्रिया, चौथा प्रकाश, छन्द १४
९. रसिकप्रिया, चौथा प्रकाश, छन्द १४
१०. रामचन्द्रिका, पंचम प्रकाश, छन्द ४१
११. रामचन्द्रिका, पंचम प्रकाश, छन्द ४२
१२. रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द २५
१३. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ६

परन्तु जिस प्रकार उनकी 'रामचंद्रिका' पर संस्कृत का प्रभाव अधिक लक्षित होता है और संस्कृत के शब्द अधिक पाए जाते हैं, उसी प्रकार उनके 'वीरसिंहदेवचरित' नामक ग्रंथ में अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अवधी भाषा के शब्द जैसे इहां, उहां, दिखाए, रिझाउ, समुझि, दीन, कीन आदि का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए—

एक इहाँ ऊ उहाँ अति दीन सुदेत दुहूँ दिसि के जन गारी।[१]
प्रभाउ आपनो दिखाउ छाँड़ि बाल भाहि कै।
रिझाउ राजपुत्र मोंहि राम लै छड़ाइ कै।[२]
मैं तेरो बलि बंधु बँधायौ वामन यह है।[३]
गुनि दुष्टता सहलीन।
श्रुति नासिका बिनु कीन।।[४]

'वीरसिंहदेवचरित' में अवधी भाषा के आधिक्य से प्रयोग का कारण यह भी हो सकता है कि यह ग्रंथ अधिकांश दोहा, चौपाई छन्दों में है। मानस की रचना भी इसी प्रणाली में हुई थी और इन छन्दों के लिए अवधी को सबसे अधिक उपयुक्त प्रमाणित भी किया गया है।

विदेशी शब्दों का प्रयोग

केशव के सभी ग्रंथों में प्राय: अरबी, फारसी, विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है। कारण यह है कि जिस दरबार में वे रहते थे उसका लगाव अब मुगल-दरबार से हो गया था और स्वयं केशवदास किसी दरबारी के दरबार में बिना रोक-टोक पहुंचना चाहते थे। अत: यह स्वाभाविक था कि उनकी रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्द भी आएं। लेकिन केशव विदेशी को अपना देशी बनाना जानते थे। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

कै विनती मिस कस्यप के तिन देव अदेव सबै बकसाए।[५]

और भी—

केशोदास तेही काल कारोई ह्वै आपोकाल।
सुनत श्रवन बकसीस[७] एक ईस की।।[६]

केशव ने बख्स से बकसाए, बकसीस बनाकर यह दिखा दिया कि किस प्रकार बाहरी शब्दों को भी कवि ने देशी अनुशासन में रखा है।

निज इत अभूत जरा के किधौं अफताली जरा जनु लायक के।[७]

---

१. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द २५
२. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द २३
३. वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ६
४. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द ४०
५. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द १६
६. कविप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द ६७
७. कविप्रिया, पांचवां प्रभाव, छन्द १४

अफताली—वह अफसर जो राजा की यात्रा में पहले आगे के पुरुषों में जाकर आराम का प्रबन्ध करे। ऐसे ही रुख शब्द का प्रयोग तो तुलसी ने भी किया, पर उससे क्रिया का काम लेना केशव जैसे कवि का ही काम था—

देवान्तक नारान्तक अन्तक त्यौं मुसुकात।
विभीषन-वैन तन कानन रुखाए जू।[1]

फारसी शब्द ताजनो (ताजियाना)—कोड़ा।

विदेशी भाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग 'वीरसिंदेवचरित' में ही लक्षित होता है। उनके द्वारा प्रयुक्त विदेशी भाषा के शब्दों की छटा भी देखिए—

गनपति सुखदायक, पसुपति लायक **सूर सहायक कौन गने।**[2]
पुनि तुम दीन्ही कन्यका त्रिभुवन की सिरताज।[3]
जामवन्त हनुमन्त नल नील मरातिव **साथ।**[4]
कूकर एक फिरादहिं **आयो।**[5]
देखि तिन्हें तब दूरि तें गुदरानो **प्रतिहार।**[6]
विरहविनोद फीलि **पेलियत पचिकै।**[7]
शोर **भयो सकुचे समुझै।**[8]
सतरंज **कैसी** बाजी **राखी रचि कै।**[9]
बूझिबे की जक **लागी है कान्हहि।**[10]
नीके ही न की कसम।[11]
शेरशाह असलेम **के उरसाली** समसेर।[12]
चरण धरत चिन्ता करत नींद न भावत शोर।[13]
सुनत श्रवण बकसीस **एक ईस की।**[14]

१. रामचन्द्रिका, उन्नीसवां प्रकाश, छन्द २०
२. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ४२
३. रामचन्द्रिका, छठा प्रकाश, छन्द २३
४. रामचन्द्रिका, छब्बीसवां प्रकाश, छन्द २७
५. रामचन्द्रिका, चौंतीसवां प्रकाश, छन्द २
६. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द ७
७. रसिकप्रिया, पृष्ठ १५२
८. रसिकप्रिया, पृष्ठ ११३
९. रसिकप्रिया, पृष्ठ १५२
१०. रसिकप्रिया, पृष्ठ १६५
११. रसिकप्रिया, पृष्ठ २५०
१२. कविप्रिया, प्रभाव एक, छन्द २०
१३. कविप्रिया, पृष्ठ २५
१४. कविप्रिया, ३९।६

मधुकसाहि की तेग बाढ्यो बिन ही बन पानी।[१]
कूंचन कीजै राज अब, आयो बरषा काल।[२]
नृप नायक के दरबार गय।[३]
सोचहि सातहु सिन्धु सात हजार रसातल।[४]
ऐसो भयो करम को जोग तज्यो न कारो आलय लोग।[५]
हमसे दीन नहीं नी डादि।[६]
देखि पयादो बल को काम।[७]
भूलिए न बैन ऐन आक को सो फल है।[८]
कहिये कछू न रूप मोह को महल है॥[९]
हौं गरीब तुम प्रकट ही सदा गरीबनिवाज॥[१०]
साहि सलेम कियो फरमान॥[११]
करो निवाजु सु वाकी जाई।[१२]

शब्दों की तोड़-मरोड़

विदेशी कवियों को कविता या रचना करने में एक स्वतन्त्रता है कि वे शब्द को ताड़-मरोड़कर अपने अनुसार कर सकते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे शब्द को ऐसा परिवर्तित रूप दे दें कि उसका स्वरूप ही बिलकुल चला लाए और यह मालूम ही न पड़े कि यह कौन-सा शब्द है या उस शब्द का अर्थ ही बदल जाए। केशव ने इस अधिकार का पूर्ण उपयोग किया है। कई स्थलों पर तो शब्दों को ऐसा रूपान्तरित कर दिया है कि वह दूसरा ही प्रतीत होने लगता है। साधु के स्थान पर साध, लाजक के स्थान पर लायक, वेश्या के स्थान पर विस्वा।

विहना फूल्यो अंग न माई।[१३]

---

१. विज्ञानगीता, प्रथम प्रभाव, छन्द १७
२. विज्ञानगीता, दशम प्रभाव, छन्द ४
३. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ५२
४. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ७
५. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ५१, छन्द ८
६. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ४६
७. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ५३
८. कविप्रिया, सत्ताईसवां प्रभाव, छन्द ६
९. कविप्रिया, सत्ताईसवां प्रभाव, छन्द ६
१०. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ३२
११. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ४२
१२. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ४७
१३. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ६

अशेष शास्त्र विचार कै जिन जान्योयत साध ।[१]
बरषै फल फूल न लायक को ।[२]
मदिरा पी विस्वा यहै जाइ ।[३]
कहीं-कहीं वीरगाथाकालीन शब्दों और तर्कों का प्रयोग है—
देखि बाग अनुराग उपज्जिय ।
बोलत कल-ध्वनि कोकिल सज्जिय ।[४]

असाधारण शब्दों का प्रयोग

केशवदासजी ने तत्कालीन साहित्यिक भाषा में प्रयुक्त न होनेवाले शब्दों का प्रयोग भी किया है—

अन्त—विशेष
आलोक—कलंक—हे (थे)
शत्रुघ्न—रघुनन्दन
लाच—रिश्वत
वपमारे—(पाप के मारने के अर्थ में) चार (चर)
ऐलो—आड़—निघृत (जिसे घृणा न लगे)
नारी—समूह
सहज—सुख

निरर्थक शब्दों का भी प्रयोग किया है जैसे सु और जु । इन्होंने कुछ शब्द अपने-आप बना भी लिए हैं, जैसे बालकता, घालकता, वरख्यो, जेप, लेय, देयमान, मुचावन, दिखसाध आदि ।

अति कोमल केसव बालकता ।
यह दुष्कर राक्षसघालकता ।।[५]
देवन गुन परख्यो, पुष्पनि वरख्यो हरख्यो अति सुरनाहु ।[६]
अखण्ड कीर्ति लेय भूमि देयमान मानिये ।[७]
मान मुचावन बात तजि कहिए और प्रसंग ।[८]

---

१. रामचंद्रिका, पूर्वार्ध, पृ० ५
२. रामचन्द्रिका, पूर्वार्ध, आठवां प्रकाश, छन्द १३
३. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ३
४. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ३०
५. रामचन्द्रिका, दूसरा प्रकाश, छन्द १७
६. रामचन्द्रिका, तीसरा प्रकाश, छन्द १०
७. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द १६
८. रसिकप्रिया, पृ० १८८

आजु कहा दिखसाध लगी है ।[१]

तुक के लिए असाधारण प्रयोग भी देखिए—

जहँ तहँ लसत महा मदमत्त ।
वर वारन वार न दलदत्त ।।[२]

यहां दलदत्त शब्द का अर्थ है 'सेना को दलन करने में'।

मुहावरे एवं लोकोक्तियां

मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से उनकी भाषा की व्यंजकता में यथेष्ट अभिवृद्धि हुई है। मुहावरे और लोकोक्तियां भाषा की सुन्दरता की वृद्धि करते हैं। केशव ने मुहावरों का प्रयोग तो किया है पर लोकोक्तियों की ओर उनकी रुचि कम थी। आलंकारिक टीमटाम के कारण मुहावरों का प्रयोग भी थोड़े स्थलों पर किया है।

मुहावरे

केशव की सभी रचनाओं में मुहावरे बिखरे पड़े हैं।

हँसि बोलत ही सु हँसे सब 'केशव' लाज भगावत लोक भगै ।
कछु बात चलावत घेर चले, मन आनतहीं मनमत्थ जगै ।
सखि तू जु कही सु हुती मन मेरेहु जानि यहै न हियो उमगै ।
हरि त्यों टुक दीठि पसारत ही अंगुरीन पसारन लोक लगै ।।[3]

राजि सभा तिनु का करि लेखौं ।[४]

बीस बिसे व्रत भंग भयो ।[५]

वंचक कठोर ठेलि कीजै बारावाह अट्ठ ।[६]

झूंठ पाठ कंठ पाठकारी फाठ मारिए ।[७]

बोलत बोल फूल से झरें ।[८]

काको घर घालिबे को बसे कहा घनश्याम ।[९]

अब जो तू मुख मोरिहै ।[१०]

१. रसिकप्रिया, पृ० २०६
२. रामचंद्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २८
३. रसिकप्रिया, सोलहवां प्रभाव, छंद ३
४. रामचंद्रिका, पूर्वार्ध, पृ० ६१
५. रामचंद्रिका, पूर्वार्ध, पृ० ७४
६. रामचंद्रिका, पूर्वार्ध, पृ० १११
७. रामचंद्रिका, पूर्वार्ध, पृ० १११
८. रामचंद्रिका, इकत्तीसवां प्रकाश, छंद १७
९. रसिकप्रिया, पृ० १२५
१०. रसिकप्रिया, पृ० १७८

लोकोक्तियां

होनहार है रहै मिटै मेटी न मिटाई ।

× ×

होय तिनूका वज्र वज्र तिनुका ह्वै टूटै ।[1]

आग का तो दाध्यो अंग आग ही सिरातु है ।[2]

अंटहि अटंकहारहि भावे ।[3]

कहि केशव आपनि जाँघ उघारि के आपहि लाजन को माई ।

सोने सिंगारहु सीधे सँवारहु पीतर की पितराई न जाई ।[4]

तातो है दूध सिराई न पीजै ।[5]

प्यास बुझाई न ओस के चाटै ।[6]

यह पारी मूँजी माद्दरी ।[7]

विहना फूल्यो अंगन माइ ।[8]

अगि हाहि जरे ।[9]

ओली ओढ़त ही ।[10]

गाइन जाने नाचि माँगि आवे नहि मोही ।[11]

ओज, माधुर्य एवं प्रसादगुण

केशव की भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण यथास्थान मिल जाते हैं। माधुर्यगुण का सम्बन्ध चित्त को द्रवीभूत तथा आह्लादित करने से है, इसीलिए उसकी स्थिति शृंगार, करुण, शान्तरस में होती है। 'रसिकप्रिया' के शृंगारिक छन्दों में माधुर्यगुण की प्रधानता है।

माधुर्य

एक रदन गजवदन सदनबुधि मदन-कदन-सुत ।
गौरि-नन्द आनन्द-कन्द जगवन्द चंद-युत ।
सुख-दायक दायक सुकीर्ति जगनायक-नायक ।
खलधायक धायक-दरिद्र सब लायक-लायक ।

---

१. रामचंद्रिका, सप्तम प्रकाश, छन्द २०
२. कविप्रिया, पृ० ६८
३. रसिकप्रिया, पृ० ३३
४. रसिकप्रिया, पृ० १७८
५. रसिकप्रिया, पृ० २१५
६. रसिकप्रिया, पृ० २१८
७. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ६
८. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ४६
९. वीरसिंहदेवचरित, पृ० ३६, छंद ६
१०. रसिकप्रिया, पृ० २१८
११. वीरसिंहदेवचरित, छन्द ७, पृष्ठ ७७

गुरु गन अनंत, भगवन्त-भव, भगतिवंत भव-भय-हरन।
जय केसवदास निवासनिधि लम्बोदर असरन सरन॥[1]

ओज

ओजगुण वीर, बीभत्स और रौद्ररस से सम्बद्ध है, क्योंकि यह गुण चित्त को उद्दीप्त करता है। 'रामचन्द्रिका' में वीररस की प्रधानता होने के कारण ओजगुण की प्रधानता है।

प्रथम टंकारि झुकि झारि संसार मद,
चण्ड कोदण्ड रह्यो मण्डि नव खण्ड कों,
चालि अचला अचल धालि दिगपाल बल,
पालि रिषिराज के वचन परचण्ड को।
सोधु दै ईस कों बोधु जगदीश कों,
क्रोधु उपजाइ भृगुनंद बरिबंड कों,
बाँधि वर स्वर्ग कों साधि अपवर्ग धनु,
भंग को शब्द गयो भेदि ब्रह्मण्ड कों।[2]

प्रसाद

यद्यपि कुछ कटु आलोचकों ने केशव पर क्लिष्टता का आरोप लगाया है, परन्तु उनकी कविता में प्रसादगुण का भी अभाव नहीं। देखिए—

हाथी न साथी घोरे न चेरे न, गाउँ न ठाउँ कुठाउँ विलैहै।
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूँ सँग रैहै।
केसव काम के राम विसारत और निकाम रे काम न ऐहै।
चेति रे चेति अजौं चित-अंतर अन्तक लोक अकेलोई जैहै।[3]

केशव की रचनाओं में इन गुणों की पूर्ण काव्योपयोगिता में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती। इसीलिए डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का यह कथन कि "भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नहीं है। माधुर्य और प्रसादगुण से तो जैसे वे खार खाए बैठे थे" अनर्गल प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, कुछ ने तो उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहकर उनकी रचनाओं की ओर आंख उठाने का कष्ट भी नहीं किया। एक साहब ने तो यहां तक फरमाया है कि—

कवि को दीन न चहै विदाई। पूछे केशव की कविताई।[4]

लेकिन वास्तव में इन तथ्यों में सत्य का अंश बहुत ही कम है। यद्यपि यह बात

---

१. रसिकप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द १
२. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द ४३
३. रामचन्द्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द २६
४. अज्ञात

अवश्य है कि यत्र-तत्र रामचन्द्रिका और कविप्रिया में कुछ कठिन छन्द भी पाए जाते हैं। लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है।

आचार्य शुक्ल कुछ छन्दों के आधार पर अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं—

"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था, उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए, वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत-काव्यों की उक्तियां लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और काव्यों की न्यूनता अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और ऊबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ठ रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गम्भीरता या जटिलता नहीं।"[१] कतिपय स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ही केशव की भाषा अत्यन्त सरल तथा प्रसादपूर्ण है।[२]

निस्सन्देह केशव को अपनी काव्य-भाषा पर पूर्ण अधिकार है। केशवदास के किसी छन्द में पांच-पांच अर्थ निकलते हैं जैसे—

भावत परम हंस जात गुण सुनि सुख।
पावन संगति मनि विवुध बखानिए।
सुखद सकति कर समर सनेही बहु,
बदन विदित यश केशवदास गनिए।
राजे द्विज राज पद भूषन विमल कमला,
सन प्रकासे परदार प्रिय मानिए।
ऐसे लोकनाथ कै त्रिलोक नाथ नाथ।
नाथ कैधों रघुनाथ के अमरसिंह जानिए।।[3]

शब्द-शक्तियां

संसार के महान कवियों में एक भी ऐसा नहीं है जिसकी सारी रचनाएं केवल लक्षणा अथवा व्यंजनामय हों, अतः हमें केशवदासजी से यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उनका सारा काव्य लक्षणा एवं व्यंजनामय होगा। हां, उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २०९
२. (क) रामचन्द्रिका, सप्तम प्रकाश, छन्द २०
(ख) रामचन्द्रिका, तीसरा प्रकाश, छन्द १५
(ग) विज्ञानगीता, तृतीय प्रभाव, छन्द २७
३. कविप्रिया, पृष्ठ २५१, छन्द २३

पर लक्षणा एवं व्यंजना के दर्शन होते हैं। उनके संवादों में तो इन दोनों शक्तियों का कहना ही क्या! इसका बृहत् विवेचन संवादों में कर चुके हैं। अतः यहां केवल एक उदाहरण देते हैं—

सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहिं देखों।
कैसे बँधायो? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो।[1]

केशवदासजी ने सांकेतिक अर्थ भी दिए हैं। जहां पर कवि पाठक को भाव के स्थल तक ले जाता है और संकोच, शोक आदि के कारण से मौन होकर उंगली से इस तरफ संकेत करता है। एक उदाहरण लीजिए।

राजा दशरथ बुढ़ापे की सन्तान राम एवं लक्षण को विश्वामित्र के साथ भेजना नहीं चाहते, परन्तु वसिष्ठजी के समझाने पर भेजने के लिए विवश हो जाते हैं। दशरथ की मानसिक स्थिति का चित्रण केशव निम्न प्रकार करते हैं—

राम चलत नृप के युग लोचन।
वारि भरित भए वारिद रोचन।
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं।
केशव उठि गए भीतर भौनहिं॥[2]

यहां कवि ने केवल इशारे में ही दशरथजी के हृदय की सारी वेदना कह दी है। सभा में रोना मर्यादा के विपरीत था, अतः धीरे से कवि ने दशरथजी को सभा से घर को भेज दिया है। संभवतः घर में जाकर वे फूट-फूटकर रोए हों। इसी प्रकार राम की सेना के प्रस्थान द्वारा पृथ्वी कैसे धसकती-सी प्रतीत होती है, इसके लिए तदनुकूल ही शब्दों का प्रयोग किया है। देखिए—

उचकि चलत हरि दचकनि दचकत।
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल-थल।
लचकि-लचकि जात सेष के असेष फन।
भागि गई भोगवति अतल वितल तल॥[3]

दोष

लेकिन इसके साथ केशव में कुछ दोष भी पाए जाते हैं। उनकी 'रामचन्द्रिका' में विशेषतः ये दोष परिलक्षित हैं—

१. च्युत-संस्कृति दोष

पीछे मघवा मोहिं साप दई।[4]

---

१. रामचन्द्रिका, चौदहवां प्रकाश, छन्द १
२. रामचन्द्रिका, पूर्वार्ध, पृष्ठ २७
३. रामचन्द्रिका, चौदहवां प्रकाश, छन्द ३८
४. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छन्द ३४

अंगद रक्षा रघुपति कीनी ।।[1]

२. पुनरुक्ति दोष

ले धनुबान बली तब धायो ।
पल्लव ज्यों दल मारि उड़ायो ।[2]
करै साधना एक परलोक ही कों ।।[3]

३. अक्रमत्व

अमानुषी भूमि वानरी करौं ।।[4]

४. अधिक-पदत्व

प्रति द्वार द्वार महँ जुद्ध भए । बहु रिक्ष कँगूरनि लागि गए ।।
तब स्वर्न-लंक महँ सोभ भयी । जनु अग्निज्वाल महँ धूम मयी ।।[5]

यहां मयी शब्द अधिक है ।

५. निहितार्थत्व

विषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देति ।
केसव जीवन हार के, दुख असेष हरि लेति ।।[6]

यहां विष और जीवन का प्रयोग पानी के अर्थ में अधिक प्रसिद्ध नहीं है ।

६. अश्लीलत्व

दुख देख्यो ज्यों काल्हि त्यों आजहु देखो ।[7]

७. समाप्त-पुनरातत्व

गाइ द्विजराज तिय काज न पुकार लागै ।
भोगवै नरक घोर चोर को अभयदानि ।।[8]

यहां भोगवे नरक घोर के साथ वाक्य समाप्त हो गया था, किन्तु फिर से उसे चोर को अभयदानि इतना जोड़कर उठा दिया गया है ।

किन्तु इन दोषों के विषय में एक बात सामने आती है । दोष का दोषत्व तभी तक है जब तक रसानुभूति[9] में या मुख्यार्थ प्रतीति[10] में बाधा देता है, अन्यथा दोष दोष

---

१. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ३५
२. रामचन्द्रिका, छत्तीसवां प्रकाश, छन्द १३
३. रामचन्द्रिका, सत्रहवां प्रकाश, छन्द २१
४. रामचन्द्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द ३०
५. रामचन्द्रिका, सत्रहवां प्रकाश, छन्द ६
६. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द २६
७. रामचन्द्रिका, छठा प्रकाश, छन्द २१
८. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ३६
९. रसापकर्षकाः दोषाः । —साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद
१०. मुख्यार्थहति दोषः ।

ही नहीं रह जाते अपितु काव्योत्कर्ष करते हुए कभी-कभी तो गुणों का काम भी करते हैं। यह मान्यता संस्कृत के सभी आचार्यों को स्वीकृत है। केशव के दोषयुक्त कहे जानेवाले स्थलों पर विचार करने से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके दोष प्राय: रसानुभूति अथवा मुख्यार्थ-प्रतीति में बाधा नहीं देते। अतः अनेक स्थलों पर तो उन्हें दोष कहा ही नहीं जा सकता। बहुत-से स्थलों पर दोष गुण-रूप भी बन जाते हैं। यदि कुछ इने-गिने स्थल ऐसे निकल भी आएं जो प्रकृत काव्य-रूप में कुछ क्षति उत्पन्न करते हों तो उनसे न तो केशव का काव्य अकाव्य बनता है और न केशव महाकवि के स्थान से गिरते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव के पास शब्दों का अपूर्व भण्डार था, जिसमें ब्रजभाषा के अतिरिक्त बुन्देली, संस्कृत, अवधी तथा विदेशी आदि भाषाओं के शब्द भी शामिल थे। भाषा को भाव के अनुसार मोड़ने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। वह उनके इशारे पर नाचती हुई दृष्टिगत होती है। सभी महान कवियों की भांति केशव ने भी शब्दों की तोड़-मरोड़ की है। मुहावरे एवं लोकोक्तियों के सहज प्रयोग के कारण भाषा में सरलता एवं प्रांजलता आ गई है। भाषा में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद तीनों ही गुणों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। शब्द-शक्तियों का स्वाभाविक प्रयोग है—विशेषकर व्यंजना के कारण उनके संवाद हिन्दी-साहित्य में निर्विवाद सर्वोच्च हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि केशव में ऐसे दोष नहीं जो बाधा पहुंचाएं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं दोषों ने गुणों का रूप धारण कर लिया है। भाषा की अपनी अलग-अलग प्रकृति होती है। केशवीय हिन्दी संस्कृत भाषा की प्रकृति से अत्यधिक आछन्न है। जो पाठक संस्कृत भाषा की प्रकृति से अनभिज्ञ है उसके लिए केशव की भाषा दुरूह है, क्लिष्ट है एवं अस्पष्ट है।

भाषा के संबंध में एक बात और उल्लेखीय है। सूर एवं तुलसी जैसे महाकवियों की कृपा से भाषा भावाभिव्यक्ति में जितनी क्षमता प्राप्त कर चुकी थी उतनी शास्त्रीय विचारों का वाहन बनने में नहीं। यदि 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' को ही हम लेकर देखें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। इन रचनाओं के उदाहरणों में जैसी रसानुरूप प्रवाहमयी भाषा दिखाई देती है, वैसी लक्षणों मे नहीं। सार्वजनिक प्रयोग से भाषा मंजती है किंतु शास्त्रीय विचार-वाहन के लिए वह मंजाव केशवी हिन्दी में नहीं आ पाया था।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि रस-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना, प्रकृति-चित्रण, प्रबन्ध-पटुता, चरित्र-चित्रण, संवाद, छन्द-योजना तथा भाषाधिकार सभी दृष्टियों से केशव को न्यूनाधिक रूप में सफलता प्राप्त हुई है। उनके काव्य में भावातिरेक के साथ-साथ विभिन्न प्रकार का कला-कौशल समन्वित है, जो सोने में सुगन्ध का काम करता है।

सप्तम परिच्छेद

केशव का आदान-प्रदान

अ–आदान

प्रत्येक कवि अपने हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं के द्वारा ही किया करता है। तात्कालिक परिस्थितियों, समसामयिक कवि एवं लेखकों तथा निज रुचि का प्रभाव किसी भी कवि की रचना पर स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है। आचार्य-प्रवर केशव की कृतियां उक्त कथन को भली भांति पुष्ट करती हैं। सरस्वती के अनन्योपासक कवि-प्रवर केशवदासजी ने 'रामचन्द्रिका', 'विज्ञानगीता' आदि ग्रन्थों के प्रणयन से 'भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास'[1] वाली उक्ति को सत्य ही सिद्ध किया है। अपनी विरासत के रूप में प्राप्त संस्कृत को भाषा का स्वरूप प्रदान कर कवि ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है, चिरस्मरणीय है।

भारतीय संस्कृति को चिरकाल से अक्षुण्ण बनाने में समर्थ जिस संस्कृत भाषा से विदेशी साहित्यकार भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, उसीके प्रकाण्ड पण्डित केशवदासजी के साहित्य पर आर्ष ग्रन्थों, महाकाव्यों, प्राचीन नाटकों किंवा काव्य-ग्रन्थों का प्रभाव देखकर किसे आश्चर्य होगा! आदिकाव्य के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि द्वारा 'स्वप्न-दर्शन'[2] प्राप्त कर भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के आराधक कवि केशव की लेखनी पौराणिक ज्ञान, आध्यात्मिक विचार तथा महापुरुषों का चरितांकन करने के लिए क्यों न चल पड़ती! संस्कृत वाङ्मय के मर्मज्ञ आचार्यों का प्रसाद पाकर विशाल राज-परिषदों के सुरुचि-सम्पन्न श्रोताओं के साक्ष्य में उपस्थित होकर आचार्य मम्मट के 'काव्यं यशसेऽर्थकृते'[3] वाले कथन को चरितार्थ करते हुए किसी भी केशव के लिए ऐसी रचनाएं प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही था।

केशव के कुछ ग्रन्थों को छोड़कर सबका मूलाधार संस्कृत की मूल रचनाएं ही है। अतः हम केशव की कृतियों का विवेचन करते हुए उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करेंगे। किन्तु इससे पूर्व यह स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है कि प्रस्तुत विवेचन का

---

१. कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १७

२. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ७

३. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, श्लोक २

लक्ष्य केवल भाव-साम्य ही को दिखाना है। कथानक-सम्बन्धी साम्य हम यथास्थान पहले ही दिखा चुके हैं।

विस्तारभय से केवल प्रमुख कृतियों पर ही यहां विचार करेंगे।

रामचन्द्रिका एवं संस्कृत-ग्रन्थों में भाव-साम्य

कविवर केशव की महत्त्वपूर्ण रचना 'रामचन्द्रिका' का प्रारम्भ 'वाल्मीकि मुनि स्वप्न में दरसन दीन्हों चारु'[1] के आधार पर आदिकवि की प्रेरणानुसार हुआ था। यद्यपि कथावस्तु 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुरूप ही चली है, परन्तु जहां तक विस्तार तथा संवाद-वर्णन आदि का प्रश्न है, उक्त रचना के आधार-स्तम्भ संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध नाटक 'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' आदि ही हैं। शैली की दृष्टि से कवि केशव 'कादम्बरी' से भी प्रेरित सिद्ध होते हैं। साथ ही 'नैषधीयचरितम्', 'अध्यात्मरामायण' एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' आदि कृतियों का प्रभाव भी यत्र-तत्र स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भाव, भाषा अथवा अनुवाद की दृष्टि से कथा के सूत्र निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ में केशवदासजी ने प्राचीन परिपाटी के अनुसार 'कवि-वंश-परिचय' में आत्मपरिचय दिया है। तत्पश्चात् मूल कथा प्रारम्भ करते हुए 'हनुमन्नाटक' के अनुकूल ही दशरथ-पुत्रों[2] का उल्लेख किया है। द्वितीय प्रकाश में वर्णित 'राज-सभा'[3] आदि का आधार 'वाल्मीकि-रामायण' ही है। तृतीय प्रकाश के आश्रम-वर्णन[4] में 'कादम्बरी' की शैली की स्पष्ट छाया प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकाश में मंजरीक और नूपुरक, 'प्रसन्नराघव' के इन दोनों पात्रों का अनुकरण केशव के 'सुमति और विमति' के रूप में मिल जाता है। चौथा प्रकाश भी 'प्रसन्नराघव' से ही प्रेरित सिद्ध होता है। 'बाण-रावण-संवाद'[5] से इसका प्रमाण मिल जाता है। इस संवाद में कहीं-कहीं तो मूल भाव स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है।

पांचवें प्रकाश के अन्तर्गत 'अहल्या-उद्धार' के लिए केशवदास जयदेव के ऋणी हैं। सूर्योदय-वर्णन पुनः 'प्रसन्नराघव' के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार विश्वामित्र-जनक-मिलन में राजादि के परिचय-प्रसंगों में कहीं तो कोमलकान्त पदावली के मूल स्रोत कविवर जयदेव की रचना का शब्दानुवाद मिलता है तो कहीं भावानुवाद दृष्टिगोचर होता है। किन्तु छठे प्रकाश में वर्णित 'ज्योनार,' 'पलकाचार'[6] आदि के चित्रांकन में, समसामयिक रीति-नीति-व्यवहार के निर्वाह में कवि ने निस्सन्देह अपनी मौलिकता

---

१. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २२
२. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द ४-२२
३. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १-४
४. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १७-३३
५. रामचन्द्रिका, चतुर्थ प्रकाश, छंद १-२६
६. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द २६-४५

का परिचय दिया है। सातवें प्रकाश में प्रस्तुत धनुर्भंग तथा परशुराम-संवाद[1] आदि प्रसंग भी 'प्रसन्नराघव' से ही प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। आठवें प्रकाश में वर्णित 'बारात' आदि के चित्र पुनः केशव की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं। इसी प्रकार नवें प्रकाश में मन्थरा की जो अवहेलना की है, उसका आधार भी 'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' ही है। 'राम-सीता'[2] अथवा 'राम-लक्ष्मण-संवाद'[3] 'वाल्मीकि-रामायण' से अनुप्राणित हैं।[4] हां, 'भरत-कैकेयी-संवाद' 'हनुमन्नाटक' से ही प्रतिबिम्बित दृष्टिगत होता है।

ग्यारहवें प्रकाश में जहां राम-भारद्वाज-संवाद 'अध्यात्मरामायण' से प्रभावित दृष्टिगोचर होता है, वहीं 'पंचवटी-वर्णन'[5] में केशवदासजी ने 'हनुमन्नाटक' का अनुकरण किया है। इसी प्रकार बारहवें प्रकाश में वर्णित सीता-विलाप, राम की विरहावस्था आदि अनेक प्रसंग 'हनुमन्नाटक' एवं 'प्रसन्नराघव' नामक नाटकों के आधार पर ही प्रस्तुत किए गए हैं। तेरहवें प्रकाश में 'सीता-हनुमान-संवाद',[6] 'लंका-दहन'[7] तथा 'विभीषण-तिरस्कार' आदि का वर्णन भी 'हनुमन्नाटक', 'अध्यात्मरामायण' एवं 'प्रसन्नराघव' आदि संस्कृत रचनाओं के आधार पर ही किया गया है।

सोलहवें प्रकाश में प्रस्तुत 'रावण-विभव-वर्णन' हनुमन्नाटककार की ही देन है। सत्रहवां प्रकाश भी 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्मरामायण' तथा 'हनुमन्नाटक' से प्रतिबिम्बित होता है। लक्ष्मण को पुनर्जीवित करने की युक्ति का उल्लेख केशव ने विभीषण के मुख से जिस प्रकार कराया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अतः उसे हम पुनः कवि की मौलिक प्रतिभा ही कह सकते हैं। अठारहवें तथा उन्नीसवें प्रकाश भी हनुमन्नाटक से ही प्रेरित होकर लिखे गए हैं। इसी प्रकार शेष ग्रन्थ की रचना भी पुरातन संस्कृत कवियों का ही प्रसाद-रूप है, जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

कवि-प्रवर केशव ने देव-स्तुति तथा रामराज्य-वर्णन अध्यात्मरामायण के आधार पर प्रस्तुत किया है। ब्रह्मा-विनय, लव-अंगद-युद्ध, सीता का शोक आदि प्रसंग कवि की मौलिक उद्भावनाएं हैं। इसी प्रकार सीता-निर्वासन के द्वारा भी कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। लव-कुश के राम-सेना के साथ युद्ध का जो चित्र हनुमन्नाटककार ने अंकित किया है, उसीका प्रतिबिम्ब 'रामचन्द्रिका' में दृष्टिगोचर होता है। साथ ही कुछ प्रकरण ऐसे हैं जो कवि केशव की मौलिक सूझ-बूझ और कल्पना-वैभव के परिचायक हैं।

---

१. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द १-३४
२. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द २२-२६
३. रामचन्द्रिका, नवम प्रकाश, छन्द २७-२८
४. रामचन्द्रिका, दसवां प्रकाश, छन्द ४-७
५. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द १७-१८
६. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द ६५-८७
७. रामचन्द्रिका, चौदहवां प्रकाश, छन्द ४-१३

था—चौगान,[१] छप्पन प्रकार के भोजन,[२] स्वान-संन्यासी-अभियोग[3] तथा सत्यकेतु का ाख्यान[४] आदि।

प्रसन्नराघव

उक्त कथन के उपरान्त अब हम 'रामचन्द्रिका' में प्राप्त भाव-साम्य के उदाहरण स्तुत करते हैं। सर्वप्रथम हम जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' को ही लेते हैं, जिसका सर्वाधिक प्रभाव उनकी 'रामचन्द्रिका' पर पड़ा है। 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक में संस्कृत कवि जयदेव ने 'नूपुरक-मंजरीक-संवाद' के अन्तर्गत मंच की शोभा का वर्णन किया है।[५] सी भाव को 'रामचन्द्रिका' में इस प्रकार लिया गया है—

नचति मंच पंचालिका कर संकलित अपार,
नाचति है जनु नृपन की चित्तवृत्ति सुकुमार ।।[६]

एक अन्य स्थल पर मंजरीक उपस्थित राजाओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित रते हुए भाषण करता है।[७]

इसी भाव को केशव का विमति इस प्रकार व्यक्त करता है—

कोउ आजु राज समाज में बल सम्भु को धनु कर्षिहै।
पुनि श्रवन के परिमान तानि सो चित्त में अति हर्षिहै ।।
वह राज होइ कि रंक केशवदास सो सुख पाइहै।
नृपकन्यका यह तासु के उर पुष्प मालहि नाइहै ।।[८]

बाण-रावण-संवाद में भी पूर्ण साम्य दृष्टिगत होता है।[९]

केशव के 'बाण' द्वारा उच्चरित छन्द में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति कराई ाई है।[१०]

---

१. रामचन्द्रिका, उन्तीसवां प्रकाश, छन्द १-१५
२. रामचन्द्रिका, तीसवां प्रकाश, छन्द २८-३१
३. रामचन्द्रिका, चौतीसवां प्रकाश, छन्द १-१८
४. रामचन्द्रिका, चौतीसवां प्रकाश, छन्द २०-३४
५. नटति नरकराग्रव्यग्रसूत्राग्रलग्नद्विपदशनशलाका मंचपांचालिकेयम्।
त्रिपुर मथन चापारोपणोत्कण्ठितानामतिरभसवतीव क्ष्माभृतां चित्तवृत्तिः ।।
—प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, श्लोक २८
६. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १६
७. आकर्णान्तं त्रिपुर मथनोद्दण्ड कोदण्ड नद्धां। मौर्वीमुर्वीवलयतिलकः कोऽपि यः कर्षतीह।
तस्यायान्ती परिसरभुवं राजपुत्री भवित्री। कूजत्कांची मुखरजघना श्रोत्रनेत्रोत्सवाय ।।
—प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, श्लोक २९
८. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द ३१
९. यदीदृशं वीराडम्बरं तत्किमारोप्यैव हरकार्मुकं न नीयते सीता।
—प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, पृष्ठ ४६
१०. रामचन्द्रिका, चतुर्थ प्रकाश, छन्द ८

यही वाद-विवाद जब उग्र रूप धारण कर लेता है तो 'प्रसन्नराघव' के बाण के मुख से युक्तिसंगत बात निकल पड़ती है।[1]

केशव का 'बाण' भी व्यर्थ के वाद-विवाद को महत्त्व न प्रदान करते हुए रावण से कहता है—

हमै तुमै नहिं बूझियै विक्रमवाद अखण्ड।
अब जु यहै कहि देहिगो मदनकदन-कोदण्ड ॥[2]

आत्मश्लाघी रावण फिर भी अपने दुराग्रह पर अड़ा रहता है। वह सीता को हठपूर्वक ले जाने की प्रतिज्ञा करता है।[3] केशवदासजी ने मानो मूल श्लोक को ही अपने काव्य में रख दिया हो—

अब सीय लिये बिन हौं न टरौं।
कहुँ जाहुँ न तौ लगि नेम धरौं।
जब लौं न सुनौ अपने जन को।
अति आरत सब्द हते तन को ॥[4]

एक अन्य स्थल पर राम निमिवंशी राजाओं की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "इन निमिवंशी राजाओं की कीर्ति-ज्योति ऐसी ही है जिसको कोई क्षत्रिय स्पर्श नहीं कर पाया, जिसका स्पर्श नहीं किया जा सकता, जिसे हाथियों के गण्डस्थल से स्रवित मद का पंक पंकिल नहीं कर सकता तथा जिसे चमरों की वायु श्रमित नहीं कर सकती।"[5] इसी भाव को केशव के द्वारा प्रकट किया गया है।[6]

विश्वामित्र ने भी जनक की प्रशंसा करते हुए कहा है, "राजा दशरथ ने चन्द्रमा के समान सुन्दर शरीरवाले राम को जन्म दिया है तथा आपने संसार के नेत्रों को आनन्द प्रदान करनेवाली कुमुदिनी के समान सीता को।"[7] केशव ने यह भाव भी ग्रहण किया है।[8]

---

१. किमलीक वाग्विग्रहेण। तदिदं धनुरावयोरतारतम्यं निरूपयिष्यति।
—प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, पृष्ठ ४८

२. रामचन्द्रिका, चतुर्थ प्रकाश, छन्द १६

३. अनाहृत्य हठात् सीतां नान्यतो गन्तमुत्सहे। न शृणोमि यदि क्रूरमाक्रन्दमनुजीविनः ॥
—प्रसन्नराघव, प्रथम अंक, श्लोक ६०

४. रामचन्द्रिका, चौथा प्रकाश, छन्द २६

५. छत्रच्छाया तिरयति न यन्न च स्प्रष्टुमीष्टे। दृप्यन्नन्धद्विपमदमयी पंकनामा कलंकः।
लीलालोलः शमयति न यच्चामराणां समीरः। स्फीतं ज्योतिः किमपि तदमी भूभुजः शीलयन्ति ॥
—प्रसन्नराघव, तृतीय अंक, श्लोक १२

६. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द २२

७. जज्ञिवान्दशरथः स हि राजा राममिन्दुमिव सुन्दरगात्रम् ॥
लोकलोचनविगाहनशीलां त्वं पुनः कुमुदिनीमिव सीताम् ॥
—प्रसन्नराघव, तृतीय अंक, श्लोक २६

८. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द ३३

राम के द्वारा प्रशंसित राजा जनक भी राम के चरित्र से कम प्रभावित नहीं हैं किन्तु धनुष की गहनता ने उनके चित्त को अस्थिर कर दिया है अतः वह स्वगत भाषण के रूप में कहते हैं, "जिनकी कालिमारहित तपश्री समस्त संसार में विख्यात है, उन विश्वामित्र की उत्कंठा निश्चय कैसे हो सकती है ! फिर भी एक बालक हैं तथा शिवधनु गहन है, अतएव मेरी चित्तवृत्ति दोला के समान चंचल हो रही है।"[१] इसी भाव को केशव ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

रिषिहि देखि हरषै हियो राम देखि कुंभिलाइ,
धनुष देखि डरपै महा चिन्ता चित्त डुलाइ ॥[२]

जमदग्नि का कथन भी दोनों ग्रन्थों में पूर्ण भाव-साम्य के साथ उपलब्ध होता है।

क्रोधाविष्ट परशुराम दशानन का हनन करने के उद्देश्य से अपने परशु को सम्बोधित करते हैं, "सैकड़ों राजाओं के कोमल कण्ठों को काटने की कला में कुशल परसे, तू शीघ्रातिशीघ्र दशानन के कठोर कण्ठों को काटने का विनोदपूर्ण चातुर्य दिखलाए।"[३] केशव भी अपने परशुराम के मुख से उक्त भाव की अभिव्यक्ति इस प्रकार कराते हैं—

अति कोमल नृप सुतन की ग्रीवा दली अपार।
अब कठोर दसकंठ के काटहि कंठ कुठार ॥[४]

'रामचन्द्रिका' के सप्तम प्रकाश में परशुरामजी शिवजी का धनुष तोड़नेवाले भगवान से क्रुद्ध होते हुए कहते हैं, "शिवजी का धनुष तोड़ने के कारण दर्प-रूपी अवलेप-विशेष से विकसित तुम्हारी भुजाओं के मधु के समान रुधिर से आज मैं अपने कठोर कुठार का आराधन करूंगा।"[५]

इसी भाव को ग्रहण करते हुए केशव ने अपने परशुराम के मुख से इसी प्रकार कहलवाया है।[६]

---

१. प्रसन्नराघव, तृतीय अंक, श्लोक ३५
२. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द ४०
३. नृपशतसुकुमारकंठनालीकदनकलाकुशलः परश्वधो मे।
दशवदनकठोरकंठपीठकदनविनोदविदग्धतां दधातु ॥
—प्रसन्नराघव, चौथा अंक, श्लोक ९
४. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ५
५. चण्डीशकार्मुक विमर्दविवर्धमानदर्पावलेपसविशेषविकाशभाजौः।
बाह्वोस्तवाहमधुना मधुना समानैराराधयामि रुधिरैः कठिनं कुठारम् ॥
—प्रसन्नराघव, चतुर्थ अंक, श्लोक १९
६. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द १९

'प्रसन्नराघव' के राम क्रुद्ध परशुराम को शान्त करने की चेष्टा करते हैं।[1] केशव के राम की उक्ति में उपर्युक्त श्लोक का भाव-साम्य दृष्टव्य है—

भृगुकुल कमल-दिनेस सुनि, जीति सकल संसार।
क्यों चलिहै इन सिसुन पै, डारत हौ जस भार॥[2]

राम के उपर्युक्त कथन के उपरान्त तो परशुराम का अभिमान चरम सीमा पर पहुंच जाता है। वह न केवल राम का ही, अपितु गुरु विश्वामित्र का भी तिरस्कार करते हुए जो कहते हैं,[3] वही उक्ति केशव में भी प्राप्त होती है।[4]

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि केशव-विरचित 'रामचन्द्रिका' संस्कृत कवि जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' नाटक से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

हनुमन्नाटक

केशव पर 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राम-परशुराम-संवाद भाव-साम्य की कसौटी पर खरा उतरता है। परशुराम अपने कुठार द्वारा सम्पन्न भयंकर कृत्यों का व्याख्यान देते हैं, परन्तु राम अपने सहज सौम्य का ही परिचय देते हैं।[5]

केशवदास ने उक्त दोनों श्लोकों का भाव अपने एक छन्द में इस प्रकार व्यक्त किया है—

कंठ कुठार परै अब हार कि, फूलै असोक कि सोक समूरो।
कै चितसारि चढ़ै कि चिन्ता, तन चदन चित्र कि पावक पूरो।

---

१. प्रसीदत्वं रोषाद्विरम कुरु मे चेतसि गिरं।
चिर यंचायासैर्बहुभिरिह वारैर्जिमभूत॥
यशोवर्तवित्तं कितव इव विक्षोभतरलं,
तदेतस्मिन वारे भृगु तिलक मा हारय मुधा॥

—प्रसन्नराघव, चतुर्थ अंक, श्लोक ३५

२. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ३८

३. ईशात्यक्तपुराणचापदलनप्रोद्भूतगर्वोद्धति-
व्यग्रस्त्वं कतरः स मे तव गुरुः सोढुं न शक्तः शरान्।
तुष्टादिष्टवरप्रदादवगतः पद्मासनात्सादरं,
मन्नाराचभयादयाचत किल ब्राह्मीं तनूं कौशिकः॥

४. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ४७

५. जातः सोऽहं दिनकरकुले क्षत्रियः श्रोत्रियेभ्यो,
विश्वामित्रादपि भगवतो दृष्टदिव्यास्त्रपारः।
अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा,
विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि॥

—हनुमन्नाटक, प्रथम अंक, श्लोक ४१, श्लोक ४४ भी दृष्टव्य

लोक में लोक बड़ो अपलोक, सु केशवदास जु होउ सु होऊ।
विप्रन के कुल कौं भृगुनन्दन, सूरन सूरज के कुल कोऊ ।।[1]

इसी प्रकार केशव की सम्वाद-योजना में भी 'हनुमन्नाटक' के भाव-साम्य के अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए भरत-कैकेयी-संवाद प्रस्तुत किया जा सकता है। "हे माता! हमारे पिता कहां गए? स्वर्गलोक को। हाय! क्यों गए? पुत्र-शोक के कारण। चारों पुत्रों में से वह कौन-सा पुत्र है? जिससे तुम छोटे हो अर्थात् राम। उन राम को क्या हुआ? वे वन चले गए हैं। क्यों? राजाज्ञा से। राजा ने ऐसा क्यों कहा? मुझसे वचनबद्ध होने के कारण! तुमको इससे क्या फल मिला? तुम्हारा राज्याभिषेक। हाय मैं मारा गया!"[2]

केशव ने भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

कहु मातु कहाँ नृप? तात गए सुरलोकहिं, क्यों? सुत सोक लए।
सुत कौन सु? राम, कहाँ हैं अबै? बन लक्ष्मन सीय समेत गए।
वनकाज कहा कहि? केवल मो सुख, यामे कहा सुख तोकों भए?
तुमकों प्रभुता, धिक तोकों कहा अपराध बिना सिगरेई हए ।।[3]

हनुमन्नाटककार ने पंचवटी का जो वर्णन किया है,[4] उसकी भी छाया केशव के पंचवटी-वर्णन पर है—

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हूँ घटी जग जीव जतीन की छूटी तटी ।।
अघ ओघ की बेरी कटी विकटी निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी।
चहुँ ओरनि नाचति मुक्तिनटी गुन धूरजटी बन पंचवटी ।।[5]

सीता-वियोग का वर्णन भी दोनों ग्रंथों में समान रूप में ही उपलब्ध होता है।[6]

'हनुमन्नाटक' में एक अन्य स्थल पर जब अंगद रावण के पास दौत्यकर्म के सम्पादनार्थ पहुंचता है तो रावण का प्रतिहार एक छन्द में उसके प्रताप को सूचित

---

१. रामचन्द्रिका, सातवां प्रकाश, छन्द ३३
२. हनुमन्नाटक, ३।८
३. रामचन्द्रिका, दसवां प्रकाश, छन्द ४
४. एषा पंचवटी रघुत्तम कुटी यत्रास्ति पंचावटी।
पान्थस्यैकघटी पुरस्कृततटी संश्लेषभित्तौ वटी ॥
गोदायत्र नटी तरंगिततटी कल्लोल चंचत्पुटी।
दिव्यामोदकुटी भवाब्धिशकटी भूतक्रिया दुष्कटी ॥
—हनुमन्नाटक, तृतीय अङ्क, श्लोक २२
५. रामचन्द्रिका, ग्यारहवां प्रकाश, छन्द १८
६. तुलनीय—हनुमन्नाटक ५।२६ तथा रामचन्द्रिका, १२।४२

रता है।[1]

केशवदासजी ने भी निम्नलिखित छन्द में इसी भाव को व्यक्त किया है—

पढ़ौ विरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर के कही न जक्ष भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठि नारदादि संग हीं।
न बोलु चन्द मंद बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥[2]

अंगद-रावण-संवाद में भी अनेक छन्द भाव-साम्य के उदाहरणों से भरे पड़े हैं।

अंगद के पहुंचने पर रावण उससे अनेक प्रश्न पूछता है जिनका उत्तर स्वाभिमानी ंगद तत्काल देता है और अन्त में अभिमानी रावण को ही लज्जित होना पड़ता है।[3]

केशव का अंगद भी उक्त श्लोक के भाव को प्रकट करता है।[4]

इस परिचय से भी सन्तुष्ट न होकर जब रावण पुनः परिचयात्मक प्रश्न करता , तो अकस्मात् ही उसे हनुमानजी की विभीषिका का स्मरण हो आता है।[5]

केशव ने भी उक्त भाव को व्यक्त किया है।[6]

एक अन्य स्थल पर आत्मश्लाघी कुम्भकर्ण युद्धभूमि में राम को अपना परिचय ता हुआ उन्हें प्रभावित करने का असफल प्रयास करता है।[7]

---

१. ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां,
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः।
स्तोत्रं संहर नारदस्तुतिकुलालापैरलं तुम्बुरो,
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः॥
—हनुमन्नाटक, आठवां अङ्क, श्लोक ४५

२. रामचन्द्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द २

३. कस्त्वं वन्यपतेः सुतो वनपतिः कः सार्थिकस्त्वेकदा,
यातः सप्तसमुद्रलंघनविधावास्याह्निक वेद्भितं।
अस्ति स्वस्ति समीपतो रघुबरे रुष्टेऽत्र कः स्वस्तिमान्,
को भूयादनरण्यकस्यमरणातीतोचिताम्बुप्रदः। —हनुमन्नाटक, अष्टम अंक, श्लोक १०

४. रामचन्द्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द ६

५. कस्त्वं वानर रामराज भवने लेख्यार्थसंवाहको।
यातः कुत्र पराऽऽगतः स हनुमान्निर्दग्धलंकापुरः।
बद्धो राक्षसमूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः।
स व्रीडार्ति पराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते।
—हनुमन्नाटक, अष्टम अंक, श्लोक ६

६. रामचन्द्रिका, सोलहवां प्रकाश, छन्द ५

७. नाहं बाली सुबाहुर्न खरत्रिशिरसौ दूषणस्तारकाहं।
नाहं सेतुः समुद्रे न च धनुरपि यत्र्यम्बकस्य त्वयाऽऽत्तम्।
रे रे राम प्रतापानलकवलमहाकालमूर्तिः किलाहं।
वीराणां मौलिशल्यः समरभुविचरः संस्थितः कुम्भकर्णः॥
—हनुमन्नाटक, एकादश अंक, श्लोक २४

केशव-विरचित एक छन्द में उक्त श्लोक का छायानुवाद प्रस्तुत किया गया है ।[१]

उक्त विवेचन के आधार पर यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि केशव की 'रामचन्द्रिका' 'प्रसन्नराघव' की ही भांति 'हनुमन्नाटक' से भी पर्याप्त प्रभावित है ।

कादम्बरी

बाणभट्ट की 'कादम्बरी' से भी केशव स्पष्ट रूप से यत्र-तत्र प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं । उदाहरण के लिए 'शुकनासोपदेश' के अन्तर्गत महाकवि बाण ने 'ऐश्वर्य', 'यौवन' 'सौंदर्य एवं शक्ति' को अविनयों का स्थान तथा अनर्थ की परम्परा के नाम से अभिहित किया है ।[२]

कवि-प्रवर केशव भी उक्त शिक्षा से प्रभावित होकर निम्नलिखित छन्द की रचना करने में सफल हुए हैं—

जोवन अरु अविवेकी रंग ।
विनस्यो को न राजश्री संग ।।[३]

यद्यपि हमें केशव की रचनाओं में 'बाण' से प्रभावित स्थलों का बाहुल्य तो नहीं मिलता, तथापि जो भाव-साम्य केशवदासजी ने प्रस्तुत किया है, वह सफल एवं प्रशंसनीय है । उदाहरण के लिए 'कादम्बरी' में प्रयुक्त भाव[४] को केशव ने 'भगीरथ पथ गामी गंगा कैसो जल है'[५] कहकर नपे-तुले शब्दों में कैसा सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है ।

एक दूसरे स्थल पर[६] कविवर केशव ने 'विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस'[७] में परिणत कर दिया है । इसी प्रकार राज्य के नागरिक स्वच्छ वेश-भूषा धारण करते थे तथा मलिनता तो कहीं नाममात्र को भी न थी । यदि मालिन्य ही खोजना है तो वह केवल वायुमण्डल को पवित्र करने वाले हविर्धूम में ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं ।[८] बाण के इस भाव को केशव ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

होम धूम मलिनई जहां ।[९]

---

१. रामचन्द्रिका, अठारहवां प्रकाश, छन्द २२-२३

२. गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वम् प्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा सर्वा । अविनयानामेकैकमप्येषामापतनम् किमुत समवायः ।
—कादम्बरी, शुकनासोपदेश, पृष्ठ २२२

३. रामचन्द्रिका, तेईसवां प्रकाश, छन्द १७

४. गंगा प्रवाह इव भगीरथ पथ प्रवृत्तं । —कादम्बरी, शूद्रकवर्णनम् , पृष्ठ ८

५. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द १०

६. विमानीकृत राजहंस कमलयोनिरव । —कादम्बरी, शूद्रकवर्णनम् , पृष्ठ ८

७. रामचन्द्रिका, द्वितीय प्रकाश, छन्द १०

८. यत्र मलिनता हविर्धूमेषु । —कादम्बरी, जाबाल्याश्रमवर्णनम् , पृष्ठ ८६

९. रामचन्द्रिका, अट्ठाईसवां प्रकाश, छन्द ८

केशवदासजी का वन-वर्णन भी कादम्बरी पर आधारित है ।[१]

तरुतालीस तमाल ताल हिन्ताल मनोहर ।
मंजुल मंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर बर ।।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहें ।
सारी सुक कुल कलित चित्तकोकिल अलि मोहें ।।[२]

नैषधीयचरितम्

उक्ति-वैचित्र्य के लिए प्रसिद्ध 'नैषधीयचरितम्' जैसी उत्कृष्ट रचना से प्रभावित होकर कवि-प्रवर ने अनेकार्थवाची पदों की रचना की है । उदाहरण के लिए सरस्वती द्वारा दमयन्ती के सम्मुख इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण तथा नल सभीके पक्ष में घटित होनेवाला श्लोक प्रस्तुत किया गया है ।[३]

केशव ने भी निम्नलिखित छन्द में कई देवताओं का एकसाथ वर्णन किया है—

कविकुलविद्याधर सकल कलाधर राज राजवर वेष बने ।
गनपति सुखदायक पसुपति, लायक, सूर सहायक कौन गनै ।।
सेनापति बुधजन मंगल गुरु गन, धर्मराज मन बुद्धि घनी ।
बहु सुभ मनसाकर करुनामय अरु सुर तरंगिनी सोभसनी ।।[४]

उसी प्रकार कविप्रिया में भी एक छन्द के पांच अर्थ निकलते हैं ।[५]

मृच्छकटिकम्

सुप्रसिद्ध नाटककार शूद्रक ने गहन अन्धकार का वर्णन किया है ।[६]

केशव के निम्न छन्द का भी वर्णन ऐसा ही है—

बरनत केशव सकल कवि, विषम गाढ़ तम-सृष्टि ।
कुपुरुष सेवा ज्यों भई, संतत मिथ्या दृष्टि ।।[७]

---

१. तालतिलकतमालहिन्तालबकुलबहुलैः एललता कुलितनारिकेलिकलापैः अलोललोध्रलवलीलवंग पल्लवैः उल्लसितचतरेणपटलैः अलिकुलझंकार मुखर सहकारैः उन्मद कोकिल कुलकलापकोलाहलाभिः । —कादम्बरी, जाबाल्याश्रमवर्णनम्, पृष्ठ ८३

२. रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १

३. देवः पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या,
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नलः खलु तवाति महानलाभो,
यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ।।
—नैषधीयचरितम्, तेरहवां सर्ग, श्लोक ३४

४. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द ४२

५. कविप्रिया, छन्द २३, पृष्ठ २५१

६. लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ।। —मृच्छकटिक, प्रथम अंक, श्लोक ३४

७. रामचन्द्रिका, तेरहवां प्रकाश, छन्द २१

अध्यात्मरामायणम्

दशानन मारीच को सीताहरण में सहायक बनने के लिए न केवल प्रेरित ही करता है अपितु उसे भयभीत करने पर भी उतारू हो जाता है। उस समय राम के शौर्य से पूर्णरूपेण परिचित मारीच उस मूढ़ असुर को राम से वैर न करने की अमूल्य शिक्षा देता है।[1]

उक्त भाव को लिए हुए केशव का छन्द इस प्रकार है—

रामहि मानुष कै जनि जानो। पूरन चौदह लोक बखानो।
जाहु जहाँ तिय लै सुन देखों। हौं हरि कौं जल हू थल लेखौं॥[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि केशव 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'कादम्बरी', 'नैषधीयचरितम्', 'मृच्छकटिकम्' तथा 'अध्यात्मरामायण' आदि संस्कृत रचनाओं से पूर्ण प्रभावित थे। इनके अधिकांश छन्दों पर उक्त ग्रन्थों की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। ऐसे स्थलों का भी अभाव नहीं जहां केशव की मौलिकता के दर्शन होते हैं।

'रामचन्द्रिका' के प्रथम प्रकाश में ही दिग्पालों द्वारा उपहारस्वरूप प्रदत्त हाथियों का वर्णन केशव ने इस प्रकार किया है—

दीह दीह दिग्गजन के केशव मनहुँ कुमार।
दीन्हें राजा दशरथहिं दिग्पालन उपहार॥[3]

इसी प्रकार पंचम प्रकाश में विश्वामित्रजी ब्राह्मण के मुख से यह सुनते हैं कि यह चित्र सीता के भावी वर का है और राम के स्वरूप से बहुत कुछ साम्य रखता है तो प्रसन्नता के मारे फूले नहीं समाते।[4]

एक अन्य स्थल पर कविवर केशव ने 'पलिकाचार' के वर्णन में अपनी मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है—

बैठे जराय जरे पलिका पर राम सिया सबके मन मोहैं।
ज्योतिसमूह रह्यो मढ़िकै सुर भूलि रहै बपुरा नर को हैं।
केशव तीनहु लोकन की, अवलोकि वृथा उपमा कवि टोहैं।
सोमन सूरजमंडल माँझ मनौ कमला-कमलापति सोहैं॥[5]

उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त विभीषण द्वारा लक्ष्मण के पुनर्जीवन का उपाय-वर्णन,

---

१. अतो न मानुषो रामः साक्षान्नारायणोऽव्ययः,
मायामानुषवेषेण वनं यातोऽति निर्भयः॥
भूभारहरणार्थाय गच्छ तात गृहं सुखम्॥ —अध्यात्मरामायण, छठवां सर्ग, छन्द २८-२९

२. रामचन्द्रिका, बारहवां प्रकाश, छन्द ९

३. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द २९

४. रामचन्द्रिका, पंचम प्रकाश, छन्द २-३

५. रामचन्द्रिका, छठवां प्रकाश, छन्द ४५

रावण के द्वारा राम को संधिपत्र प्रेषित करना, 'ब्रह्मा-विनय', 'शयनागार', 'स्वान-संन्यासी-अभियोग' आदि प्रकरण कवि की मौलिकता के उत्तम उदाहरण हैं।

विज्ञानगीता एवं संस्कृत-ग्रन्थों में भाव-साम्य

महाकवि केशव की द्वितीय रचना 'विज्ञानगीता' के दार्शनिक पक्ष एवं कथानक पर पहले ही विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। यहां केवल भाव-साम्य के उदाहरण प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है। 'विज्ञानगीता' पर मुख्यतः कृष्ण मिश्र-रचित 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक तथा मुनि वसिष्ठकृत 'योगवाशिष्ठ' का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रबोधचन्द्रोदय

कामदेव का स्वरूप-वर्णन करते हुए प्रबोधचन्द्रोदयकार ने लिखा है, "रति ने अपनी पुलकित भुजाओं से आलिंगन करते हुए अपने सुगठित तथा पीवर कुचों के द्वारा जिसका वक्षस्थल पीड़ित किया है, वह श्रीमान नयनाभिराम मदपूर्ण नेत्र-कमलोंवाला कामदेव सम्मुख आ रहा है।"[1] इस भाव पर आधारित केशव का छन्द इस प्रकार है—

भूषण फूलनि के अँग अंग शरासन फूलन को अंग सोहै।
पंकज चारु विलोचन चूमत मोहमई मदिरा रुचि रोहै॥
बाहुलता रतिकंठ विराजत केशव रूप को रूपक जोहै।
सुन्दर श्याम स्वरूप सने जगमोहन ज्यों जग के मन मोहै॥[2]

इसी प्रसंग में जब रति काम से शत्रु की प्रबलता का संकेत करती है, तो 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का 'काम' जो उत्तर देता है,[3] वही केशव ने भी व्यक्त किया है।

केशव का 'काम' भी इसी भाव की अभिव्यक्ति कराता है—

सजौं फूल के हैं धनुर्बाण मेरे।
करौं शोधि के जीव संसार चेरे॥
गने को बलवीर वज्री विकारी।
भएवश्य शूली हली चक्रधारी॥[4]

---

१. उत्तुंग पीवर कुचद्वयपीडितांगमालिंगितः पुलकितेन भुजेनरत्या।
श्रीमान्जगन्ति मदमन्नयनाभिरामः कामो यमेति मदघूर्णितनेत्र पद्मः॥
—प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, श्लोक १०

२. विज्ञानगीता, द्वितीय प्रभाव, छन्द ४

३. अपि यदि विशिखाः शरासनं वा कुसुममयं ससुरासुरं तथापि।
मम जगदखिलं वरोरु नाज्ञाभिदमतिलंघ्य धृतिं मुहूर्तमेति॥
—प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, श्लोक १३

४. विज्ञानगीता, द्वितीय प्रभाव, छन्द ८

एक अन्य स्थल पर 'रति' को यह सुनकर महान आश्चर्य होता है कि शम, दम आदि का उत्पत्ति-स्थान भी वही है, जो उसके पति कामदेव का है। आश्चर्य होना भी स्वाभाविक ही था, क्योंकि 'कामपीड़ित' व्यक्ति का विवेक से क्या सम्बन्ध ![1]

केशव की 'रति' भी यही कहती है—

जौ कुल एकरु एक पिता ज्यों।
तो अति प्रीतम प्रेम निशायों॥
आपुस माँझ सहोदर साँचे।
क्यों तुम वीर विरोधति राँचे॥[2]

'दम्भ-अहंकार-सम्वाद' भी दोनों ग्रंथों में समान रूप से प्रस्तुत किया गया है।

'विज्ञानगीता' के सातवें प्रभाव में 'चार्वाक' एवं 'महामोह' के कथनोपकथन में भी पर्याप्त साम्य पाया जाता है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के शान्ति और श्रद्धा के वार्तालाप का प्रभाव भी केशव पर है।[3]

आगे चलकर 'शान्ति' 'श्रद्धा' के विषय में करुणा से बातचीत करती है।[4]

इसी प्रसंग के भाव-साम्य को केशव ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

मो बिना न अन्हाति जेंवति, करत नाहिन पान।
नेकु के बिछुरें भटू घट में न राखति प्रान।
चेतिका करुणा रचो सब छाँडि और उपाइ।
क्यों जियो जननी बिना मरिहूँ मिले जो आइ।[5]

इसी प्रकार 'विज्ञानगीता' के श्रावक, करुण, संतोष, श्रद्धा आदि के वार्तालापों

---

१. 'आर्यपुत्र ! यद्येवंतत्किं निमित्तं सोदराणामपि परस्परमेतादृशं वैरम्।'
—प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृ० २९

२. विज्ञानगीता द्वितीय प्रभाव, छन्द १५

३. मुक्तातंक कुरंग काननभुवः शैलाः स्खलद्वारयः।
पुण्यान्यायतनानि संततपोनिष्ठाश्च वैखानसाः॥
यस्यां प्रीतिरमीषु सात्र भवती चाण्डालवेश्मोदरं।
प्राप्ता गौः कपिलेव जीवति कथं पाषंडहस्तंगता॥
—प्रबोधचन्द्रोदय, तृतीय अंक, श्लोक १, तुलनीय विज्ञानगीता, अष्टम प्रभाव, छन्द ३

४. मामनालोक्य न स्नाति न भुक्ते न पिबत्यपः।
न मया रहिता श्रद्धा मुहूर्तमपि जीवति॥ —प्रबोधचन्द्रोदय, तृतीय अंक, श्लोक २
तथा—तद्विना श्रद्धया मुहूर्तमपि शान्तेर्जीवितं विडम्बनमेव। तत्सखि करुणे मदर्थं चितामारचय। यावदचिरमेव हुताशनप्रवेशेन तस्याः सहचरी भवामि।
—प्रबोधचन्द्रोदय, तृतीय अंक, पृष्ठ ९६

५. विज्ञानगीता, अष्टम प्रभाव, छन्द ४

का आधार भी 'प्रबाधचन्द्रोदय' ही है। उक्त नाटक के अन्तर्गत महामोह को परास्त होता हुआ देखकर मन एकसाथ शोकाकुल आर्तनाद कर उठता है।[1] केशव ने भी यही भाव व्यक्त किया है।[2]

उक्त कथन के अतिरिक्त सरस्वती और मन का कथोपकथन भी कवि-प्रवर केशव ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' से ही ग्रहण किया है। हम नाटक की उपनिषद् को शान्ति से वार्तालाप करते हुए देखते हैं।[3] यही भाव केशव ने निम्नलिखित छन्द से व्यक्त किया है—

निष्ठुर प्रीतम त्यों सखी, क्यों करिहों अवलोक।
इत युवती जो जिनि दयो, मोहि विरहभय शोक ॥[4]

यही नहीं 'शान्ति' और 'पुरुष' का वार्तालाप तथा 'पुरुष' एवं 'उपनिषद्' का सम्वाद दोनों प्रकरणों को ही 'प्रबोधचन्द्रोदय'[5] से लिया है।

उक्त कथन से प्रभावित होकर ही कवि केशव ने निम्नलिखित छन्द की रचना की है—

धरें एन चर्मस्सदा देह सोहें।
जहाँ अग्नि तीनों द्विजा तीनि मोहें ॥
चहूँ ओर यज्ञक्रिया सिद्धिधारी।
चले जात में वेद विद्या निहारी ॥[6]

'उपनिषद्' के समान ही राजा विवेक का कथन भी उक्त नाटक की ही देन है।

योगवासिष्ठ

सर्वप्रथम सृष्टि की उत्पत्तिवाले प्रकरण को ही लेते हैं। मुनि वसिष्ठ ने सृष्टि की उत्पत्ति किसी एक देव से नहीं मानी है। आपने ब्रह्मा, विष्णु, महेश और मुनीश्वरों

---

१. हा पुत्रकामः, क्व गताः स्थ दत्त मे प्रियदर्शनम्। भोः भोः कुमारकाः, रागद्वेषमदमात्सर्यादयः परिष्वजध्वं माम्। सीदन्ति ममांगानि हा कश्चिन्मां वृद्धमनाथं सम्भावयति।

—प्रबोधचन्द्रोदय, षष्ठ अंक, पृष्ठ १७९

२. विज्ञानगीता, त्रयोदश प्रभाव, छन्द ४

३. सखि, कथं तथा निरनुक्रोशस्य स्वामिनो मुखमालोकयिष्यामि। येनाहमितरजनयोषेव सुरचि-मेकाकिनी परित्यक्ता। —प्रबोधचन्द्रोदय, षष्ठ अंक, पृष्ठ २१०

४. विज्ञानगीता, सत्रहवां प्रभाव, छन्द ७

५. कृष्णाजिनाग्नि समिदाज्यजुहूस्र वादि,
पात्रैस्तथेष्टिपशुसोममुखैश्च ।
दृष्टा मया परिवृताखिलकर्मकाण्ड,
व्यादिष्ट पद्धतिरथाध्वनि यज्ञविद्या ।

—प्रबोधचन्द्रोदय, षष्ठ अंक, श्लोक १३

६. विज्ञानगीता, सत्रहवां प्रभाव, छन्द १६

में से प्रत्येक को ही उसका रचयिता बतलाया है।[1]

इसी भाव को केशवदास ने 'विज्ञानगीता' में प्रकट किया है।[2]

एक अन्य स्थल पर योगिराज वसिष्ठ ने जगत्‌रूपी वृक्ष की उत्पत्ति राम से मानते हुए संसार को बीज-रूप में प्रदर्शित किया है तथा शरीर की उत्पत्ति करानेवाला बीज, चित्र, माना है। आगे चलकर अपने इसी चित्र-रूपी अंकुर के दो भाग 'प्राणस्पन्द' और 'दृढ़ भावना' माने हैं।[3] आपका कथन है—

"हे रामजी, बारह जो इष्ट पदार्थ हैं, तिन विषै जिसकी दृढ़ भावना है, तृष्णा करिके सदा इच्छता रहता है, संसार के दृढ़ बन्धन करि सो बंध कहाता है, अरु जिसने निश्चय करि कै अन्तर ते संकल्प का त्याग किया है, अरु बाह्य सब व्यवहार करता है, सो पुरुष जीवन-मुक्त कहाता है।"[4]

उक्त भाव का ही साम्य हमें केशव की 'विज्ञानगीता' में इस प्रकार प्राप्त होता है—

युक्त शुभाशुभ अंकुरनि बीज सृष्टि को देहु।
भावाभाव सदानि में सुख-दुखदा इह गेहु॥
बीज देह को विदेह चित्तवृत्ति जानिए।
जाहि मध्य स्वप्न तुल्य सम्भ्रमादि मानिए॥
दोइ बीज चित्त के सुचित्त ह्वै सुनौ अबै।
एक प्राण स्पन्द है द्वितीय भावना सबै॥

× × ×

एक सु नाना रूप है, एक रूप है एक।
एक रूप संतत भजौ, तजिए रूप अनेक॥[5]

'योगवासिष्ठ' में जगत् के आदिकाल तथा 'भ्रमात्मक' जगत् से निवृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है, "व्यास के पुत्र शुकजी तिनके निकट आयकर कहते भये, हे भगवन! यह संसार सब भ्रमात्मक कहां ते भया है, बाकी निवृत्ति कैसे होयगी और आगे कोई को इसकी निवृत्ति भई है! सो कहो।"[6]

'विज्ञानगीता' के चौदहवें प्रभाव में भी 'मनु' के प्रश्न करने पर 'सरस्वती' शुकदेव की कथा के रूप में जगत् की उत्पत्ति आदि गम्भीर विषयों पर प्रकाश डालती है।[7]

---

१. योगवासिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण, सर्ग ४७, पृष्ठ ४८२
२. विज्ञानगीता, इक्कीसवां प्रभाव, छन्द ११, १२
३. योगवासिष्ठ भाषा, उपराम प्रकरण, पंचदश सर्ग, पृष्ठ ६७१
४. योगवासिष्ठ भाषा, उपराम प्रकरण, सत्रहवां सर्ग, पृष्ठ ६७५
५. विज्ञानगीता, बीसवां प्रभाव, छन्द २, ३, १०
६. योगवासिष्ठ भाषा, मुमुक्षु प्रकरण, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ६२
७. विज्ञानगीता, चौदहवां प्रभाव, छन्द २७

महर्षि व्यास के आदेशानुसार शुकदेवजी राजा जनक के पास जाते हैं और अपनी स्थिर चित्तवृत्ति का परिचय देकर विदेह जैसे राजर्षि को भी प्रभावित कर देते हैं। तदुपरांत राजा जनक शिष्टाचारोपरांत उनके आगमन का कारण पूछते हैं। यह प्रसंग 'योगवासिष्ठ' और 'विज्ञानगीता' में समान है।[१]

उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त बाल-वर्णन, यौवनकाल, शिखीध्वज-कथा, प्रह्लाद-कथा आदि अनेक प्रसंग-स्थल उपलब्ध हैं, जिनका आधार 'योगवासिष्ठ' ही है।

रसिकप्रिया एवं संस्कृत-ग्रंथों में भाव-साम्य

आचार्यत्व-सम्बन्धी अध्याय में हम भली भांति देख चुके हैं कि केशव का आचार्यत्व संस्कृत-साहित्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा को अपनी पृष्ठभूमि में लिए हुए है। रस एवं अलंकार दो क्षेत्रों में हमने देखा है कि आचार्य भरत से लेकर अपने युग तक परिनिष्ठित काव्यशास्त्र का केशव ने आंख खोलकर पूर्ण उपयोग किया है। भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुय्यक जैसे पुराने आचार्यों से लेकर विश्वनाथ और केशव मिश्र तक की परम्पराओं का केशव के ऊपर साहित्यिक ऋण है। यहां इस सब विवेचन की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। हमने उपर्युक्त अध्याय में रस एवं अलंकार का क्षेत्र ही चुना था। इसी प्रकार नायिका-भेद, छन्द आदि के क्षेत्रों में भी वे सीधे संस्कृत-आचार्यों से प्रभावित हुए हैं। यहां हम कुछ प्रमुख ग्रंथों से केशव के विचार-साम्य या भाव-साम्य के कुछ उदाहरण विशेषकर नायिका-भेद-क्षेत्र को सामने रखकर प्रस्तुत करना चाहते हैं। इससे हम देख सकेंगे कि केशव इस क्षेत्र से विशेषतया सम्बद्ध संस्कृत-साहित्य से भी किस प्रकार सीधे-सीधे प्रभावित हुए हैं।

साहित्यदर्पण

आचार्य विश्वनाथ ने सामान्य नायक के लिए त्याग, कुलीनत्व, तेज, उत्साह आदि जिन गुणों को आवश्यक माना है,[२] वे ही केशव ने भी निश्चित किए हैं।[३]

नायक-भेद-वर्णन भी उन्हींकी देन है अर्थात् दक्ष, शठ तथा धृष्ट आदि नायकों के जो लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने स्थिर किए हैं[४] वही केशवदासजी की 'रसिकप्रिया' में भी उपलब्ध हो जाते हैं।[५]

इसी प्रकार 'हाव' के अन्तर्गत 'ललित' का लक्षण निश्चित करते हुए आचार्य

---

१. योगवासिष्ठ भाषा, मुमुक्षु प्रकरण, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ६३, ६४
तथा विज्ञानगीता, चौदहवां प्रभाव, छन्द ३६, ३८-४०

२. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक ३५

३. रसिकप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द २०

४. साहित्यदर्पण, ३।४३

५. रसिकप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १४

विश्वनाथ कहते हैं—

"सुकुमारता के साथ अंगों का 'संचालन' ही 'ललित' हाव कहलाता है।"[१] केशवदासजी का ललित हाव-वर्णन भी इसी प्रकार है—

बोलनि हँसनि विलोकिबो, चलनि मनोहर रूप।
जैसें तैसें वरनियै, 'ललित हाव' अनुरूप ॥[२]

रसार्णवसुधाकर

सर्वप्रथम हमें 'अवस्थानुसार' नायिका-भेद में ही दोनों में साम्य के दर्शन होते हैं। निरूपण में भी दोनों में साम्य मिलता है।[३]

इसी प्रकार 'शठ' नायक का लक्षण आचार्य भूपाल ने इस प्रकार निश्चित किया है—गूढ़ अपराध करनेवाला नायक शठ कहलाता है।[४]

आचार्य केशव के लक्षण का भी यही भाव है—

मुंह मीठी बातें कहै निपट कपट जिय जानि।
जाहि न डरु अपराध को, सठ करि ताहि बखानि ॥[५]

एक अन्य स्थल पर आचार्य भूपाल ने वासकसज्जा की चेष्टाओं पर प्रकाश डालते हुए इस ओर भी संकेत किया है कि वह प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है। यथा—

अस्यास्तु चेष्टाः सम्पर्क मनोरथविचिन्तनम्।
सखी विनोदो हृल्लेखोमुहुर्दूती निरीक्षणम्।
प्रियाभिगमन मार्गोभिवीक्षाप्रभृतयोमताः ।[६]

केशव की 'वासकसज्जा' नायिका भी ऐसी ही है—

वासकसज्जा होइ सो कहि केशव सविलास।
चितवै रति गृहद्वार त्यों प्रिय आवनि की आस ॥[७]

अनंगरंग

आचार्य केशव-वर्णित नायिका-भेद का मुख्य आधार कल्याणमल्लकृत 'अनंगरंग' है। कल्याणमल्ल ने नायिकाओं का वर्गीकरण करते हुए उनके पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी

---

१. सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्।
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १२१

२. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द २४

३. उल्लंध्य समयं यस्याः प्रेयानन्योपभोगवान्।
भोगलक्षणांकितः प्रातरागच्छेत् सा हि खण्डिता। —रसार्णवसुधाकर, श्लोक १३०, पृ० ३२

४. शठोगूढापराधकृत्। —रसार्णवसुधाकर, कारिका ८१, पृ० ८८

५. रसिकप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द ११

६. रसार्णवसुधाकर, श्लोक १२७-१२८, पृ० ३१

७. रसिकप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द १०

तथा हस्तिनी आदि भेद किए हैं। चित्रिणी नायिका का लक्षण दोनों में समान है।[1]

इसी प्रकार 'दूती-वर्णन' के अन्तर्गत कल्याणमल्ल ने निम्नलिखित नामों का उल्लेख किया है—

मालाकार वधू सखीच विधवा धात्री नटी शिल्पनी।
सैरन्ध्री प्रतिगेहिकाश्च रजकी दासी च सम्बन्धिनी॥
बाला प्रव्रजिता च भिक्षुवनिता तक्रस्य विक्रेतिका।
मान्याकारुवधू विदग्धं पुरुषैः प्रेष्या इमा दूतिकाः॥[2]

आचार्य केशव ने दूती को सखी का नाम देकर उस कोटि में आनेवाली नारियों का वर्णन बड़े भाव-साम्य के साथ प्रस्तुत किया है—

धाइजनी, नाइन, नटी, प्रकट परोसिनि नारि।
मालिनि बरइनि सिल्पिनी, चुरिहेरिनी सुनार।
राम-जनी संन्यासिनी पटु पटुवा की बाल।
केशव नायक नायिका सखी करहिं सब काल॥[3]

कामसूत्र

केशव-विरचित 'रसिकप्रिया' पर वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' का प्रभाव भी न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा है। वात्सायन ने अगम्या का जो निरूपण किया है,[4] उसके आधार पर केशव ने निम्नलिखित छन्दों की रचना की है—

तजि तरुनी सम्बन्ध की, जानि मित्र द्विजराज।
राखि लेइ दुख भूख तें, ताकी तिय तें भाज।

---

१. तन्वंगी गजगामिनी चपलदृक् संगीतशिल्पान्विता।
नो ह्रस्वा न वृहत्तराथ सुकृशा मध्ये मयूरस्वना।
पीनश्रोणि पयोधरा सुललिते जंघे वहन्तीकृशे,
कामाम्भो मधु गन्ध्यथौष्ठमपि सातुच्छोन्नतवत्सला॥
कामागारमसान्द्रलोभसहितं मध्ये मृदुः प्रायशो,
विभ्रत्युल्लसितं च वर्त्तुलमथो रत्यम्बुनाढ्यं सदा।
भृंगीश्यामलकुन्तलाथ जलजग्रीवोपभोगे रता,
चित्राशक्तिमती रतेऽल्परुन्चिका ज्ञेयांगना चित्रिणी॥
—अनंगरंग, श्लोक १३-१४, पृ० ४; तुलनीय
रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ५-६

२. अनंगरंग, छन्द ५३

३. रसिकप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १-२

४. अगम्यास्त्वेवैताः कुष्ठिन्युन्मत्ता पतिताभिन्नरहस्यप्रकाश,
प्रार्थिनी गतप्राययौवना अतिश्वेतातिकृष्णा दुर्गन्धासम्बन्धिनी।
सखी प्रव्रजिता सम्बन्धि सखिश्रोत्रियराजदाराश्च।—कामसूत्र, कारिका ४३, पृ० ६७

अधिक वरन अरु अंग घटि, अन्त्यजजन की नारि।
तजि विधवा अरु पूजिता, रमियहु रसिक विचारि।[1]

इसी प्रकार कामसूत्रकार ने दूती-वर्णन में विधवा, दासी, भिखारिन तथा शिल्पिन आदि को दूतियों की कोटि में रखा है।[2] इसीसे प्रेरित होकर केशव ने भी—

धाइ जनी नाइन नटी।[3]

आदि को दूतियों में गिनाया है।

आचार्य केशव ने अन्य संस्कृत-ग्रन्थों से सामग्री जुटाने के साथ-साथ अनेक स्थलों पर अपनी मौलिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। सर्वप्रथम आचार्य केशव के 'मध्या-धीराधीरा' नायिका के लक्षण मौलिक हैं। उनका कथन है—

पियसों देइ उराहनो, सो धीरा न, अधीर॥[4]

इस लक्षण के उदाहरणार्थ आचार्य केशव ने यह छन्द प्रस्तुत किया है—

कान्ह भलें जु भलें समुझाइहों, मोह समुद्र को ज्यों उमह्यो हो।
केसव आपनो मानिक सो मन, हाथ पराएँ दे कौने लह्यो हो॥
नैननि ही मिलिवो करियै, अब बैननि को मिलिबो तो रह्यो हो।
जाइ कह्यो तुम जैसें सखीनि सों एहो गुपाल में ऐसे कह्यो हो॥[5]

इसी प्रकार आचार्य केशव का प्रथम मिलन-स्थान-वर्णन भी पूर्ण तथा मौलिक है।[6] केशव के इन स्थानों का वर्णन किसी भी संस्कृताचार्य की रचना में उपलब्ध नहीं होता।

सखीजन-कर्म-वर्णन भी केशव की मौलिक उद्भावना ही है। आचार्य केशव ने सखियों के निम्नलिखित कर्म निश्चित किए हैं—

सिक्षा, विनय, मनाइवो, मिलिवो करि सिंगार।
झुकि अरु देइ उराहनो यह तिनके व्योहार॥[7]

मनाना और उलाहना देना आदि कर्मों का उल्लेख भी किसी संस्कृताचार्य ने नहीं किया है। एक सखी द्वारा कृष्ण को मनाने का वर्णन मौलिक है।[8]

---

१. रसिकप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द ४३-४४
२. विधवेक्षणिका दासी भिक्षुकी शिल्पकारिका।
प्रविशत्याशु विश्वासं दूती कार्यं च विन्दति। —कामसूत्र, श्लोक ६२, पृ० २८०
३. रसिकप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १-२
४. रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४६
५. रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ४९
६. रसिकप्रिया, पंचम प्रभाव, छन्द २४-२५
७. रसिकप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द १
८. रसिकप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ८

कविप्रिया एवं संस्कृत-ग्रन्थों में भाव-साम्य

'कविप्रिया' में 'चन्द्रालोक', 'काव्यादर्श' तथा 'अलंकारसूत्र' से प्रभावित सामग्री का विवेचन हम आचार्यत्ववाले परिच्छेद में कर चुके हैं। यहां पर केवल 'वृत्तरत्नाकर', 'अलंकारशेखर', 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा 'नीतिशतक' आदि ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट करेंगे।[1]

वृत्तरत्नाकर

'कविप्रिया' के तीसरे प्रभाव में आपने 'दोष-वर्णन', 'गण-अगण' पर विचार व्यक्त किए हैं। आपने शुभ और अशुभ गणों का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

मगन नगन मनि भगन अरु यगन सदा सुभ जानि।
जगन रगन अरु सगन पुनि, तगनहि अशुभ बखानि॥
मगन त्रिगुरु जुत त्रिलघु भय, केशव नगन प्रमान।
मगन आदि गुरु आदि लघु यगनहि भनत सुजान॥
जगन मध्य गुरु जानियै, रगन मध्य लघु होइ।
सगन अंत गुरु अंत लघु तगन कहै सब कोइ॥[2]

इसीके आगे के दोहों में उन्होंने मगण, नगण, जगण आदि सभी गणों के लक्षण लघु और गुरु के अनुसार निर्दिष्ट किए हैं। उक्त वर्णन का आधार 'वृत्तरत्नाकर' नामक छन्दशास्त्र है, जिसमें गणों के देवता, मैत्री-फल तथा उनकी शत्रुता आदि पर पूर्ण प्रकाश डाला है।[3]

मही देवता मगन की नाग नगन को देखि।
जल जिय जानहु यगन को चन्द भगन को लेखि॥
मगन नगन को मित्र गन भगन यगन भनि दास।
उदासीन जन जानियै, रस रिपु केशवदास॥[4]

अलंकारशेखर

आचार्य केशव के आश्रम-वर्णन तथा कवि-रीति-वर्णन 'अलंकारशेखर' से

---

१. कविप्रिया, पांचवां प्रभाव, छंद १

२. कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १८, १९, २०

३. मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियंदिशति यो वृद्धिर्जलं चादिलो,
रोऽग्निर्मध्य लघुर्विनाशमनिलो देशाटनं सौन्त्यगः।
तौ व्योमान्त लघुर्धनापहरणं जोऽर्को रुजं मध्यगो,
मश्चन्द्रो यश उज्ज्वलं मुखगुरुर्नोनाकआयुस्त्रिलः।
मनौ मित्रे भयौ भृत्यावुदासीनौ व्रजतौ स्मृतौ।
रसावरी नीच संज्ञौ ज्ञेयावेतौ मनीषिभिः॥

—वृत्तरत्नाकर, पृष्ठ ३१

४. कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द २२, २४

अनुप्राणित प्रतीत होते हैं। कविवर केशव ने एक स्थल पर आश्रम-वर्णन के प्रसंग में हिंसक जीवों के सहज वैर, विनाश की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

होम-धूम-जुत बरनियै, ब्रह्म घोष मुनि वास।
सिंघादिक मृग मोर अहि, इभ सुभ वैर विनास॥[१]

इसी भाव की अभिव्यक्ति आचार्य केशव मिश्र बहुत समय पहले ही कर चुके थे—

आश्रमे तिथि पूजेण विश्वासो हिंस्रशान्तता।
यज्ञ धूमो मुनि सुताद्रुसेको वल्कलं द्रुमाः॥[२]

एक अन्य स्थल पर आचार्य केशव ने विरह-वर्णन में चिन्ता का उल्लेख किया है—

स्वास निसा चिन्ता बढ़ै, रुदन परेखै बात।
कारे पीरे होत कृस, तारे सीरे गात॥[३]

इसी भाव का इनके नाम-राशि केशव मिश्र ने व्यक्त किया था—

विरहे ताप निश्वासश्चिन्ता मौनं कृशांगता।
अब्जशय्या निशा दैर्घ्यं जागरः शिशिरोष्मता॥[४]

'राज्यश्री-वर्णन' भी दानों आचार्यों ने समान रूप में ही किया है। 'अलंकार-शेखर' के प्रणेता ने 'स्वयंवर' के प्रकरण में 'शचीरक्षा', 'मंच मण्डप', 'सज्जा' राजकुमारी तथा राजाओं के आकार का जैसा वर्णन किया है, उसीको आधार मानकर केशव ने भी छन्द-योजना की है। अलंकारशेखरकार का कथन है—

स्वयंवरे शचीरक्षा मंच मंडप सज्जना।
राजपुत्री नृपाकारान्वय चेष्टा प्रकाशनम्॥[५]

केशव ने भाव एवं भाषा के साम्य को प्रस्तुत करते हुए निम्न छन्द उद्धृत किया है—

सची स्वयंवर रक्षियै मंडल मंच बनाउ।
रूप पराक्रम वंसगुन वरनिय राजा राउ॥[६]

काव्यकल्पलतावृत्ति

आचार्य अमरचन्द्रकृत 'काव्यकल्पलतावृत्ति' नामक ग्रंथ से भी 'कविप्रिया'

---

१. कविप्रिया, सप्तम प्रभाव, छन्द १०
२. अलंकारशेखर, पृष्ठ ६०
३. कविप्रिया, आठवां प्रभाव, छन्द ३८
४. अलंकारशेखर, पृष्ठ ६०
५. अलंकारशेखर, पृष्ठ ५९
६. कविप्रिया, आठवां प्रभाव, छन्द ४४

पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। स्वयंवर-वर्णन में अमरचन्द्र ने निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है—

स्वयंवरे शचीरक्षा मंच मण्डप सज्जता।
राजपुत्री नृपाकारान्वय चेष्टा प्रकाशनम्॥[1]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि 'अलंकारशेखर' और आचार्य अमरचन्द्र के वर्णन में केवल 'सज्जना' तथा 'सज्जता' का ही अन्तर है, शेष सम्पूर्ण श्लोक समान है। आचार्य-प्रवर उक्त दोनों ही आचार्यों से प्रभावित थे।

सूर्योदय-वर्णन आचार्य केशव ने उक्त दोनों ग्रंथों के आधार पर किया प्रतीत होता है। आचार्य अमरचन्द्र ने सूर्योदय-वर्णन के अन्तर्गत 'अरुणता', 'रविमणि', 'कमल', 'पथिक' तथा 'तारावली' आदि का उल्लेख करना आवश्यक माना है—

सूर्येऽरुणता रविमणि चक्राम्बुज पथिक लोचन प्रीतिः।
तारेन्दुदीपकोषधिधूकतमश्चौरकुमुदकुलटार्तिः ॥[2]

आचार्य केशव ने भी उपर्युक्त बातों का ध्यान पूर्णरूपेण रखा है—

सूर-उदय तें अरुनता, पय-पावनता होइ।
संख वेदधुनि मुनि करें पंथ लगै सब कोइ॥
कोक, कोकनद सोकहत, दुख कुवलय कुलटानि।
तारा ओषधि दीप ससि, धूक चौर तम हानि॥[3]

इसी प्रकार देश-वर्णन भी दोनों का एक-सा ही है। आचार्य अमर ने देश-वर्णन के अन्तर्गत रत्न, खानि, पण्य, धान्य, दुर्ग तथा ग्राम आदि का उल्लेख किया है।[4]

आचार्य केशव ने भी उक्त वस्तुओं का वर्णन उसी रूप में किया है।[5]

स्थिर वस्तुओं के वर्णन में आचार्य अमर ने पृथ्वी, शैल, धर्म तथा अधर्म आदि का उल्लेख करते हुए लिखा है।[6] आचार्य केशव ने भी लगभग उक्त वस्तुओं का ही वर्णन किया है।[7]

काव्यकल्पलतावृत्तिकार ने सत्य का झूठे रूप में वर्णन किया है।[8]

---

१. काव्यकल्पलतावृत्ति, श्लोक ८४, पृ० २६
२. काव्यकल्पलतावृत्ति, सूर्योदय-वर्णन
३. कविप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द २२-२३
४. देशे बहु खनि द्रव्य पण्य धान्य करोद्भवाः।
दुर्ग ग्राम जनाधिक्य नदी मातृकतादयः॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति, श्लोक ६२, पृ० २५
५. कविप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द २
६. स्थिराणि पृथिवी शैलौ धर्माधर्मौ सतां मनः। सती शैलं रणे धीरः प्रतिपन्नं महात्मनाम्॥
—काव्यकल्पलतावृत्ति, प्रतान ४, स्तवक ४, पृ० १४०
७. कविप्रिया, छठा प्रभाव, छन्द २३
८. वसन्ते मालती पुष्पं फलं पुष्पं च चन्दने। अशोके च फलं ज्योत्स्ना ध्वान्ते कृष्णाज्यपक्षयोः।
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृष्ठ १७

केशव ने भी उक्त आचार्य से अनुप्राणित होकर निम्नलिखित छन्द की रचना की है—

केसवदास प्रकास सब, चन्दन के फल-फूल।
कृस्नपक्ष की जोन्ह ज्यों सुक्लपक्ष तम तूल॥[1]

उक्त उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि आचार्य केशव 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' से भली भांति प्रभावित थे।

नीतिशतक

केशव की महत्त्वपूर्ण रचना 'कविप्रिया' भर्तृहरि के 'नीतिशतक' से भी अनुप्राणित हुई है।

भर्तृहरि ने पुरुषों की विभिन्न कोटियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "सत्पुरुष स्वार्थ को त्यागकर परार्थ में रत रहते हैं। सामान्य पुरुष स्वार्थ का विरोध तो नहीं करते, किन्तु परार्थ से भी जी नहीं चुराते। जो पुरुष स्वार्थ-सिद्धि के कारण परहित-हानि करते हैं, उन्हें हम नर-पिशाच के नाम से पुकार सकते हैं, किन्तु जिनकी न तो स्वार्थ-सिद्धि ही होती है और न परमार्थ की ही प्राप्ति होती है, फिर भी दूसरों के अहित की ही बात सोचते रहते हैं, उन्हें मैं किस कोटि में रखूं, यह नहीं जान पाया।"[2]

आचार्य केशव ने भी यही वर्णन किया है—

हैं अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहैं।
केशवदास अनुत्तम ते नर संतत स्वारथ संजुत जो हैं।
स्वारथ हू परमारथ भोग न मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
भारत पारथ मीत कह्यो, परमारथ स्वारथ हीन ते को हैं॥[3]

केशव और उनके पूर्ववर्ती एवं समकालीन हिन्दी-कवि

जहां केशव एक ओर संस्कृताचार्यों से प्रभावित हुए हैं वहां दूसरी ओर पूर्ववर्ती एवं समकालीन हिन्दी-कवियों का प्रभाव भी इनकी रचनाओं पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा है। जायसी, तुलसी और सूर की रचनाओं से अनुप्राणित होकर आचार्य केशव ने ग्रंथ-प्रणयन में जो प्रेरणा प्राप्त की है, इसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

जायसी एवं केशव

जायसी के संवाद-लेखन की शैली से प्रत्युत्पन्नमति केशव पर्याप्त मात्रा में प्रभा-

---

१. कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द ५

२. ये ते सत् पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानव राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये ते घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥
—भर्तृहरि नीतिशतक, श्लोक ७४, पृ० १०१

३. कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द ३

वित हुए हैं। आपने राजदरबारों में ससम्मान जीवन व्यतीत कर जिस संवाद-लेखन-शैली के द्वारा कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है, वह जायसी से बहुत कुछ अनुप्राणित है। केशव-विरचित 'रामचन्द्रिका', 'विज्ञानगीता' तथा 'वीरसिंहदेवचरित' आदि ग्रंथों का प्रणयन उक्त संवाद-शैली के आधार पर ही हुआ है। जायसी ने जिस प्रकार 'पद्मावत' महाकाव्य के अतिरिक्त 'आखिरी कलाम' एवं 'अखरावट' नामक दार्शनिक ग्रंथों का प्रणयन किया, उसी प्रकार महाकवि केशव ने 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य के अतिरिक्त 'विज्ञानगीता' जैसे दार्शनिक ग्रंथ का सर्जन किया है।

तुलसी एवं केशव

केशव जायसी की अपेक्षा तुलसी से अधिक प्रभावित थे। 'रामचन्द्रिका' पर 'रामचरितमानस' का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। शैली में कुछ अन्तर हो, यह दूसरी बात है। राम-भावना की जो पुनीत धारा गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रवाहित की है उसको कवि-वर केशव ने रामचन्द्रिका में अक्षुण्ण रूप में प्रस्तुत किया है। राम-महिमा, राम-परशुराम-संवाद, नारी-निन्दा आदि प्रसंगों पर तुलसी की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

तुलसी की अहल्या-उद्धार की कथा[1] को केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' के पंचम प्रकाश में इस प्रकार व्यक्त किया है—

वनराम सिला दरसी जबहीं, तिय सुन्दर रूप भई तबहीं।
पूछी विस्वामित्र सों, रामचन्द्र अकुलाइ।
पाहन तें तिय क्यों भई, कहिये मोहिं समझाइ।।[2]

राम की शंका का समाधान करते हुए विश्वामित्रजी कहते हैं—

गौतम की यह नारि इन्द्र दोष दुर्गति गई।
देखि तुम्हें नरकारि परम पतितपावन भई।।[3]

आगे तुलसी की अहल्या भगवान राम के दर्शन पाकर अति प्रफुल्लित हो उठती है। उनके प्रति आभार प्रकट करती हुई एक अन्य वरदान मांगती है—

मुनि साप जु दीन्हा अतिभल कीन्हा, परम अनुग्रह मैं माना।
देखउ भरि लोचन हरि भव मोचन यह लाभ संकर जाना।।
विनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न वर माँगो आना।
पद पद्म परागा रस अनुरागा, मम मन मधुप करै पाना।।[4]

तुलसी की अहल्या की ही भांति केशव की अहल्या भगवान के सम्मुख गद्गद-वाणी हो विनय करती है।[5]

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ १७९, नवलकिशोर प्रेस, नवम संस्करण
२. रामचन्द्रिका, पंचम प्रकाश, छन्द ३-४
३. रामचन्द्रिका, पंचम प्रकाश, छन्द ५
४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ १७९
५. रामचन्द्रिका, पांचवां प्रकाश, छन्द ६

इसके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' की समाप्ति पर लिखा है कि "जो व्यक्ति रघुवंशमणि भगवान राम के चरित का गुणानुवाद करेंगे, वे कलियुग की कालिमा से मुक्त होकर अनायास ही मोक्ष प्राप्त करेंगे।"[१]

इसी शैली से प्रभावित होकर कवि-प्रवर केशवदासजी ने अपनी प्रमुख रचना रामचन्द्रिका में लिखा है—

लहै सुभक्ति लोक लोक अन्त मुक्ति होहि ताहि।
कहै सुनै पढ़ै गुनै जु रामचन्द्र चन्द्रिकाहि।।[२]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि-प्रवर केशव तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुए हैं।

सूर एवं केशव

जहां केशव ने एक ओर राम-भक्ति शाखा के मूर्धन्य कवि तुलसी से प्रेरणा प्राप्त की है, वहां दूसरी ओर कृष्ण-भक्ति शाखा के मूर्धन्य कवि एवं शिरोमणि सूरदासजी से भी वे अनुप्राणित हैं। सूर के प्रभात-वर्णन में जो वैचित्र्य मिलता है वह उनके पाण्डित्य का दर्शन कराता है—

उगत अरुण विगत सर्वरी ससाँक किरन।
हीय दीय दीपक मलीन दीन द्युति समूह तारे।।[३]

केशवदासजी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

तरनि किरनि उदित भई दीप जोति मलिन गई।
सदय हृदय बोध-उदय ज्यों कुबुद्धि नासै।
चक्रवाक निकट गई, चकई मन मुदित भई।
जैसे निज जोति पाइ जीव जोति भासै।।[४]

सूर के उद्धव-गोपी-संवाद का प्रभाव भी केशव पर परिलक्षित होता है। सूर की गोपी उद्धवजी से कहती है कि "हे उद्धव ! हमारा मन हमारे साथ नहीं है क्योंकि कृष्ण जब मथुरा को गए थे उस समय रथ पर चढ़ाकर साथ ही ले गये थे।"[५] केशव ने भी इसी प्रकार 'कविप्रिया' में लिखा है—

राधा राधारमन के मन पठयो है साथ,
ऊधव तुम ह्यां कौन सों कही जोग की गाथ।।[६]

---

१. रघुवंश भूषण चरित यह नर कहहि सुनहिं जे गावही।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावही।।
—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० १०५१

२. रामचन्द्रिका, उन्तालीसवां प्रकाश, छन्द ३९

३. सूरसागर, प्रभात-वर्णन

४. रामचन्द्रिका, तीसवां प्रकाश, छन्द १९

५. ऊधौ मन नाहिं साथ हमारे, रथ चढ़ाइ हरि संग ले गए मथुरा जबहिं सिधारे।।-
—भ्रमरगीतसार, पद संख्या १३०

६. कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द ३०

इसी प्रकार शतरंज-ज्ञान, नायिका-भेद, अलंकार-निरूपण आदि वर्ण्य विषयों का ज्ञान भी भक्त सूरदासजी की देन है। रूपकातिशयोक्ति जैसे अलंकारों में भी केशव ने सूर की ही उपमा-परम्पराओं का निर्वाह करके उनमे प्रभावित होने का परिचय दिया है।

प्रदान

केशव तथा भूषण

केशव ने अपनी रचनाओं द्वारा परवर्ती हिन्दी-आचार्यों एवं कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया। भूषण, मतिराम, भिखारीदास, देव, पद्माकर आदि की कृतियां केशवदास से पूर्णरूपेण प्रभावित हैं। कविवर भूषण (१६७०-१७१२) के 'शिवराज भूषण' से पता चलता है कि उनके द्वारा निर्णीत अनेक अलंकारों के लक्षण आचार्य केशव की ही देन हैं। उदाहरण के लिए भूषण के अर्थान्तरन्यास को ही लेते हैं।

कह्यौ अरथ जहँ ही लियो और अरथ उल्लेख।
सो अर्थान्तरन्यास है, कहि सामान्य विशेष॥[1]

इस लक्षण का आधार आचार्य केशव का निम्नलिखित छन्द है—

और आनिये अर्थ जहँ औरे वस्तु बखानि।
अर्थान्तर को न्यास यह चार प्रकार सु जानि॥[2]

'भूषण' के विषाद का आधार भी केशव का परिवृत्त ही है, जिसका लक्षण केशव इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

और कछू कीजै जहाँ उपजि परे कछु और।
तासों परिवृत कहत हों केशव कवि सिरमौर॥[3]

उक्त लक्षण को भूषण ने निम्नलिखित छन्द में इस प्रकार व्यक्त किया है—

जहँ चितचाहे काज ते उपजत काज विरुद्ध।
ताहि विषादन कहत है, भूषण बुद्धि विशुद्ध॥[4]

'विशेष' अलंकार के लक्षणस्वरूप आचार्य केशव निम्नांकित छन्द को प्रस्तुत करते हैं—

साधन कारन विकल जहँ, होय साध्य की सिद्धि।
केशवदास बखानियै सो विशेष परसिद्धि॥[5]

क्या उक्त लक्षण को ही भूषण ने 'द्वितीय विभावना' की संज्ञा नहीं प्रदान की है? इस कथन की पूर्ण पुष्टि निम्नांकित छन्द से हो जाती है—

---

१. शिवराज भूषण, छन्द २६३, पृ० ८५
२. कविप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द ६५
३. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ३६
४. शिवराज भूषण, छन्द २१५, पृ० ७०
५. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द २४

जहाँ हेतु पूरन नहीं उपजत है परकाज।[1]

उपरिनिर्दिष्ट दोनों ग्रन्थों में प्राप्त साम्य के उदाहरणों के आधार पर स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने तो यहां तक कहा है कि--

'हमारा ऐसा अनुमान है कि जैसे 'बिहारी-सतसई' के अनुकरण में अनेक कवियों ने सतसैया लिखी हैं, वैसे ही केशव-रचित 'रतनबावनी' के अनुकरण में भूषण ने 'शिवा बावनी' लिखी है।"[2]

केशव तथा जसवन्तसिंह

'भाषा-भूषण' के प्रणेता जसवन्तसिंह (सं० १६८२-१७३८) के पर्यायोक्ति आदि अनेक अलंकारों के लक्षण केशव-निर्णीत लक्षणों से पूर्ण साम्य रखते हैं। आचार्य केशव की पर्यायोक्ति का लक्षण निम्न प्रकार से है—

कौनहु एक अदृष्ट तें अनही किये जु होइ।
सिद्धि आपने इष्ट की, पर्यायोकति सोइ॥[3]

उक्त छन्द के आधार पर ही आचार्य जसवन्तसिंह ने लिखा है—

जतन बिनु वांछित फल जो होइ।[4]

इसी प्रकार 'विषाद' के लक्षण में भी दोनों आचार्य बहुत बड़ा साम्य रखते हैं। आचार्य केशव का कथन है—

और कछू कीजै जहाँ उपजि परै कछु और।[5]

जसवन्तसिंह ने भी यही लक्षण दिया है—

सो विषाद चित चाहते उलटो कछु ह्वै जात।[6]

यदि अन्तर है तो केवल नाम-निर्धारण का। अर्थात् आचार्य केशव का जो 'परिवृत्त' है वही जसवन्तसिंह का 'विषाद' है।

उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त निदर्शना, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, रूपक और उपमा आदि अलंकारों के वर्णन-साम्य केशवदास से प्रभावित होने का भली भांति परिचय देते हैं। 'भाषा-भूषण' में वर्णित १०८ अलंकारों में से अधिकांश लक्षण केशव की 'कविप्रिया' की छाया लिए हुए हैं।

केशवदास तथा भिखारीदास

हिन्दी काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य भिखारीदास (सं० १६६०-१८०७)[7]

---

१. शिवराज भूषण, छन्द १८७
२. केशव-पंचरत्न, आकाशिका, ला० भगवानदीन, पृ० १२
३. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द २६
४. भाषा-भूषण, छन्द १६०, पृ० ३२
५. कविप्रिया, तेरहवां प्रभाव, छन्द ३६
६. भाषा-भूषण, छन्द १६३, पृ० ३२
७. आचार्य भिखारीदास, डॉ० नारायणदास खन्ना, पृ० २६

भी केशवदासजी से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। स्वभावोक्ति लक्षण-निरूपण दोनों में समान है।[1]

इसी प्रकार 'विशेषोक्ति' अलंकार के लक्षण भी दोनों में समान हैं। आचार्य केशव की 'विशेषाक्ति' का लक्षण है—

विद्यमान कारन सकल कारज होहिं न सिद्ध।
सोई उक्ति विशेषमय केशव परम प्रसिद्ध॥[2]

भिखारीदासजी ने भी इसी भाव की अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है—

हेतु घनेहु काज नहिं विशेषोक्ति न सन्देह।[3]

यही नहीं, 'उपमा' के उदाहरणों में भी पूर्ण साम्य दृष्टिगत होता है।[4]

निदर्शना, व्यतिरेक, रूपक तथा आक्षेप आदि अलंकारों में भी भिखारीदासजी आचार्य केशव से प्रभावित हुए हैं।

केशव तथा मतिराम

मतिराम भी आचार्य केशव से पूर्णतः प्रभावित थे। 'रसराज', 'साहित्यसार' तथा 'छंदसार' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के प्रणेता आचार्य मतिराम ने 'ललित ललाम' नामक अलंकार-ग्रंथ की रचना कर हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है उसका बहुत कुछ श्रेय आचार्य केशवदास को ही है। इस रसराज के अनेक लक्षण 'रसिकप्रिया' के आधार पर निर्धारित किए गए हैं। यथा स्वकीया के भेद, मुग्धा, प्रौढ़ा आदि का जो स्वरूप हमें आचार्य केशव की रचना में मिलता है, उसीकी स्पष्ट झांकी मतिराम के 'रसराज' में परिलक्षित हो जाती है। मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा और अधीरा-धीरा उपभेदों का वर्णन भी दोनों आचार्यों ने एक जैसा किया है। इसी प्रकार नायिकाओं के उत्तमा, मध्यमा और अधमा आदि भेद भी दोनों को ही मान्य हैं। मानव के तीनों—लघु, मध्यम और गुरु—भेदों का वर्णन भी दोनों आचार्यों की रचनाओं में समान रूप से ही उपलब्ध होता है। इसी प्रकार वियोग की जिन दस दशाओं का वर्णन आचार्य केशव ने किया है, उनमें से केवल 'मरण' को छोड़कर शेष सभी केशव और मतिराम में समान रूप से उपलब्ध होती हैं।

केशव तथा देव

अन्य आचार्यों की भांति देव (सं० १७३०-१८२५) भी आचार्य केशव से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुए हैं। सर्वप्रथम हम आचार्य केशव के 'प्रवास' पर ही विचार करते हैं—

---

१. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द ८; तुलनीय काव्यनिर्णय, छन्द ४, पृष्ठ १७१
२. कविप्रिया, बारहवां प्रभाव, छन्द १४
३. काव्यनिर्णय, छन्द ३४, पृ० १३५
४. कविप्रिया, चौदहवां प्रभाव, छन्द १; तुलनीय काव्यनिर्णय, पृष्ठ २३

केशव कौनहु काज तें, प्रिय परदेसहिं जाइ।
तासों कहत 'प्रवास' सब कवि कोविद समुझाइ॥[1]

देव ने भी उक्त भाव को ही अपनी रचना में इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रीतम काहू काज दै अवधि गयो परदेस।
सो प्रवास जहँ दुहुन कौ कष्टक हैं विवुधेस॥[2]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर केशव ने 'उत्का' नायिका का लक्षण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—

कौनहुँ हेत न आइयो, प्रीतम जाके धाम।
ताकों सोचति सोच हिय केसव उत्का नाम॥[3]

'देव' ने भी यही भाव व्यक्त किया है—

पति के गृह आए बिना सोच बढ़ै जिय जाहि।
हेतु विचारे चित्त में उत्कण्ठा कहु ताहि॥[4]

स्पष्ट है कि 'उत्का' के स्थान पर 'उत्कण्ठा' कहकर देव ने आचार्य केशव का ही अनुकरण किया है। यही नहीं, देव ने 'लीला' नामक 'हाव' का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जहां नायिका प्रीतिपूर्वक नायक के साथ हास-परिहास करे तथा बड़े कौतूहल के साथ उसीके वेश को धारण कर एक अद्भुत एवं चित्ताकर्षक दृश्य उपस्थित करे, वहां लीला हाव होता है।[5] आचार्य केशव इसे पहले ही व्यक्त कर चुके थे।[6]

'देव' का केवल आचार्यत्व-पक्ष नहीं, अपितु कवित्व-पक्ष भी केशवदासजी से प्रभावित हुआ है। कहीं-कहीं तो देव ने केशव के भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है कि कोई अन्तर ही प्रतीत नहीं होता। एक स्थल पर कवि केशव लिखते हैं—

नैनन के तारनि में राखौ प्यारे पूतरी के,
मुरली ज्यों लाइ राखो दसन-बसन मे।
राखौ भुज बीच बनमाली बनमाला करि।
चन्दन ज्यों चतुर चढ़ाइ राखौ तन में॥
केसोराइ कलकंठ राखौ बलि कठुला के,
करम करम क्योंहू आनी हैं भवन में॥

---

१. रसिकप्रिया, एकादश प्रभाव, छन्द ७
२. भावविलास, छन्द ७१, पृ० ६२
३. रसिकप्रिया, सातवां प्रभाव, छन्द ७
४. भावविलास, छन्द ७, पृ० ६४
५. कौतुक ते पिय की करै, भूषन भेष उन्हारि।
प्रीतम सो परिहास जहँ, लीला लेउ विचारि॥ —भावविलास, छन्द २१, पृष्ठ ४७
६. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द २१

चंपककली ज्यों कान्ह सूँघि सूँघि देवता ज्यों।
लेहु मेरे लाल ! इन्हें मोलि राखौ मन में।।[1]

देव ने भी उक्त छन्द से प्रभावित होकर निम्नलिखित सवैये की रचना की है—

लेहु लला उठिलाई हौं बालहि, लोक की लाजहिं सो लरि राखौ।
फेरि इन्हें सपनेहु न पैयत लै अपने उर में धरि राखौ।।
देव लला अबला नवला यह चन्दकला कठुला कवि राखौ।
आठौ सिद्धि नवौ निधि लै घर बाहर भीतर हू भरि राखौ।।[2]

केशव की विरहिणी नायिका का चित्र देखिए—

अँखियानि मिली सखियानि मिली पतियाँ बतियानि मिली तजि मौनें।
ध्यान-विधान मिली मनहीं मन ज्यों मिलै रंक मनो मन सौनें।।
केसव कैसेहुं वेगि चलौ नतु ह्वैहै वहै हरि जो कछु हौनें।
पूरन प्रेम-समाधि लगे मिलि जैहें तुम्हें मिलिहौं तब कौनें।।[3]

देव ने अपनी दूती के मुख से यही भाव व्यक्त कराया है—

पूछत हौं पछिताने कहा फिर पीछे ते पावह ही को मिलोगे।
काल की हाल में बूड़ति बाल विलोकि हलाहल ही को हिलोगे।।
लीजिए ज्याय सुधा मधु प्याय कि न्याय नहीं विष गोली निलोगे।
पंचनि पंच मिले परपंच में वाहि मिले तुम काहि मिलोगे।।[4]

केशव तथा पद्माकर

पद्माकर (सं० १८१०–१८६० वि०) भी आचार्य केशव से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। 'जगद्विनोद' में प्राप्त भाव-साम्य के उदाहरणों के लिए केशव के 'किल-किंचित' हाव को ही ले लीजिए—

श्रम अभिलाष सगर्व स्मित, क्रोध हर्ष भय भाव।
उपजत एकहि वार जहँ, तहँ किलकिंचित हाव।।[5]

'पद्माकर' ने उक्त छन्द से ही प्रभावित होकर अपने किलकिंचित का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—

होत जहाँ इक बारही, त्रास हास रस शेष।
तासों किलकिंचित कहत हाव सबै निर्दोष।।[6]

---

१. रसिकप्रिया, पांचवां प्रभाव, छन्द २७
२. भावविलास, छन्द १०, पृ० ९६
३. रसिकप्रिया, आठवां प्रभाव, छन्द ५०
४. भावविलास, पृ० ९७
५. रसिकप्रिया, छठवां प्रभाव, छन्द ३९
६. जगद्विनोद, छन्द ४४१, पृष्ठ ८४

एक अन्य स्थल पर आचार्य केशव ने अनुकूल नायक का जो लक्षण दिया है[1] वही पद्माकर ने दिया है—

जो परवनिता ते विमुख सोऽनुकूल सुखदानि ।।[2]

स्वकीया का लक्षण दोनों ही आचार्यों ने समान रूप से प्रस्तुत किया है। आचार्य केशव का कथन है—

सम्पति विपति जो मरत हू, सदा एक अनुहारि।
ताहि स्वकीया जानियै मन-क्रम-वचन विचारि ।।[3]

पद्माकर के लक्षण का भी यही भाव है—

निज पति हीके प्रेम मय, जाको मन वचन काय।
कहत स्वकीया ताहि सों, लज्जा शील स्वभाव ।।[4]

केशव तथा रीतिकाल के अन्य कवि

उक्त रीतिकालीन आचार्यों के अतिरिक्त हम शृंगारी कवि बिहारी (सं० १६६०-१७२०) को भी उनसे प्रभावित ही देखते हैं। बिहारी के अनेक छन्दों में केशव के भाव स्पष्टरूपेण परिलक्षित होते हैं। उदाहरणस्वरूप हम निम्न छन्द को ले सकते हैं—

बिन गुन तेरी आन भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाक्ष वान यह अचरज आहि।
एते मान दीठ मेरे को अदीठ मन,
पीठ दै दै मारती पै चुकती न कोऊ ताहि ।।[5]

उक्त छन्द को पढ़ते ही कविवर बिहारी का ध्यान 'भृकुटि-कमान' की ओर आकृष्ट हुआ जिसे आपने निम्नलिखित छन्द में भौंह-कमान कहकर व्यक्त किया है—

तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिय भौंह-कमान।
चलचित वेधें चुकति नहि, वंक विलोकनि वान ।।[6]

न केवल बिहारी ही अपितु अन्य कविगण, कुलपति मिश्र, दूलह, लछिराम, मुरारिदान तथा जगन्नाथप्रसाद 'भानु' आदि आचार्य भी केशव से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए केशव ने अलंकारों को प्राधान्य देते हुए "भूषण बिनु न विराजही, कविता बनिता मित्त" के द्वारा जिस भाव को व्यक्त किया

---

१. रसिकप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द ३
२. जगद्विनोद, छन्द १८६, पृष्ठ ५६
३. रसिकप्रिया, तृतीय प्रभाव, छन्द १५
४. जगद्विनोद, छन्द १७, पृष्ठ ४
५. कविप्रिया, नवम प्रभाव, छन्द २८
६. बिहारी-सतसई, दोहा ७६

है उसीकी पुष्टि 'सो उपमा सिरमौर' के रूप में आचार्य कुलपति मिश्र ने की है। आचार्य केशव का ही समर्थन दूलह के निम्नलिखित दोहे से होता है—

चरन बरन लच्छन ललित, रुचि रीझै करतार।
विन भूषण नहिं भूषई, कबिता बनिता चार॥[1]

आचार्य लछिराम ने भी अलंकारों को कविता वनिता के लिए अत्यावश्यक माना है। आपका कथन है—

भूषनवत् अर्थ में अलंकार अनुमान।[2]

श्री मुरारिदानिजी ने भी अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—

वेदव्यास भगवान ने परतछ कह्यो पुकारि।
कवि बानी भूषन बिना जैसी विधवा नारि॥[3]

इसी प्रकार जगन्नाथप्रसाद भानु पर भी अलंकार-क्षेत्र में आचार्य केशव का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। आपने निस्संकोच स्वीकार किया है कि "अलंकार काव्य का हृदय है, क्योंकि उसका आभास हृदय में ही होता है।" एक अन्य स्थल पर अलंकारहीन काव्य को नग्न बतलाते हुए आपने केशव से प्रभावित होने का परिचय दिया है।

केशव तथा आधुनिक कवि

हमारा तो विश्वास है कि केशव का प्रभाव रीतिकाल पर ही नहीं अपितु आधुनिक-काल के प्रमुख कवियों पर भी न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा है। आधुनिक महाकाव्यकार तुलसी की अपेक्षा केशव के अधिक समीप प्रतीत होते हैं। इस काल के प्रमुख महाकाव्य हैं 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी'। इन महाकाव्यों से स्पष्ट है कि ये रचनाएं तुलसी की इतिवृत्तात्मक शैली पर नहीं हुई हैं। इन महा-काव्यों में 'आगे चले बहुरि रघुराई' की भांति 'रामकथा' नहीं कही गई। कथावस्तु के मार्मिक स्थलों का कवि-प्रतिभा संचयन करती है तथा उनका भावात्मक एवं कलात्मक चित्रण करती है। 'कामायनी' हिन्दी-साहित्य का एक नूतन प्रयोग है। उसकी अभिव्यक्ति में सूक्ष्मता और कला में व्यंजकता है, परन्तु कथावस्तु का चयन उसका भी इसी शैली पर हुआ है। 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' में तो प्रबन्धात्मक सूत्रों की स्पष्ट ही अवहेलना की गई है। इन काव्यों में तो कथावस्तु के महत्त्वपूर्ण स्थलों के योजना-क्रम में भी व्यवस्था अनिवार्य नहीं मानी गई।

दूसरी बात छन्द-योजना की है। इन तीनों महाकाव्यों में छन्द-योजना की एक-रूपता को शुष्क समझकर ही आधुनिक भावुक कवियों ने छोड़ दिया है। तीसरी बात अलंकार-योजना के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अलंकार-योजना की दृष्टि से हरि-औधजी में अलंकारों का पर्याप्त आग्रह दिखाई देता है। गुप्तजी का मन भी उनके

---

१. कविकुलकण्ठाभरण, द्वारा दूलह
२. रामचंद्र भूषण, द्वारा लछिराम
३. जसवंत जसोभूषण, द्वारा मुरारिदान

अलंकार-चमत्कार से अभिमत नहीं है, ऐसा कोई पाठक नहीं कह सकता। 'कामायनी' का यदि कोई अलंकारों की दृष्टि से ही अध्ययन करे तो उसमें अलंकार पग-पग पर मिलेंगे, किन्तु उसकी रचना जिस दृष्टि से हुई है, उसी दृष्टिकोण से आज उसकी आलोचना की जाती है। अतः 'कामायनी' की आलोचना में उसकी शैली की आलंकारिकता की अपेक्षा उसकी लाक्षणिक व्यंजकता पर दृष्टि रहती है।

चौथे, महाकाव्यों में केशव ने संवाद-योजना की दृष्टि से नाटकीय शैली का बड़ा सुन्दर एवं सफल प्रयोग किया था। यह शैली उस युग में भी प्रभावोत्पादक समझी गई और आज भी। 'साकेत' में तो इस शैली को पग-पग पर अपनाया गया है और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साकेतकार को इस प्रयोग में बहुत कुछ सफलता मिलने पर भी केशव के समान सफलता नहीं मिली। इसी प्रकार जगन्नाथदास 'रत्नाकर'-कृत 'उद्धवशतक' भी कला-पक्ष की दृष्टि से कविवर केशव से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

कुछ भी हो, आधुनिक महाकाव्य इस बात के साक्षी हैं कि कथावस्तु की योजना की दृष्टि से, छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से, आलंकारिक चमत्कार की दृष्टि से तथा संवाद-योजना की नाटकीय शैली की दृष्टि से सभी केशव से प्रभावित हैं। महाकाव्य के रचयिताओं के अतिरिक्त आधुनिक काव्यशास्त्रियों पर भी केशव का प्रभाव परिलक्षित होता है। आधुनिक काव्यशास्त्रियों में स्व० कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, श्री अर्जुनदास केडिया, श्री रामदहिन मिश्र, डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन सबका दृष्टिकोण विशेषतः विवेचनात्मक ही है, तथापि किसी न किसी रूप में केशव-परिचालित रीति-परम्परा का निर्वाह सभीमें पाया जाता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की सीमा में इनपर विशेष प्रकाश डालना संभव नहीं है।

निष्कर्ष

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि केशवदासजी ने प्राचीन संस्कृत आचार्यों तथा समकालीन कवियों से प्रेरणा प्राप्त कर जिन अनेक परवर्ती कवि एवं आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया है वह उनके पाण्डित्य के साथ-साथ बहुज्ञता का परिचय भी देता है। आपने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री को एकत्र कर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में महान योग प्रदान किया है। भाषा-कवियों के साथ-साथ तद्विषयक जिज्ञासुओं के लिए भी आपके ग्रंथ पथ-प्रदर्शन का कार्य करते रहे हैं, तथा भविष्य में भी चिरकाल तक उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखेंगे। 'रस' और 'अलंकार' दोनों ही क्षेत्रों में आपको अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है। प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के साथ ही आपने अपने मौलिक लक्षण भी प्रस्तुत किए हैं, जो किसी भी संस्कृत-रचना में दृष्टिगोचर नहीं होते। आपके सराहनीय एवं स्तुत्य प्रयास के लिए हिन्दी-साहित्य चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

अष्टम परिच्छेद

केशव का हिन्दी-साहित्य में स्थान

हिन्दी-साहित्य में केशव एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था, उनका महत्त्व भी बहुमुखी है। उनका स्थान निर्दिष्ट करने के लिए उनके किसी एक पक्ष-मात्र को ध्यान में रखकर, उन्हें किसी कवि से छोटा या बड़ा कह देना आलोचना-दृष्टि का संकोच ही होगा। फिर उनके किसी पक्ष को लेकर किसी सजातीय पक्षवाले से ही तुलना ठीक होगी। देव का स्थान निर्धारित करते हुए डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि "हिन्दी काव्य एक सागर के समान है। इसमें अनेक धाराएं प्रवहमान हैं जो दिशा, परिमाण तथा गुण सभीमें एक-दूसरे से भिन्न है। इन विभिन्नताओं का विचार न करते हुए किसी भी कवि का समस्त सजातीय कवियों में से एकसाथ स्थान निर्णीत कर देना सर्वथा भ्रामक एवं निराधार होगा।"[1] केशव का व्यक्तित्व देव की अपेक्षा कहीं अधिक बहुपक्षी है, अतः उनके लिए तो यह बात और भी अधिक आवश्यक है।

प्रतिभा और व्युपत्ति (शास्त्रज्ञान) साहित्यकार के दो धरातल हैं, जहां से वह अपना निर्माण करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव के दोनों धरातल पुष्ट हैं। उनकी प्रतिभा ने कवि-रूप में ही नहीं आचार्य-रूप में भी अनेकत्र चमक पैदा की है। उनकी व्युत्पत्ति ने आचार्यत्व ही नहीं उनके कवित्व की भी प्राणप्रतिष्ठा की है।

केशव की व्युत्पत्ति ने उन्हें एक प्रौढ़ आचार्य बनाया है। उनकी व्युत्पत्ति की रेखाएं तीन क्षेत्रों में अधिक स्पष्टता से उभरी हैं :

१. काव्यशास्त्र

२. दर्शन

३. धर्म-भक्तिशास्त्र

इन तीनों में काव्यशास्त्रीय पक्ष अधिक मुखर एवं प्रसिद्ध है। काव्यशास्त्रीय पक्ष का मूल्यांकन हम आचार्यत्व शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। अपने समय तक परिनिष्ठित समस्त संस्कृत-साहित्यशास्त्र का ज्ञान उन्हें है। उस ज्ञान का अन्धानुकरण नहीं। अपनी निजी अभिरुचि एवं मान्यताओं को भी पूर्ण स्थान मिला है। यद्यपि 'रसिकप्रिया'

---

१. देव और उनकी कविता, डा० नगेन्द्र पृ० २६४,

एवं 'कविप्रिया' का प्रणयन एक शिक्षक की दृष्टि से ही हुआ है और एक शिक्षक का काम अपनी बात कहना नहीं, प्रौढ़ साहित्यकारों की बात को अच्छे ढंग से कहना-मात्र होता है; किन्तु केशव का शिक्षक इतने तक ही सीमित नहीं रहा। एक आलोचक-शिक्षक की भांति उसने अपना दृष्टिकोण भी सामने रखा है। वस्तुतः केशव का आचार्यत्व संस्कृत-आचार्यत्व की उद्धरणी होते हुए भी उनके अपने दृष्टिकोण से ही उपस्थित किया गया है। वैसे रस के विषय में उन्होंने रसवादी आचार्यों को सामने रखा है, अलंकारों के लिए अलंकारवादी आचार्यों को। 'कविप्रिया' के आचार्यत्व में परिचयात्मकता अधिक है, तो 'रसिकप्रिया' के आचार्यत्व में मौलिकता का पुट अधिक। यह बात रस-सामग्री के लक्षणों में स्पष्ट है। शृंगार के 'रसराजत्व' की प्रतिष्ठा का उन्हें आग्रह है। यह युग की प्रतिध्वनि है, जो हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम केशव में साग्रह वाचाल होकर आई है। क्रियात्मक साहित्य ही युग एवं समाज से प्रभावित नहीं होता, आलोचना-साहित्य भी होता है। केशव ने हिन्दी की निजी आवश्यकताओं को समझाने का प्रयत्न किया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र को परखते हुए अपनी सारग्राहिणी प्रवृत्ति से अपनी बुद्धि की सीमाओं के भीतर उन्होंने मान्यताओं का चयन किया। उन्होंने काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग की मान्यताओं तथा अपने काल तक विकसित हुई परम्पराओं दोनों को ध्यान में रखकर हिन्दी के लिए एक काव्यशास्त्र निर्मित करने का प्रयास किया है जो उस युग के पाठक और कवि दोनों को सहायक हो सके। इस काव्यशास्त्र में एक बात का अभाव रहा, वह था गद्य का अभाव। गद्य के अभाव में न तो केशव की निजी मान्यताओं और अभिरुचियों की स्थापना हो सकी और न प्राचीन मान्यताओं का विश्लेषण ही हो सका। अतः केशव का यह कार्य अस्पष्ट रहा। हमारा अनुमान है कि केशव अपने जिज्ञासु की तृप्ति मौखिक रूप में करते रहे होंगे। किन्तु उनकी तर्क-पद्धति लिखित रूप में न आ सकने के कारण उनका दिखाया मार्ग परवर्ती युग का जनपथ नहीं बन सका। आचार्यत्व की दृष्टि से रीतिकाल का अमौलिक युग न तो केशवी दृष्टिकोणों का विकास कर सका न प्राचीन प्रौढ़ मान्यताओं को सामने रखकर उन्हें परख ही सका। वह केवल केशव के महत्त्व से अभिभूत रहा, किन्तु अपने चलने के लिए उसने पचास वर्ष बाद ही चिन्तामणि द्वारा जयदेव और अप्पय दीक्षित का बनाया हुआ सरल मार्ग पकड़ लिया। दिशा उसने केशव से ली। लक्षणोदाहरण की पद्धति पर आचार्यत्व और कवित्व का संगम करने की यह परम्परा हिन्दी में समारोह के साथ केशव के द्वारा ही प्रतिष्ठित हुई है। हिन्दी-साहित्यशास्त्र के प्रथम आचार्य होने का ऐतिहासिक महत्त्व केशव के लिए सुरक्षित है। चिन्तामणि आदि परवर्ती आचार्य तो उनसे दिशा की प्रेरणा लेकर, 'कुवलयानन्द', 'चन्द्रालोक', 'साहित्यदर्पण' जैसी सरल पुस्तकों की उद्धरणी करते रहे।

केशव को संस्कृत के आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, जगन्नाथ जैसे महा-महिम आचार्यों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। उन्होंने न किसी नूतन पथ का उद्-घाटन किया, न किसी सिद्धान्त-विशेष का सतर्क प्रतिपादन। इन आचार्यों की तुलना में केशव का इतना ही महत्त्व है कि वे प्राचीन मान्यताओं का सुचारु अध्ययन करके उनके

विषय में अपनी निजी धारणाएं बनाने की क्षमता जुटा सके। केशव की मौलिकता का स्वरूप यही है। वास्तव में आलोचनाशास्त्र के अन्तिम पदक्रमों में आकर, जबकि सिद्धान्त-निरूपण का कार्य समाप्त हो चुका था, मौलिकता का यही रूप विशेष रह गया था। किन्तु परवर्ती रीतिकाल में यह क्षमता भी लुप्त हो गई। यह देखकर हमारी दृष्टि में केशव का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र मम्मट, विश्वनाथ के समान ही व्यापक है। रीतिकाल में केवल अलंकार-क्षेत्र या नायिका-भेद-क्षेत्र में घूमनेवाले कवि-आचार्यों को छोड़ दें तो हमारे सामने प्रमुख पांच नाम आते हैं—कुलपति मिश्र, श्रीपति, भिखारीदास, प्रतापसाहि और देव। ये सब केशव के परवर्ती आचार्य हैं। केशव के हाथों रीतिकाल का शिलान्यास हुआ था, इनके द्वारा भवन-निर्माण। रीतिकाल के ये परवर्ती आचार्य मौलिकता की दृष्टि से केशव से बहुत पीछे हैं। हां, एक बात उसके पक्ष में अवश्य है। निजी मौलिक दृष्टि की गुंजायश न रखने के कारण वे मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के सिद्धान्तों की उद्धरणी अधिक सफलता से कर सके हैं। यह बात कुलपति, श्रीपति, भिखारीदास, प्रतापसाहि चारों के लिए समान रूप से कही जा सकती है। देव तो इस गुण में भी इन आचार्यों से कुछ पीछे हैं। देव के विषय में डा० नगेन्द्र की स्पष्ट स्वीकृति है कि देव ने मुक्त कण्ठ से उनका (केशव का) गौरव स्वीकार किया है और अनेक स्थलों पर उनका अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त जहां तक पांडित्य की गम्भीरता का प्रश्न है, केशव देव से बढ़कर हैं।[1] विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता और सिद्धान्तों के व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से श्रीपति और भिखारीदास केशव से निस्संदेह अधिक सफल हैं। इस सफलता का कारण हम ऊपर बता चुके हैं। भिखारीदास के विषय में डा० नगेन्द्र की सम्मति है, "विवेचन की स्वच्छता, सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग तथा काव्य की प्रकृति का ज्ञान—इन तीनों के विचार से दास की तुलना में देव क्या, कोई भी रीतिकालीन आचार्य नहीं ठहरता। उनका केवल एक ही पक्ष दुर्बल है मौलिकता।"[2] वस्तुतः भिखारीदास संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सफल उद्धरणीकार हैं, स्वतन्त्र विचारक नहीं। डा० नगेन्द्र द्वारा की हुई भिखारीदास की प्रशंसा की अपनी एक सीमा है। उन्होंने देव और केशव के रस-सम्बन्धी पक्ष को लेकर देव को अधिक गौरव दिया है। वे कहते हैं, "केवल एक बात में देव स्पष्टतः ही केशव से अधिक गौरव के अधिकारी हैं—वह है उनकी सूक्ष्म एवं गहरी चेतना, जोकि आलोचक अथवा आचार्य का एक मूलवर्ती गुण है।"[3] जहां तक भिखारीदास के कवि-पक्ष का सम्बन्ध है, देव की रसमयता को स्वीकार करते हुए भी 'रसिकप्रिया' में रस का अभाव हमें दृष्टिगत नहीं होता।

समस्त रीतिकाल में केशव के समान व्यापक अध्ययन, गहरी पैठ एवं मौलिक

१. देव और उनकी कविता, डा० नगेन्द्र, पृ० २६६
२. देव और उनकी कविता, डा० नगेन्द्र, पृ० २६५
३. देव और उनकी कविता, डा० नगेन्द्र, पृ० २६६

दृष्टिवाला आचार्य अन्य नहीं दिखाई देता।

हिन्दी-आचार्यत्व का आधुनिक स्वरूप बहुत परिवर्तित हो चुका है। केशव आधुनिक आचार्यों के सजातीय नहीं रह गए। अतः आधुनिक आचार्यों से उनकी तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि डा० नगेन्द्र की ही शब्दावली में स्थान का निर्णय सजातीयों में ही हो सकता है।

इस प्रकार केशव ऐतिहासिक दृष्टि से ही हिन्दी के प्रथम आचार्य नहीं हैं, प्रौढ़ता, व्यापकता एवं मौलिकता की दृष्टि से भी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ आचार्य भी हैं। वे रीतिकाल के युगनिर्माता साहित्यकार हैं, यह बात कम महत्त्व की नहीं। युग-निर्माण की दृष्टि से निर्गुण-परम्परा में कबीर का, कृष्ण-भक्ति-परम्परा में सूर का, राम-भक्ति-परम्परा में तुलसी का जो स्थान है, साहित्य को एक निश्चित धारा में मोड़ देने की क्षमता की दृष्टि से रीति-परम्परा में वही स्थान आचार्य केशवदास का है।

केशव का व्युत्पत्ति-पक्ष काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में ही प्रौढ़ नहीं है, दर्शन एवं धर्मशास्त्र के क्षेत्र में भी उनकी अच्छी पैठ है। यह सत्य है कि केशव मनु के समान धर्म-नियन्ता नहीं, शंकर के समान दार्शनिक नहीं, तुलसी के समान भक्त नहीं, किन्तु धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं भक्तिशास्त्र-सम्बन्धी उनका अध्ययन प्रशस्त है। दर्शन के क्षेत्र में वे तुलसी के समान ही सामंजस्यवादी हैं। तुलसी की अपेक्षा उनका सामंजस्य भी अधिक प्रशस्त है। तुलसी के दर्शन की आज तक खींचतान हो रही है। केशव का दर्शन स्पष्ट है, अद्वैतवाद, जिसके व्यावहारिक पक्ष में द्वैत की भूमि है और इसके साथ ही भक्ति, धर्मयोग, वैराग्य आदि सबकी समाई है। 'विज्ञानगीता' उनकी इस क्षेत्र की क्षमता का मूर्त प्रमाण है।

केशव की व्युत्पत्ति का एक क्षेत्र और है —'इतिहास'। रतनबावनी, वीरसिंहदेव-चरित और जहांगीर-जस-चन्द्रिका में तात्कालिक इतिहास की ऐसी सामग्री सुरक्षित है, जिसका उल्लेख अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में नहीं मिलता। 'विज्ञानगीता' के रूप में प्रतीक-काव्य लिखकर तथा इन उपर्युक्त रचनाओं के रूप में ऐतिहासिक काव्यों की रचना करके हिन्दी-साहित्य के समक्ष केशव ने दो सर्वथा नवीन साहित्य-विधाओं के द्वार खोले थे। संस्कृत के लिए चाहे ये रचना-विधाएं नवीन न रही हों, किन्तु हिन्दी के लिए अवश्य नई चीज़ थी। खेद है कि परवर्ती रीतियुग इन दिशाओं में प्रगति न कर सका।

जहां तक केशव के कवित्व-पक्ष का संबंध है, केशव हमारे समक्ष 'रामचन्द्रिका' के मुक्तक कवि, 'विज्ञानगीता' के प्रतीक, पाठ्यरूपक (Allegory) रचयिता तथा तीन ऐतिहासिक काव्य-कृतियों के निर्माता के रूप में आते हैं। जहां तक साहित्य की विधाओं का प्रश्न है, पिछली दो विधाएं उनकी अपनी हैं यह हम ऊपर कह चुके हैं। मुक्तक कवि के रूप में रसिकप्रिया की सरसता का जादू शुक्लजी तक की लेखनी पर बोल चुका है। अतः उसके विषय में भी अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। अब रहता है उनका प्रबन्धकवि-रूप। इस क्षेत्र में उनपर कई प्रकार के आक्षेप लादे गए हैं। प्रबन्ध-कौशल, भावुकता तथा

प्रकृति-निरीक्षण का अभाव एवं चमत्कार का फेर इन आक्षेपों में प्रमुख हैं। इन आक्षेपों में शुक्लजी के मानदण्डों की प्रतिध्वनि है। शुक्लजी के मानदण्ड तुलसी को सामने रखकर बने थे। प्रबन्ध-रचना में केशव का दृष्टिकोण तुलसी से भिन्न है। उन्होंने रामचरित के अंशों का चुनाव वर्णन-वैभव के अवकाश को ध्यान में रखकर किया है, तुलसी की भांति इस काव्य की दृष्टि से नहीं। 'रामचन्द्रिका' में वे नाटकीय तत्त्वों से भी प्रभावित हुए हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने संवादात्मक सौंदर्य का उसमें पुट दिया है। प्रबन्ध-सूत्रों की नाटकीय योजना करते हुए उन्होंने कथा-सम्बन्धी सूत्रों के अनिवार्य निर्वाह की ओर भी आग्रहपूर्वक ध्यान नहीं दिया। [जहां तक भावुकता का प्रश्न है, केशव की भावुकता तुलसी-सूर की कोटि की भावुकता नहीं, किन्तु रीतिकाल के अन्य कवि-पंडितों की अपेक्षा उनकी भावुकता कम नहीं। 'देखे मुख भावे, अनदेखेई कमल चंद' जैसे स्थलों को लेकर शुक्लजी ने केशव में हृदयहीनता ही नहीं, हृदयहीनता की हद दिखाई है। किन्तु आज शुक्लजी की पक्ष-पातिनी दृष्टि पहिचानी जा चुकी है और बहुत-सी मान्यताओं में उनका पक्षपात सिद्ध हो चुका है। रही प्रकृति-निरीक्षण एवं चमत्कार की बात। केशव के कई शताब्दी पूर्व से ही संस्कृत-काव्य प्रकृति-निरीक्षण से दूर हटता हुआ चमत्कार की ओर चला आ रहा था। केशव उसी परम्परा के कवि हैं। निस्सन्देह वे प्रकृति के जन्मजात कवि नहीं। उनमें आलंकारिक चमत्कार का मोह भी सजग है। किन्तु उनके आलंकारिक चमत्कार में दुरूहता नहीं है। श्लेष, यमक आदि के कुछ स्थलों में दुरूहता का आभास होता है। उसके दो कारण हैं। एक तो हम इस प्रकार की काव्य-परम्परा से दूर पड़ चुके हैं, दूसरे, इन अलंकारवाले स्थलों को हम विश्वनाथ, जयदेव आदि के लक्षणों की छाया में समझना चाहते हैं। केशव के लक्षण इन पिछले आचार्यों से भिन्न हैं। उनके श्लेष, यमक आदि उनके ही लक्षणों के अनुसार समझने पर उतने दुरूह नहीं रह जाते जितने आज समझे जाते हैं।

निस्सन्देह हम 'रामचन्द्रिका' को 'रामचरितमानस' के समकक्ष नहीं रख सकते। किन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि 'रामचन्द्रिका' और 'रामचरितमानस' दो भिन्न कोटि के महाकाव्य हैं। मानस के स्रोत में साहित्य-मर्मज्ञ पंडित और हलवाले किसान समान रूप से अवगाहन करते हैं। दोनों उसकी समान पूजा करते हैं। मानस भक्ति का भाव-काव्य है। 'रामचन्द्रिका' दरबारी काव्य है। इसी कारण उसमें प्रभावोत्पादन एवं चम-त्कार के प्रति कलाकार की जागरूकता है। विश्व-साहित्य का इतिहास उठा लीजिए कोर्ट और कुटिया के काव्य में कला की जागरूकता और अजागरूकता का अन्तर मिलेगा। 'रामचन्द्रिका' मानस की अपेक्षा संस्कृत-साहित्य के उत्तरयुगीन महाकाव्यों से अनुप्राणित हुई है। सत्य बात तो यह है कि ओरछा के रजत आसनों पर बैठकर सम्मान के भारों से बोझिल मस्तिष्क सदा रामचन्द्रिकाएं ही लिखते आए हैं और सुर-सरिता के पावन तट पर रामानन्दी तिलक-लंगोटी लगाकर 'रामचरितमानस'। न ओरछा में तुलसी मानस लिख पाते, न काशी में केशव की कलम चन्द्रिका।

केशव में भावुकता, कल्पना, रस, अलंकार, वर्णन-वैभव, चमत्कार—अपने-अपने

स्थान पर अलग-अलग रचनाओं में सब कुछ है। सब मिलाकर केशव का कवि प्रतिभावान कवि की अपेक्षा शास्त्रकवि अधिक है। उनका कला-पक्ष भाव की अपेक्षा अधिक मुखर है। कला-पक्ष की दृष्टि से वे सूर और तुलसी से भी बढ़कर हैं। भाव और कला के सामंजस्य को ध्यान में रखकर उनका नम्बर सूर-तुलसी के निस्सन्देह पश्चात् है। तुलसी की अपेक्षा सूर का भाव-पक्ष सजग है। तुलसी में भाव और कला का अनायास सामंजस्य है, बिहारी में सचेतन एवं सायास। केशव में कविता-कामिनी की विशेष सज्जा के लिए आभूषणों का मोह है।

(रीतिकाल के अन्य सभी कवियों में केशव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कला के परिमार्जन में बिहारी उनसे कहीं प्रशस्त हैं।) भावुकता और लाक्षणिक चारुता में घनानन्द उनसे बहुत बढ़े हुए हैं। पद्माकर की झंकृतियां केशव को बहुत पीछे छोड़ जाती हैं। देव की रस-चेतना को सभी स्वीकार करते हैं। और भी कलाकर हिन्दी के पास हैं, हो सकता है उनमें कोई न कोई गुण केशव से बहुत बढ़-चढ़कर हो। [किन्तु सब मिलाकर केशव के पास जितना है उतना इन मध्ययुगीन कलाकारों में किसीके पास नहीं।

अभिव्यंजना-सामर्थ्य की दृष्टि से केशव की भाषा सूर-तुलसी की अपेक्षा निर्बल है। किन्तु व्यवस्था की दृष्टि से वह उनसे सबल है। ब्रज के इतिहास में व्यवस्था की ओर ध्यान सर्वप्रथम केशव का गया था। इस प्रयास का सफल परिपाक बिहारी में जाकर हुआ है।

वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के पास अनेक रत्न हैं, जिनके नाम, गुण, उपयोगिता एवं प्रभाव भिन्न-भिन्न हैं। हमारी ही बोली में हमारे हृदय और मस्तिष्क को एकदम झकझोर देनेवाला कबीर के समान हिन्दी में दूसरा कौन है। हमारी संस्कृति के समस्त सौंदर्य का प्रतिनिधि तुलसी के समान कौन है! भावों की उत्ताल तरंगों में लहरा देनेवाला जादू सूर के अतिरिक्त और किसके पास है! कल्पनालोक में भाव की तूलिका से सतरंगी चित्र अंकित करने में प्रसाद की कला का किसे उपमान बनाएं! केशव का भी अपना महत्त्व है। आचार्यत्व को कवित्व से, व्युत्पत्ति को प्रतिभा से, पांडित्य को भावुकता से मिलाकर अपने बहुमुखी महत्त्व से अभिभूत कर देने की क्षमता रखनेवाला केशव-सा दूसरा नाम देने के लिए हिंदी बहुत दिनों से सोच रही है और न जाने कब तक उसे सोचना पड़ेगा!

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथ-सूची

१. हिन्दी

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१.	अष्टछाप एवं वल्लभसंप्रदाय	डॉ० दीनदयालु गुप्त
२.	आचार्य कवि केशव	प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा
३.	आचार्य केशवदास	डॉ० हीरालाल दीक्षित
४.	आचार्य भिखारीदास	डॉ० नारायणदास खन्ना
५.	कविकुलकंठाभरण	दूलह
६.	एकावली	विद्याधर
७.	कविप्रिया	केशवदास .
८.	काव्य-निर्णय	भिखारीदास
९.	केशव पंचरत्न की आकाशिका	लाला भगवानदीन
१०.	केशव की काव्यकला	कृष्णशंकर शुक्ल
११.	केशवदास—एक अध्ययन	प्रो० सरनामसिंह 'अरुण'
१२.	केशवदास	चन्द्रबली पाण्डेय
१३.	केशवदासजी का अमीघूंट	केशवदास
१४.	केशव-ग्रंथावली	विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१५.	गुप्तजी की काव्यकला	डॉ० सत्येन्द्र
१६.	छन्दमाला	केशवदास
१७.	जगद्विनोद	पद्माकर
१८.	जसवन्त जसोभूषण	मुरारिदीन
१९.	देव और उनकी कविता	डॉ० नगेन्द्र
२०.	नखशिख	केशवदास
२१.	प्राचीन वार्ता-रहस्य	सं० द्वारिकादास पारीख
२२.	बिहारी 'रत्नाकर'	जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर
२३.	बिहारी की वाग्विभूति	विश्वनाथप्रसाद मिश्र

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
२४.	बिहारी सतसई	सं० जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर
२५.	बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास	गोरेलाल तिवारी
२६.	बुन्देल-वैभव—प्रथम भाग	गौरीशंकर द्विवेदी
२७.	भक्तमाल	नाभादासजी
२८.	भारत का इतिहास—भाग २	डॉ० ईश्वरीप्रसाद
२९.	भारत का बृहद् इतिहास	श्रीनेत्र पाण्डेय
३०.	भारतीय साहित्य की रूपरेखा, भाग २	श्रीराम त्यागी
३१.	भाव-विलास	देव
३२.	भाषा-भूषण	जसवन्तसिंह
३३.	भ्रमरगीतसार	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३४.	मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
३५.	मुगलकालीन भारत	डॉ० आशीर्वादीलाल
३६.	मूल गोसाईंचरित	वेणीमाधवप्रसाद
३७.	रतनबावनी	केशवदास
३८.	रसिकप्रिया	केशवदास
३९.	राधाकृष्ण ग्रन्थावली—खण्ड १	ना० प्र० सभा, काशी
४०.	राधावल्लभसम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
४१.	रामचन्द्र भूषण	लछिराम
४२.	रामचन्द्रिका	केशवदास
४३.	रामचरितमानस	तुलसीदास
४४.	लघु भागवतामृत	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
४५.	विज्ञानगीता	केशवदास
४६.	वीरसिंहदेवचरित	केशवदास
४७.	वैराग्यशतक	देव
४८.	शिवराज भूषण	भूषण
४९.	शिवसिंह सरोज	शिवसिंह
५०.	श्री चैतन्य चरितावली	प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
५१.	संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका	पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
५२.	संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी-रचनाएं	नर्मदाशंकर चतुर्वेदी
५३.	संग्राम-सागर	कुलपति मिश्र
५४.	सूर और उनका साहित्य	डॉ० हरवंशलाल शर्मा

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
५५.	सूरदासजी नूं जीवन-चरित	परीख
५६.	सूरसागर	सूरदास
५७.	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	डॉ० भगीरथ मिश्र
५८.	हिन्दी के कवि और काव्य	गणेशप्रसाद द्विवेदी
५९.	हिन्दी-नवरत्न	मिश्रबंधु
६०.	हिन्दी-साहित्य	डॉ० श्यामसुन्दरदास
६१.	हिन्दी-साहित्य	डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
६२.	हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
६३.	हिन्दी-साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२. संस्कृत

६४.	अग्निपुराण	गीता प्रेस
६५.	अध्यात्मरामायण	गीता प्रेस
६६.	अनंगरंग	कल्याणमल
६७.	अभिज्ञानशाकुन्तलम	कालिदास
६८.	अलंकारशेखर	केशव मिश्र
६९.	अलंकारसर्वस्व	राजानक रुय्यक
७०.	अलंकारसूत्र	राजानक रुय्यक
७१.	आनन्दभाष्य	आचार्य रामानन्द
७२.	उत्तररामचरितम्	भवभूति
७३.	उपदेशसाहस्री	शंकराचार्य
७४.	कादम्बरी	बाण
७५.	कामसूत्र	वात्स्यायन
७६.	काव्यकल्पलतावृत्ति	अमरचन्द्र
७७.	काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट
७८.	काव्यप्रकाश की टीका	वामन झलकीकर
७९.	काव्यादर्श	दण्डी
८०.	काव्यालंकार	भामह
८१.	काव्यालंकार-सूत्र	वामन
८२.	कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित
८३.	चन्द्रालोक	जयदेव
८४.	दशरूपक	धनंजय

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
८५.	दशरूपक के टीकाकार	धनिक
८६.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
८७.	नाट्यशास्त्र	आचार्य भरत
८८.	निम्बादित्य दशश्लोकी	हरिदेव व्यास
८९.	नीतिशतक	भर्तृहरि
९०.	नैषधीयचरितम्	श्रीहर्ष
९१.	प्रबोधचन्द्रोदय	कृष्ण मिश्र
९२.	प्रसन्नराघव	जयदेव
९३.	मृच्छकटिक	शूद्रक
९४.	योगवासिष्ठ	गीता प्रेस
९५.	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
९६.	रसार्णवसुधाकर	शिंगभूपाल
९७.	वक्रोक्तिजीवितम्	आचार्य कुन्तल
९८.	वल्लभदिग्विजय	यदुनाथजी
९९.	वेदान्तसार	सदानन्द
१००.	वृत्तरत्नाकर	केदार भट्ट
१०१.	शृंगारप्रकाश	भोज नरेन्द्र
१०२.	श्रीभाष्य	वल्लभाचार्य
१०३.	श्रीमद्भगवद्गीता	गीता प्रेस
१०४.	सरस्वतीकुलकंठाभरण	भोज नरेन्द्र
१०५.	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
१०६.	हनुमन्नाटक	सं० दामोदर मिश्र

३. अंग्रेजी

१०७.	A Cultural Heritage of India Series, Part II	Ramkrishna Mission, Calcutta
१०८.	An Advanced History of India	R. G. Majumdar—Ed.
१०९.	Bernier's Travels	Bernier
११०.	History of India As Told by Its Own Historians, Part VI	Elliot and Dowson
१११.	Iin-I-Akabari	Blochman—Tr.

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	लेखक का नाम
११२.	Introduction to Sahitya Darpan	P. V. Kane
११३.	Mediaeval India	Lane Poole
११४.	Orchcha Gazeteer, Part VI, A	Capt. C. F. Leuard
११५.	Studies In Moghal India.	J. N. Sarkar
११६.	Vaishnivism, Shaivism and Other Minor Religious Systems	R. G. Bhandarker

४. हस्तलिखित

११७.	जहांगीर-जस-चन्द्रिका	केशवदास
११८.	हस्तलिखित प्रतियां	रमणलाल हरि चौधरी

५. पत्रिका

११६	नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका	ना० प्र० सभा, काशी

६. रिपोर्ट

१२०.	ना० प्र० सभा, खोज-रिपोर्ट	ना० प्र० सभा, काशी

नामानुक्रमणिका

अ

अंगद—३०८, ३११, ३१३

अकबर—१३-१५, १६, २१-२५, ४०, ४६, ५६, ६०-६१, ६६, ८०, ६२-६६, २७३-२७४,

अप्पय दीक्षित—१६८,२०४, २०७, २२८-२२६, २४६, २६६, ३७२,

अबुलफज़ल—२३, ४६-४७, ५६, ६४, ६६, २६६, ३०६

अभिनव गुप्त—११२, ११६, १४५, २१६, २२१, ३७२

अमीर खुसरो—११०

अम्बिकादत्त व्यास—६१

अर्जुनदास केडिया—३७०

अलाउद्दीन—६

आ

आनन्दवर्धन—११२, ११५-११६, १८७-१८६, २१६-२२१, ३७२

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव—२३, ६५

इ

इन्द्रजीतसिंह—८-१०, १२, १५, २०-२५, ३०, ३४, ३६, ४१, ४३-४४, ४६, ४८-४६, ५५, ६०, ६६, ८०, ८४, १४०, २४५

ई

ईश्वरीप्रसाद—२३, ६२

उ

उद्भट—२१६-२२२, २२८, २३८

उद्धव—३६२

औ

औरंगज़ेब—६२

क

कन्हैयालाल पोद्दार—३७०

कबीर—३७६

करनेस—४०

कल्याणदास—६-१०, १८, ३८

कल्याण दे—११, ८०

कल्याणमल—१४७, ३५४

कृपाराम—४०

कृष्ण—३५, ५१, ६०, ६२, ६८-१०४, ११२, १३७, १८७, १६२, २४४

कृष्णदत्त—११५

कृष्ण मिश्र—२६८, ३४६

कृष्णशंकर शुक्ल—२८-२६, १५५-१५६

काणे, पी० वी०—११५, १५७, २०५, २१५, २१७, २२२, २२८, २३३, २३६, २४१, २४६

कामसेना—५६-५७

कालिदास—१६, १७१, २५०, २५२, २७६, २६०, २६२, ३२३

काशीनाथ—६-१०, १२, १५, १८, २५, २८-२६, ३८, ४६ ५४, ८८

कीट्स—३२, २५०
कुंतल—२१२, २१४-२१५, २२५
कुमार भूपालराय—२५६
कुलपति मिश्र—५१, ५३
'के' महोदय—३३
केशव ऊंचाहार—८६
केशव गिरि—३५
केशवदेव—६२
केशव मिश्र—३५३
केशवराय बबुआ—३५, ४६, ५०-५१, ८८
केसोराइ—३५-३६, ५०-५१, ५३, ८७
कैकेई—३११, ३३६, ३४२

ख

खटीक खां—१३
खड्गजीतसिंह—८५

ग

गंग—१६, १८-१६, २७
गणपति—७०, ८७, ३२७
गणेशशंकर द्विवेदी—२४-२५, ३२-३३, ४६, ५२-५४, ६१
गांधीजी—२००
गाधि—२६८
गिरिधरदास—३२१
गेलिलियो—३२
गोरखनाथ—१११
गोरेलाल तिवारी—१३, ३३, ६४, ६६
गोविन्ददास—३३, ८५
गौरांग—१०४
गौरीशंकर द्विवेदी—२३, ३३, ४६, ५२, ६१-६२, ८६
ग्रियर्सन (सर जार्ज)—२४, ४६, ६६

घ

घनानन्द—१६, ३७६

च

चन्दबरदाई—४६, ६४, ३२१
चन्द्रबली पांडे—२८, ३१, ४६, ५२, ५४, ६१-६२
चन्द्रभानु—४३, ४५, ४८
चन्द्रसेन—४८
चार्वाक—८३
चिन्तामणि—१६, २४६, ३७२
चैतन्य—६८, १०३

छ

छत्रसाल—८८

ज

जगन्नाथ तिवारी—२८-२६, २७२
जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—२८, ४६-५३, ६८-६६, ३७०
जयदेव—८, ६, ३२, ३८, १०६, ११३-११४, १६६-१६८, २३२, ३११, ३३८, ३४३, ३७२
जयसिंह—५३
जसवन्तसिंह—३६४
जहांगीर—१५, ८४-८५, ६२, ६४-६६, २७८, २६७, २६६, ३००
जायसी—५, ३६०-३६१
जीव गोस्वामी—१०३
जुझारसिंह—४३
जैमुनि—८७

ट

टॉड—४८
टोडरमल—१५, ५६

त

तान तरंग—४६
तुलसी—४-६, १६-१७, १६-२१, २७, २६, ५६, ५६, ६२, ७०, ६८, १११, ११८-११६, १३५-१३८, १८२,

२५०, २५३, २६५-२६६, ३०२-३०३, ३०७, ३१०-३१३, ३१७, ३२७, ३३६, ३६०-३६२, ३६६, ३७४-३७६
तोष--१६, २४६

द

दण्डी--४, ११३-११५, १६५-२०४, २०६-२१६, २२२-२२४, २२६-२३६, २४१-२४२, २४४, २४६, ३५३
दत्तात्रेय--६८
दशरथ—७०, १०५, २६१, २७१, २६४, ३३४, ३४१, ३४८
दीनदयालु गुप्त (डॉ०)—६६
दूलहराम—४४, ३६८
देव—१६, १६. २४६, २७६, ३६३, ३६५-३६७, ३७३

ध

धनंजय—१४६-१४७, १५२, १६२-१६३, १६५-१६६, १८०-१८१, १८३-१८४
धनिक--१६२, १७८

न

नगेन्द्र (डॉ०)--३७१, ३७३-३७४
नन्ददास—४०, ३१७
नरहरिदास—४०, ४५
नवरंगराय—४६, ६१
नागरीदास--५१
नाथमुनि—६७
नाभादास--१०२-१०४
निम्बार्काचार्य--६८, १००, १०२
नूरजहां--६२

प

पण्डितराज जगन्नाथ--३७, ५६, ११२, ११६, १६४-१६८, १७८, १८१, १८४, २०४-२०५, २११, २३४, २३६, २४२
पतिराम—४०, ५६
पद्माकर--२४६, ३६७-३६८, ३७६
परमानन्द—४३
परशुराम—८, ४८, २६०, ३०२, ३०६-३०७, ३११-३१२, ३३६, ३४२-३४३, ३६१
पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल--२८, ३३, ३१६, ३३२
पुष्य--४०
प्रतापराव—६३-६४
प्रवीणराय--२१-२५, ३६-४०, ४६, ५१, ५५, ६१, ६६, ७४, ६३

फ

फर्कुहर—१००
फैज़ी--५६

ब

बलभद्र मिश्र—६, १०, १५, २५, २६, ३२, ५४, ८७
बाणभट्ट—११५, २४८, २७६, २८०, ३४६
बालि--३०३, ३०८
बिन्दुमाधव--२६६
बिहारी—१८-१६, ३१, ४१, ५०-५५, ५८, ३६८, ३७६
बीरबल--१०, १५-१६, १६, २१-२५, ब्लोकमैन--१३-१४, २३, ४६-४७ ३५, ५५-५७, ६०, ६६
बोधा—१६

भ

भंडारकर, आर. जी.—६८
भगवानदीन (लाला)—१०, २७-२६, ३१, ३३, ६१-६२, ६८, ७१, ७३, ७७, २४५, ३१५, ३६४, ३७०

भगीरथ मिश्र--१४३-१४५, १४८, १५५-१५६, १५९
भट्टनायक--११६
भट्टि--२१३
भरत--७१, ३०३, ३०५, ३०७, ३११, ३३९, ३४४
भरतमुनि--११२-११४, १४५, १४७, १६१-१६६, १६९, १७३, १७६, १७७, १७९, १८१, १८२, १८४, १८६, २४८
भर्तृहरि--३६०
भानुदत्त--१४७, २४८
भामह--४, ९८, ११२-११५, १९५-१९७, २०४, २०६-२१०, २१२-२१५, २१९-२२२, २२५, २२८-२३०, २३३, २३७, २४२, २४६, ३०१
भारवि--३२३
भास--१९
भिखारीदास--२७९, ३६४-३६५, ३७३
भीखासाहब--८६
भूपाल (आचार्य)--३५४
भूषण--१९, ४९, २५९, ३६३-३६४
भोज--११३-११४, १५५, १९४, १९५, २४८

म

मतिराम--१९, २४९, ३६३, ३६५
मधुकर शाह--९, १०, १३-१५, २४-२६, २९, ४१-४६, ४८, ५१, ६४, ९३, ९४, ९६, ३००, ३०९
मध्वाचार्य--९८, १००
मनु--३७४
मम्मट--५७, ११३, ११४, ११६, १४५, १५४, १५५, १६३, १६५, १६६, १६९, १७८-१८३, १८८, १९५-१९८, २०४, २०६-२०८, २१३, २१५-२१७, २१९, २२०, २२२, २२६, २२८-२३१, २३३, २३९, २४२, २४४, २४६, ३७२, ३७३
माघ--७१, २८०, ३२३
मानसिंह--९, ५६, २९९
मायाशंकर याज्ञिक--४९, ५३
मिश्रबन्धु--२४, २५, २७, ३१-३३, ५८, ६१

य

यामुनाचार्य--९७
यारी साहब--८६
याज्ञवल्क्य--८३

र

रंगमूर्ति--४६
रंगराय--४६
रतनसेन--१४, १५, २३, ४१, ४२, ४४, ४५, ४८, ६४, ३००, ३०९, ३१०, ३१५
रमाशंकर शुक्ल "रसाल"--३७०
रसलीन--२४९
रहीम--५५
राजशेखर--११३, १५४
राणा प्रतापसिंह--४८
राधा--३५, ५१, ६६, ८९, ९९, १०२-१०३, १८७, १८९, २५४, २६४, ३०४, ३६२
राधाकृष्णदास--२७, ४९
राधाचरण गोस्वामी--२७, ४९
राम--८, ३६, ३७, ५६, ५९, ७०, ७१, ९७, १०५, १०८, १२२, १२३, १३५, १३६, १३८, १६७, १७४, २०२, २५७, २५८, २६०-२६३, २६६, २६७, २७६, २७७, २८६, २८७,स

२८६-२६१, २६४, २६५, ३०२-३०८, ३१२, ३१३, ३२५, ३२६, ३६१
रामकुमार वर्मा (डॉ०)——२४, २६, ३३
रामचन्द्र शुक्ल——२०, २५, २७-३१, ६१, ८६, ६६, १७१, २७१, २४५, २८२, ३३३, ३७४, ३७५
रामदहिन मिश्र——३७०
रामनरेश त्रिपाठी——३३, ६१
रामरतन भटनागर——२७, २८
रामशाह——१०, ११, १४, १५, ४३-४५, ४८, ५६, ८०, ६४
रामानन्द——६७, ६८
रामानुजाचार्य——६७, ६८, १२५
रावण——१०८, १७५, २५७, २६०, २६२, २६३, २८६, ३०६, ३०७-३०८, ३०६, ३११, ३१३, ३३८, ३४५, ३४६
रुद्रप्रतापसिंह——६, १४, २५, २६, ४२, ४४
रुद्रट——४, ११३, ११५, १६५, १६७, १६८, २०७, २४१
रुय्यक——११४-११५ १६७, २०३-२०५, २०७, २०६, २१०, २१३, २१५, २१७, २२०, २२२, २२८, २२६-२३१, २३३, २३८, २४२, २४४, ३५३
रूप गोस्वामी—१०३, ११०, ११२, १६४, २७६

ल

लछिराम——३६६

व

वल्लभाचार्य——३२, ६८, १००-१०२
वशिष्ठ——१२३, ३३४, ३५२
वात्स्यायन——६१, १४७, ३५५-३५६
वामन——११२, ११४-११५, १५७, २०४, २०६-२०८, २१२-२१३, २२५, २४२, ३५३
वामन झलकीकर——१७६-१८०, १८४
वाल्मीकि——७०, १७१, १७६, १६६, ३०२, ३०७, ३१०, ३३७-३३८
विचित्र नयना——४६
विजयेन्द्र स्नातक (डॉ०)——१०२
विट्ठलनाथ गोस्वामी——५७, ६८
विद्याधर——१३०, २४८
विद्यापति——६४, ११०, २५०
विभीषण——५६, २५७-२५८, ३०६, ३३६ ३४८
विष्णुस्वामी——६८, १००
विश्वनाथ——११२, ११६, १४५-१४७, १५०-१५१, १५४-१५५, १६३-१६६, १७४, १७८-१८०, १८३, १८८, १६०, १६४-१६८, २०५, २०७, २०६, २१३, २१५, २१७, २१६, २२२, २२६, २२८-२३१, २३३-२३४, २३६, २३६, २४१-२४२, २४६, २४८, २६६, २६३, ३००, ३५३-३५४, ३७३
विश्वनाथप्रसाद मिश्र——३५, ७७-७८, १७७
विश्वामित्र——७०, १२३, २६०-२६१, २७०, ३०२, ३३४, ३३८, ३४१, ३४३, ३६१
वीरसिंहदेव——११, १२, १६, २४, ४१, ४३-४८, ५३, ५६, ६०, ६२, ७६-८०, ८३, ६३-६५, १३८, २६६-२६७, ३०६
वेणीमाधवदास——१६
व्यास (महर्षि)——११८, ३५३

श

शंकराचार्य—३२, ८९, ९७, ११८, १२०, ३७४
शिवसिंह सेंगर—२४, ३३, ५२-५३
शिवाजी—४६
शूद्रक—३४७
शेरशाह सूरी—५६
शैली—३२, २५०
श्यामसुन्दरदास (डॉ०)—२४-२६, ४६, ५३-५४
श्रीनेत्र पाण्डेय—९२
श्रीपति—१६, ३७३
श्रीहर्ष—३७, २५०, ३२३

स

सत्येन्द्र (डॉ०)—१०५
सनातन गोस्वामी—१०३
सरकार, जे० एन०—६५
सरदार कवि—६७, ६६, ७१, ७५-७७, १७२
सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'—२८, २६, १५६, २०२, २०४, २१२ २४१
सी० ई० लुअर्ड—१४, २३
सीता—७१, १०५, १०८, १६६, २६६, २८६-२६१, २६४, ३०४, ३०६-३०८, ३१२, ३१३, ३३६, ३४१
सुग्रीव—२५८, ३०५
सूर—४-५, २०, २७, २६, १३८, २५०, २५२, ३१७, ३३६, ३६०, ३६२-३६३, ३७४, ३७६
सूरत मिश्र—६८, ७६
सेनापति—१६

ह

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी (डॉ०)—७, १३, २४, २६, ६६, ६७
हनुमान—१०८, २६६, २७७, ३०५, ३११, ३१३, ३३६, ३६५
हरवंशलाल शर्मा (डॉ०)—६६
हरिऔध—३२१, ३६६
हरिचरणदास—७५
हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु—३२
हित हरिवंश—६८, १०२
हीरालाल दीक्षित (डॉ०)—२८, ३०, ३२, ३३, ४६, ५३, ५४, ६१, ७५, ७६, १७७, १६७, २००-२०२, २०६, २१४, २१८, २३०, २३६

ग्रन्थानुक्रमणिका

अ

अंगदर्पण—२४६

अकबर टू औरंगज़ेब—२३

अखरावट—३६१

अग्निपुराण—२००

अध्यात्मरामायण—३३८, ३३६, ३४८

अनंगरंग—१४७, ३१२, ३५४, ३५५

अनवर चन्द्रिका—५०

अभिज्ञानशाकुन्तलम्—१७१

अलंकारसर्वस्व (रुय्यक)—१६६, १६६, २००, २०६ २१०, २२०, २२२, २२६-२२८, २३०, २३५-२३७, २३६, २४०, २४२, २४३

अलंकारसर्वस्व (विमर्शिनी टीका)—२२२, २३६

अलंकारशेखर—२१३, ३५७, ३५८

आ

आइने-अकबरी—१३, १४, २३, २४, ४६, ४७, ६५, ६६

आखिरी कलाम—३६१

आचार्य कवि केशव—२८, २६, १४५, १५६

आचार्य केशवदास—२, २८, ३०, ५३, ५४, ७५, ७६, १६७, २००-२०२, २०६, २१४, २३६

आनन्द भाष्य—६७

आनन्दलहरी—३५, ६३, ८८, ८६

उ

उज्ज्वलनीलमणि—१०३, ११०, ११२, २४६

उत्तररामचरितम्—३०, २४८, ३०३

उद्धव शतक—३७०

उपदेशसाहस्री—१३३

ऋ

ऋग्वेद—३१६

ए

एकावली—१६६, २३५-२३७, २४८

एन एडवांस हिस्ट्री आफ इण्डिया—६२

ओ

ओरछा गज़ेटियर—२, १३, १४, २३, ३३, ४१, ५३, ६४

क

कविकुलकण्ठाभरण—३६६

कविकुलकल्पतरु—२४६

कविप्रिया—३-५, ८, १०, १३, १५, १६, २६, ३०, ३१, ३४, ३५, ३७-४१, ४६, ४८, ५७, ५६, ६१, ६३, ७१-७७, ६०, ६४, ६८, ११६, १३७, १३६, १४०, १४३, १४५, १५४-१५८, १६१, १६४-१६७, २०१-२०४, २१३-२३७, २४०, २४१, २४३-२४७, २५१, २६७, २७१, २७६, २८०, २८५, २६३, ३००, ३०१, ३१७, ३२४, ३२६-३२८

३३१, ३३३, ३३७, ३४७, ३५३, ३५७-३६० ३६२-३६५, ३६८, ३७२
कादम्बरी—७१, २४१, २४८, २७६, ३३८, ३४६-३४८
कामरूप की कथा—१६, १७, १९
कामसूत्र—६१, १४७, ३५५, ३५६
कामायनी—३६९, ३७०
काव्यालंकार—११३, १९५, १९७, २०४, २०६, २०८, २१५, २२२, २२५, २४२
काव्यकल्पलतावृत्ति—१५८, २१३, ३५८, ३५९
काव्यनिर्णय—३६४, ३६५
काव्यप्रकाश—५७, ११२, ११६, १४५, १७९-१८२, १८४, १९६, १९८, २०४, २०६-२०९, २१६, २२०, २२५-२२७, २३२, २३८, २४०, २४२
काव्यादर्श—११३, ११४, १९५, १९७-१९९, २०१, २०३, २०४, २०६, २१०, २११, २१३-२१९, २२२-२३०, २३२-२३६, २३८, २४१, २०८, २४२, २४४
काव्यालंकार ग्राफ भामह—१५७
काव्यालंकार सूत्र—१५७, २०४, २०६, २०८, २२५
किरातार्जुनीयम्—२९४
कीर्तिलता—७९
कुन्दमाला—३०६
कुवलयानन्द—१९८, १९९, २०३, २०४, २०६, २२४, २२७, २३२, २३३, २३८, ३७२
केम्ब्रिज हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया—२३
केशव कौमुदी—७१
केशव-ग्रंथावली—१७१, १८३
केशवदास—२, २८, ३०, ३१, ४९, ५२, ५३, ६२
केशवदास एक अध्ययन—२, २८, २९
केशवदासजी का ग्रमीघूंट—३५, ६३, १८६
केशव पंचरत्न की ग्राकाशिका—२८, ४८, ३१५, ३६४
कृष्णलीला—३५, ६३, ८९

ग

गीतगोविन्द—३२४
गुप्तजी की काव्यकला—१०५

च

चन्द्रालोक—११३, १९६, १९८, ३७२
चित्र मीमांसा—२४६

छ

छन्दप्रभाकर (भानु)—३१६
छन्दमाला—३, ४०, ५८, ६३, ७८, ८६, ९१, १४२, २९३, ३१७
छन्दसार ३६५

ज

जगद्विनोद—३६७, ३६८
जरनल ग्राफ इण्डियन हिस्ट्री—९६
जसवन्त जसोभूषण—३६९
जहांगीर-जस-चन्द्रिका—१६, ५६, ५९, ६१, ६३, ८४, ९१, ११०, २४७, २७६-२७८, २९३, ३००, ३१४, ३१५, ३१८, ३७४
जावालोपनिषत्—२९९
जैमिनी कथा—६३, ८७
जोरावर प्रकाश—६८

द

दशरूपक—१४६, १५२, १६२, १६३, १६९, १७३, १७५, १७७, १७८,

१८०, १८२, १८४
दी हिस्ट्री श्राफ अलंकार—१५७
देव और उनकी कविता—३७१, ३७३
देवशतक—१६, १८, १६

ध

ध्वन्यालोक—११६, १८७-१८६, १६१, २२०, २२१
ध्वन्यालोक लोचन—११६

न

नखशिख—३, ६३, ६८, ६६, १०५, ३०६, ३१७, ३१८
नाट्यशास्त्र—११२-११४, १५३, १६२, १६६, १७३, १७७, १७८, १८६, १८१, १८४, १२६, १६४
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६००)—२, १७, २४, २६ ७१, ८१
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६०३)—६५, ६८, ६६, ७८, ८४
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६०५)—१८, ५३, ८७
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६०६)—२४
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६१०)—८७, ८८, ८६
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६१७)—६५, ७२, ८१, ८७
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६२०)—८७
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६२६)—६४, ६५, ७०, ७२, ७३, ८१,
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६३०)—६४
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६८४ वि०)—५०-५२
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (१६८७ वि०)—५३
ना० प्र० सभा खोज-रिपोर्ट (२०१० वि०)—६४, ६५, ६८, ७०
निम्बादित्य दशश्लोकी—१०१
नीतिशतक—३६०
नोट्स श्रान साहित्यदर्पण—२०५, २१५, २१७, २२२, २२८, २२६, २३३, २३६, २३६, २४१
नैषधीयचरितम्—२६४, ३३८, ३४७, ३४८

प

पद्मपुराण—१००
पद्मावत—२६१
प्रदीप काव्य—२४२
प्रबोधचन्द्रोदय—८२, २६८, २६६, ३४६, ३५०, ४५१
प्रबोध रस सुधासागर—५३
प्रसन्नराघव—३२, ३८, ७१, ३१२, ३४०-३४३, ३४६, ३४८
प्रिया-प्रकाश—७७
प्रियप्रवास—३२१, ३६६
प्रेमचन्द्रिका—२४६

ब

बारहमासा—३, ६३, ६०, ३०१
बालिचरित्र—७३, ८८
बिहारी की वाग्विभूति—३५, ३६
बिहारी रत्नाकर—४६, ५०-५३, २५०, २५३
बिहारी सतसई—३६४, ३६८
बुन्देलखण्ड का इतिहास—१३, १५, ३३, ६४, ६६
बुंदेल वैभव—२१, २३, ४६, ५२, ६३

भ

भवानीविलास—२५०
भविष्यपुराण—१००
भारतीय साहित्य की रूपरेखा—६२
भावप्रकाश—३२, २४८
भावविलास—३६६, ३६७
भाषाभूषण—३६४
भ्रमरगीतसार—३६२

म

माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान—२४
मध्ययुग का इतिहास—२३
मृच्छकटिकम्—३४७
माण्डूक्योपनिषत्—११६
मिश्रबन्धु विनोद—२१, २५, २७, ४०
मुगलकालीन भारत—२३, ६५
मुन्तखिब-उल-तवारीख—२३
मूल गोसाईंचरित—१६, १६
मेघदूत—२५२
मेडीवल इण्डिया—६५
योगवाशिष्ठ भाषा—३४६

र

रतनबावनी—३, ७, १२-१५, १७, २६, ३३, ४८, ६३, ६४, ६०, ६३, ११०, २५६, २६०, २६३, ३०६, ३१०, ३१४, ३१८, ३२०
रसगंगाधर—११२, ११६, १६४, १६६-१६८, १७८, १८०, १८१, १८४, २०३-२०५, २१२, २२२, २३७-२४० २४२
रसचन्द्रिका—५०
रसतरंगिणी—१८१, २४८
रसप्रबोध—२४६
रसमंजरी—४०, १४७, २४८
रसराज—२४६, ३६५
रसललित—६३, ८६
रसविलास—२४६
रसशृंगार—२४६
रसार्णवसुधाकर—३५४
रसामृतसिन्धु—१०३
रसिकप्रिया—३-५, ७, ८, १७, २८, ३०, ३१, ३३-३५, ३७, ४०, ४६, ५७, ५८, ६१, ६३-६६, ७६, ७७, ८६, ६०, १०८, ११६, १३७, १३६ १४३-१५३, १५६, १६०, १६५, १६६, १६८-१७०, १७२, १७३, १७६-१८४, १८६-१६४, २४६-२५१, २५३-२५६, २६४-२६६, २७६, २८४, २८६, २८७, २६३, ३००, ३०१, ३१७, ३२५, ३२७, ३३०-३३२, ३५३-३५६, ३६५-३६८, ३७१, ३७४
राजस्थान (टॉड)—४८
राधाकृष्णग्रन्थावली—४६, ५०
राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य—१०२
रामचन्द्रभूषण—३६६
रामचन्द्रिका—३, ५, १०, १६, १७, २०, ३६, ३७, ५८, ५६, ६३, ६६-७१, ७७-७६, ८३, ६०, ६६, १०५-१०६, ११८-११६, १२२, १२३, १२६, १२७, १३१, १३३-१३७, २४७, २५१-२५३, २५७, २५८, २६०-२६६, २६८-२७८, २८०-२८३, २८५-२६१, २६३, २६४, २६५, २६६, ३०२-३०६, ३११-३१४, ३१७-३२२, ३२४-३२७, ३२१-३३५, ३३७-३४८, ३६१, ३६२,

३७४, ३७५
रामचरितमानस—६, १७, ७१, ८४, ११०, ३०२, ३०३, ३२२, ३६१, ३६२, ३७५
रामभक्ति प्रकाशिका—७१
रामालंकृत मंजरी—३, ६३, ८५, ८६

ल

लघु भागवतामृत—१०३, १०४
लालचन्द्रिका—५०
लोचन—दे० ध्वन्यालोक लोचन

व

वर्नियर ट्रेवल्स—९५
वल्लभ दिग्विजय—१०१, १०२
वाल्मीकि रामायण—१०८, ३३८, ३३९
विद्यापति की पदावली—२५०
विन्दभाष्य—१०३
विज्ञानगीता—३, ५, ७, १०, १२, १६, ३४, ३५, ३७, ३९, ४७, ४८, ५१, ६०, ६१, ६३, ८१-८३, ८६, ९१, ९५, १०७, १११, ११८-१३४, १३६-१३८, २४७, २६०, २७३, २७५, २९३, २९७-२९९, ३०२, ३१४, ३२८, ३३७, ३४९-३५२, ३६१, ३७४
वीरसिंहदेवचरित—३, ७, ११-१५, ३७, ४५, ४७, ५६, ५८, ६३, ६९, ७१-८१, ८३, ८४, ९१, ९३, ९४, १०६, ११०, २४७, २५९-२६१, २७३, २७४, २९३, २९६, २९७, ३०९, ३१४, ३१५, ३१८, ३२५-३२९, ३३१, ३६१, ३७४
वेदान्तसार—१२१, १२४
वैराग्यशतक—दे० देव शतक
वैष्णवधर्म का इतिहास—१००
वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स—९८, १००
वृत्तरत्नाकर—३५२

श

शिवराज भूषण—३६३, ३६४
शिवसिंह सरोज—३, १६, २५-२७, ४९, ५३, ८५, ८८
शिवाबावनी—३६४
शिशुपालवध—२९४
शृंगारतिलक—२४८
शृंगारनिर्णय—२४९
शृंगारप्रकाश—१५५, २४८
श्री चैतन्य चरितावली—१०४
श्रीमद्भगवद्गीता—८२, १२६, १३७, २९८, ३३८
श्रीमद्भागवत—८२, १००, १३४, २९७
श्रीभाष्य—९७

स

संक्षिप्त रामचन्द्रिका—२८, २९, २७२
संग्राम-सागर—५१, ५३
संगीतरत्नाकर पर भाष्य—६३, ९०
सम्प्रदायप्रदीप—१००
सरस्वतीकण्ठाभरण—१९८, २००, २४८
स्टडीज़ इन मुगल इण्डिया—९५
साकेत—३६९, ३७०
साहित्यदर्पण—११२, ११६, १४६, १४७, १४९-१५१, १५४, १५५, १६३, १६४, १६६, १६८, १६९, १७३-१७५, १८१-१८३, १८५, १९०, १९८, १९९, २०४, २०५, २०८, २०९, २१५, २२६-२२८, २३०, २३३, २३६, २३८, २४१, २४३, २९३, ३३५, ३५३, ३५४, ३७२

साहित्यसार--३६५
सुख-विलासिका—६७, ६८
सुधानिधि—२४६
सूर और उनका साहित्य--६६
सूर-सागर—२५०, ३६२

ह

हनुमन्नाटक--३२, ७१, ३३८, ३३६, ३४३-३४६
हनुमान जन्मलीला--६३, ८८
हरिप्रकाश—५०
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास--१४३-१४६, १४६, १५६, १५६
हिन्दी के कवि और काव्य—२४-२६, ३२, ५२
हिन्दी नवरत्न--२२, २५, २७, ३१, ४०, ५५, ५८, ५६
हिन्दी साहित्य (डा० श्यामसुन्दरदास)-२४, २५
हिन्दी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी) —७, १३, २६, ६६, ६७
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —२४, २६, १०२
हिन्दी साहित्य का इतिहास—२०, २५, ६६, २८२, ३३३
हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन—२३, ६२

स्थानानुक्रमणिका

अनूपशहर—६५
अयोध्या—७१, २८०, २८५
आगरा—५५, ६०, ८४
ओड़छा—८, ११, १४, १५, १७, १८, २४, २५. २६, २८, २९, ३३, ३४, ४१, ४६, ५०, ५२, ५९, ६४, ७०, ७२, ८०, ९२-९४, ९६, ११०, ३०९, ३७५
काशी—३५, ६०, ८३, १०७, २९९, ३१४
कुम्हेर—३३
कृष्णगढ़—७५
गंगा—३४, ३८, ५६, १३६
गोपाचल—९, १०
ग्वालियर—१४, ५०, ५२, ५४, ५५
चम्बल—३३, ९३
चुनार—८८
छतरपुर—८७
जहांगीरपुर—३४, ८०
जोधपुर—४८, ९२
झांसी—३९
टीकमगढ़—३३
टेहरी—२४, २६, ३३
डींग—३३
दिल्ली—१७, ९३, ९४, २९९
नर्मदा—३३
पंचवटी—२८१, २९४
प्रयाग—१०, ७७
फतहपुर—६५, ७२
फुरेरा पिछौरा—५२, ५४
बुन्देलखण्ड—२८, ३३, ५०, ५२, ७२
बेतवा—३३, ८२
मथुरा—९, ३५, ४९, ५०, ५२, ५३, ६८ ७१, ७७, २९९, ३६२
मदनसागर—३४
मारवाड़—७५
मेवाड़—९२
राजस्थान—३३
रीवा—१९
ललितपुर—६८
वाराणसी—दे० 'काशी'
वीरसागर—३३, ८२
वेतवा—दे० 'बेतवा'
व्रज—५०
वृन्दावन—१०२, १०३, १०४
सीकरी—९३
सोन—३३

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	१२	नर्कों	नरकों
३७	१३	श्रीहर्ष पंडितराज	श्रीहर्ष एवं पंडितराज
५७	टि. ४	सीम्मत तपोपदेश भुजे	सम्मित तयोपदेश युजे
१५६	७	जानता	जनता
१८२	११	भावभूतियां	भावभूमियां
१८४	टि. ४	वामन भालकीकर	वामन झलकीकर
२७७	५	विरोधास	विरोधाभास
२७६	१	कविप्रिया	रसिकप्रिया
३०६	१०	सिया	छड़ीदार
३०८	टि. २	रामचन्द्रिका	रामचन्द्रिका १३।५६
३०६	२	वीरसिंहदेवचरित	वीरसिंहदेव
३२३	२५	भाषस्य भषं	माषस्य मषं
३७१	१२	व्युपत्ति	व्युत्पत्ति
३७४	२८-२६	रामचन्द्रिका के मुक्तक कवि	रामचन्द्रिका के प्रबन्ध कवि, रसिकप्रिया-कविप्रिया के मुक्तक कवि